

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 11, अंक : 44, अक्तूबर-दिसंबर 2024

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्ताचल

लोक साहित्य विशेषांक



विद्यार्थी मंच

मूल्य: 100 रुपये

उस पार से...



आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
(19 अगस्त 1907-19 मई 1997)

“लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों या गाँवों में फैली हुई समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर के परिष्कृत रुचि-संपन्न समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं तथा परिष्कृत रुचि-संपन्न समझे जानेवाले लोगों की समूची विलासिता एवं सुकुमारता को जिलाये रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उत्पन्न करते हैं।”

- हिंदी साहित्य ज्ञानकोष, खंड-6, पृष्ठ - 3335

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष : 11, अंक : 44, अक्टूबर-दिसंबर 2024

लोक
साहित्य
विशेषांक

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
अतिथि संपादक : डॉ. पंकज साहा
प्रकाशक : विद्यार्थी मंच
प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय
कला संपादक : शुभांगता श्रीवास्तव

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

शशि मुदीराज : प्राक्तन अध्यक्ष - हैदराबाद विश्वविद्यालय
कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, बर्मिंघम, यू.के.
अमित राय : एसोसिएट प्रोफेसर, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केंद्र, कोलकाता
शशिभूषण द्विवेदी : ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के RHODES Scholar's
प्रकाश कुमार अग्रवाल : असिस्टेंट प्रो., हिंदी विभाग, खड़पुर कॉलेज, प. बंगाल
विनय कुमार मिश्र : प्राध्यापक, बंगवासी कॉलेज
चित्रा माली : प्रभारी अकादमिक निदेशक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केंद्र, कोलकाता
विजया सिंह : शिक्षिका, रानी बिड़ला गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता
विजय कु. साव (निशांत) : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
उत्सव सिन्हा : वर्चुअल प्रोडक्शन स्पेशियलिस्ट, मुंबई

व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

विवेक लाल, विनीता लाल, सरिता खोवाला, परमजीत पंडित, नगीना लाल दास एवं रुद्रकान्त झा

संपर्क एवं प्रसार :

विनोद यादव : 9007517546, पद्माकर व्यास : 9433196407
चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229
लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या (Kurtidev010) में भेजें।

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : प्राक्तन प्राध्यापक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
प्रो. मोहम्मद फरियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन
प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात
प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर - बंग विश्वविद्यालय
डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता
डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)
डॉ. शुभ्रा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदीराम बोस सेंट्रल कॉलेज, कोलकाता
डॉ. सुनील कुमार (सुमन) : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

मुक्तांचल : A/C- 50200014076551, HDFC Bank BURRABAZAR, KOLKATA-700007, IFSC CODE - HDFC0000219

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, ग्राउण्ड फ्लोर, 6/2/1, आशुतोष मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल

संपर्क करें :

डॉ. मीरा सिन्हा (संपादक) : 9831497320

सुशील कुमार पांडेय : 8820406080

कार्यालय प्रभारी :

बलराम साव : 8910783904

ई-मेल : muktanchalpatrika@gmail.com/
sinhameera48@gmail.com

मुद्रक : गाथा प्रकाशन, 6/2/1, आशुतोष मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा - 711106

पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 100 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 600 रुपये, आजीवन- 5000 रुपये

संस्थाओं के लिए : वार्षिक-600 रुपये, आजीवन-5500 रुपये

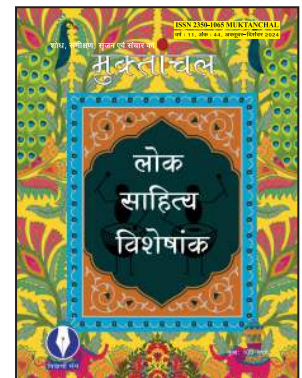
डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

अवस्थिति

शो	06	संस्तुति	
	07	संपादकीय	लोक साहित्य का लोक
ध		<u>धरोहर</u>	
	09	दिनेश्वर प्रसाद	लोक साहित्य में समानांतरता और प्रसार
स		<u>अनुशीलन</u>	
	21	धनेश दत्त पाण्डेय	लोक साहित्य में लोक जीवन एवं संस्कृति
मी	29	सेवाराम त्रिपाठी	लोक संस्कृति, मिथक एवं प्रगतिशीलता
	34	श्रीनारायण पाण्डेय	लोक साहित्य के अध्ययन की दिशा और दृष्टि
क्ष	37	जयप्रकाश मानस	लोक नाट्य : एक मौलिक लेखक की अमौलिक टिप्पणी
	41	नमिता जायसवाल	लोक साहित्य के सामाजिक सरोकार
ण		<u>विमर्श</u>	
	46	शशिभूषण द्विवेदी	लोक : यानी सृष्टि के पहरेदार का सांस्कृतिक ज्ञान कोश
सृ	49	मृत्युंजय श्रीवास्तव	लोक और नागर समाज एकमेव हो रहे हैं
	52	ऋषि भूषण चौबे	लोक विमर्श के अंतर्विरोध
ज		<u>आलेख</u>	
	58	शिवनाथ पाण्डेय	भोजपुरी लोकगीतों में गारी
न	63	वीरेन्द्र परमार	नागालैंड का लोक साहित्य
	68	भगवती प्रसाद द्विवेदी	भोजपुरी लोक कथा : भारतीय लोक संस्कृति की जीवंत थाती
सं	74	अमरेन्द्र	अंगिका लोकनाट्य
	80	गीता दूबे	अवधी लोक गीतों में स्त्री पक्ष
चा	89	कल्पना दीक्षित	अवधी लोक गीतों का संक्षिप्त अवलोकन
	94	के. बी. एल. पाण्डेय	बुंदेलखण्ड के लोकाख्यानों के सामाजिक अभिप्राय
र			

अवस्थिति

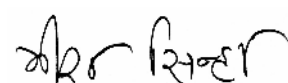
शोध	98 प्रमोद कुमार प्रसाद 103 रंजना शर्मा	भोजपुरी लोक गीतों में स्त्री संवेदना के स्वर भोजपुरी लोककथा : सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ
	111 राजीव रंजन प्रसाद	अरुणाचल प्रदेश का न्यीशी-समाज और न्यीशी लोक-साहित्य
समीक्षण	121 हरभजन सिंह मेहरोत्रा	संबंधों की उष्णता और भावनाओं का सैलाब है लोहड़ी
	123 रंजन कुमार दास 127 पंकज साहा	ओड़िआ लोक संस्कृति एवं लोक साहित्य पश्चिम बंगाल की लोककथाओं में प्रतिवादी स्वर
सृजन	<u>शोधार्थी की कलम से</u>	
	121 परमजीत कुमार पंडित 138 निधी कुमारी सिंह 141 विवेक तिवारी	लोक साहित्य का भाषिक सौंदर्य लोक साहित्य का सामाजिक संदर्भ लोक साहित्य में लोक गीतों के माध्यम से दिखती है भारतीय संस्कृति
संज्ञान	<u>लोककथा</u>	
	145 पश्चिम बंगाल की लोककथा 146 ओड़िशा की लोककथा 146 झारखंड की लोककथा	बुढ़िया और चोर टूटा अहंकार छऊ नृत्य
संचार	<u>पुस्तकायन</u>	
	147 रितु होता	अँजोर : एकान्त श्रीवास्तव की छत्तीसगढ़ी कविताएँ
	<u>अभिमत</u>	
	151 धूपनाथ प्रसाद 151 कौशल किशोर 151 सेराज खान बातिश	
	<u>गतिविधियाँ</u>	
	<u>श्रद्धांजलि</u>	
	<u>परिशिष्ट</u>	



आवरण : सुरभि साहा

‘जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक’ प्रसाद की इस पंक्ति में लोक की बात की गई है जो आलोक से भरा हुआ है, लेकिन इस आलोक की अगुवाई के लिए अपना जगा होना भी अत्यन्त मायने रखता है। सिर्फ अपने घर में चिराग जला लेने से बात नहीं बनती बल्कि अपने से इतर एक जगत से हम जुड़े होते हैं जो बहुत व्यापक है और समय के समानान्तर बदलता भी रहता है। अक्सर हमारी समझ पुरातनता और रूढ़ियों को लोक के रूप में स्वीकार कर लेती है और हम कहीं ठहर जाते हैं; लोक की गत्यात्मकता को मूल शास्त्र की स्थिरता की कवायद करने लगते हैं और उसे परंपरा का नाम दे देते हैं। परंपरा का निरंतर मार्जन-परिमार्जन होता रहता है और वह अपने में गतिशील होती है अतीत से वर्तमान तक और भविष्य की तरफ उन्मुख स्वचालित या परिचालित जीवित रहती है। प्रथाएँ जिन्हें हम आँख मूँदकर परंपरा के नाम पर ढोते रहते हैं, वे कालांतर में क्षेत्र, भाषा, समूह आदि में बँटने लगते हैं। विविध सम्प्रदायों में विभक्त हमारा लोक एक ऐसे अंधकार को निर्मित करता है जो मनुष्य-मनुष्य में विभेद की सृष्टि करता है और मनुष्यता कमजोर होती जाती है। हिंसा, घृणा और आक्रामकता लोक को प्रदूषित करती रहती है। आज जगत के पटल पर हिंसा एवं आक्रामकता इतनी अधिक बढ़ गई है कि लोक में आलोक को समज्जित करने की आवश्यकता अनिवार्य होती जा रही है। साहित्य समाज का दर्पण है। वर्तमान साहित्य में लोक जिस रूप में बिंबित होगा वह मनुष्य की मनुष्यता को प्रभावित करेगा। हमें लोक साहित्य के सकारात्मक पक्ष को उजागर करना चाहिए।

प्रस्तुत अंक लोक-साहित्य पर रोशनी डाल रहा है। इसके अतिथि संपादक सुप्रसिद्ध कथाकार एवं आलोचक डॉ. पंकज साहा हैं। उन्होंने बड़े सूझ-बूझ एवं मनोयोग से इस अंक का संपादन संपन्न किया है। मैं ‘मुक्तांचल-44’ अंक को एक अकादमिक उपलब्धि के रूप में आपके समक्ष संस्तुत कर रही हूँ, आशा है आप इस अंक पर अपना अभिमत अवश्य प्रेषित करेंगे।


संपादक

लोक साहित्य का लोक

लोक साहित्य का अर्थ है- ‘लोक’ अर्थात् जन का साहित्य। यह जन का जन के लिए जन द्वारा रचित साहित्य होता है। लेकिन यह ‘जन’ न तो आदिम जन है और न प्रगतिशील साहित्य का जन। श्री रामनारायण उपाध्याय के अनुसार, “‘लोक साहित्य’ आदिम साहित्य की अपेक्षा अधिक विकसित समाज-व्यवस्था की उपज है और ‘जन साहित्य’ औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न समाज-व्यवस्था में जनभागीदारी का साहित्य है।”

लोक साहित्य में लोक का मन ही नहीं, जीवन और संस्कृति भी अनुस्यूत होता है। यह किसी संप्रदाय या समूह का अलिखित साहित्य होता है। नगरीय जीवन और संस्कृति से अलग ग्रामीण समाज में लोक-प्रसिद्ध रचना, जो लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, लोक नाट्य, लोकोक्ति आदि के आधार पर लोक-चेतना में सुरक्षित रहकर समय-समय पर लोक द्वारा गाया, कहा या अभिनीत किया जाता है, लोक साहित्य कहलाता है।

लोक साहित्य की परंपरा प्रत्येक देश में पायी जाती है। लोक साहित्य द्वारा देश एवं उसके समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों का पता चलता है। इसीलिए लोक साहित्य को लोक-जीवन एवं लोक-संस्कृति का आईना कहा जाता है। किसी भी समाज की मान्यताओं, रीति-रिवाजों, त्योहारों, जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कारों, आशा-आकांक्षाओं, विश्वासों-अंधविश्वासों, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि को लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोककथाओं, लोकनाट्यों, लोकोक्तियों, मुहावरों आदि के आईने में देखा जा सकता है और उनमें निहित प्रतिवाद के स्वरों को सुना जा सकता है। प्रतिवाद का अर्थ विरुद्धवाद। यह प्रतिवाद सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सत्ताओं के विरुद्ध है। प्रतिवाद के स्वर कहीं प्रत्यक्ष हैं, कहीं अप्रत्यक्ष, कहीं मद्धिम, कहीं करुण और कहीं व्यंग्यात्मक हैं। इसीलिए समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से लोक साहित्य का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। किसी भी साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का अर्थ होता है उसमें अभिव्यक्त सामाजिक घटनाओं एवं मान्यताओं का सम्यक विश्लेषण करना। उनमें प्रमुखतः उस समाज की संस्कृति, सभ्यता, भाषा, शिक्षा, कला, जाति, गोत्र, विवाह, परिवार, समूह, समिति, संस्था, प्रथा, रूढ़ि, धर्म, संप्रदाय, लोकविश्वास, दर्शन, राजनीति, अर्थनीति आदि का अध्ययन किया जाता है। इनके माध्यम से ही सामाजिक मनुष्यों की आभ्यंतरिक एवं बाह्य क्रियाएँ प्रकट होती हैं। लोक साहित्य में अभिव्यक्त घटनाओं, सूचनाओं एवं प्रथाओं के अध्ययन द्वारा समाजशास्त्री समाज की सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक विशेषताओं का उद्घाटन करता है। लोक साहित्य में समाज-विज्ञान के महत्वपूर्ण तथ्य तो मिलते ही हैं, इतिहास, भूगोल, चिकित्सा-विज्ञान, मौसम-विज्ञान और भाषा-विज्ञान के लिए भी जरूरी सूचनाएँ मिल जाती हैं।

किसी भी देश के लोक-जीवन में लोक-कथाओं का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। एकबार एक माता-पिता अपने बेटे को सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन के पास लेकर गये और बोले, “हम अपने पुत्र को आपके समान बुद्धिमान एवं उत्तरदायित्वपूर्ण आदमी बनाना चाहते हैं। हमें इसके गुर बताइए।” आइंस्टीन ने तुरंत कहा, “इसे लोककथाएँ सुनाइये।” माता-पिता ने कहा, “अगर हम इसे आपसे भी ज्यादा बुद्धिमान बनाना चाहें तो?”

॥ संपादकीय ॥

आइंस्टीन ने कहा, “इसे और अधिक लोककथाएँ सुनाइये।” आइंस्टीन के जवाब से स्पष्ट है कि व्यक्ति के निर्माण में, उसके व्यक्तित्व को निखारने में, उसे प्रतिभाशाली बनाने में लोककथाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

लोक साहित्य में तंत्र-मंत्र, टोना-टोटका भी होता है, परंतु वास्तव में प्रत्येक जाति लोकगीतों, लोककथाओं, लोकनाट्यों, लोकोक्तियों आदि के द्वारा अपनी जीवन-पद्धति, ज्ञान, अनुभव, अनुभूति आदि आनेवाली पीढ़ी को लोहे के रूप में सौंपती है, जिसे नयी पीढ़ी अपनी धार देकर फिर आनेवाली पीढ़ी को सौंप देती है। और यह क्रम चलता रहता है। इस तरह अतीत को वर्तमान से जोड़कर उसमें परस्पर समन्वय स्थापित करना लोक साहित्य की अतिरिक्त विशेषता है। इसीलिए आज लोक साहित्य लोककंठ से निकल कर व्यापक अध्ययन एवं विमर्श का रूप ले चुका है।

हिंदी साहित्य में आदिकाल से आजतक लोकतत्व को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। आदिकालीन सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य, रासो साहित्य में लोक तत्व तो निर्विवाद रूप से हैं ही, स्वच्छंद रूप में कुछ लौकिक साहित्य भी लिखे गये हैं, जिनमें ढोला-मारू रा दूहा, वसंत विलास, खुसरो की पहेलियाँ उल्लेखनीय हैं। मैथिल कोकिल विद्यापति का गीत ‘पिया मोर बालक हम तरुणी, कोन तप चूकलहूँ भेलहूँ जननी...’ बेमेल विवाह की विद्रूपताओं को तत्कालीन सामाजिक विडंबनाओं के साथ उजागर करता है। इस गीत में विद्यापति ने लोक-पीड़ा को अपनी वाणी दी है। सिर्फ बेमेल विवाह की पीड़ा ही नहीं, नारियों की समस्त प्रकार की पीड़ाएँ हर भाषा/ बोली के लोकगीतों, लोककथाओं, लोकोक्तियों आदि में अभिव्यक्त हुई हैं।

कबीरदास ने लोकमत की अवहेलना नहीं की और तुलसीदास ने भी लोकमत को महत्व दिया। आधुनिक काल में छायावादी, प्रगतिवादी एवं अन्य अनेक कवियों ने लोक तत्वों को ग्रहण कर अपने काव्य-शिल्प को सँवारा है। गद्य साहित्य में भारतेन्दु ने अपने नाटक ‘विषस्य विषमौषधम्’ एवं ‘अंधेर नगरी’ का नाम प्रसिद्ध लोकोक्तियों के आधार पर ही रखा था। प्रेमचंद, निराला, नागार्जुन, रेणु, शिवप्रसाद सिंह, चंद्रकिशोर जायसवाल, कृष्णा सोबती, मैत्रयी पुष्पा एवं अन्य अनेक लेखक/लेखिकाओं की रचनाओं में लोक तत्वों को देखा जा सकता है।

आज के दौर में शास्त्रज्ञ एवं लोकज्ञ दोनों का होना आवश्यक है। लोक-वार्ता विज्ञान के विशेषज्ञ डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा की मानें तो लोकज्ञ बनना शास्त्रज्ञ होने की अपेक्षा अधिक कठिन काम है। मैं तो दोनों में अज्ञ हूँ। जब ‘मुक्तांचल’ की विदुषी संपादक दीदी तुल्य आदरणीया डॉ. मीरा सिन्हा ने लोक साहित्य विशेषांक हेतु अतिथि संपादक का भार लेने को कहा, तो मैंने यह सोचकर स्वीकार कर लिया कि इसके कारण कुछ नया जान पाऊँगा। ऐसा हुआ भी। अनेक विद्वान लेखक/लेखिकाओं के लेखों से ज्ञान-समृद्ध हुआ। इसके लिए मैं मीरा दी की कृतज्ञ हूँ। हमारे आग्रह पर जिन विद्वान लेखक/लेखिकाओं ने रचनात्मक सहयोग दिया, उनके प्रति भी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ। इसके साथ ही मैं आशा करता हूँ कि लोक साहित्य के अध्येताओं, शोधार्थियों के लिए ‘मुक्तांचल’ यह विशेषांक अत्यंत उपयोगी होगा।

पंकज साहा
(अतिथि संपादक)

लोक साहित्य में समानान्तरता और प्रसार

- डॉ. दिनेश्वर प्रसाद

विभिन्न देशों के लोकसाहित्य में सामग्री और शिल्प, दोनों धरातलों पर अनेक वैसी समानताएँ मिलती हैं जो अपना सन्तोषजनक समाधान चाहती हैं। मुख्यरूप से लोककथाओं के क्षेत्र में उद्घाटित होनेवाली समस्याएँ अब भी निःशेष नहीं हुई हैं। इस आधार पर यह धारणा स्वाभाविक है कि लोकसाहित्य का बहुत बड़ा भाग जितना प्रादेशिक है, उससे अधिक राष्ट्रीय है और जितना राष्ट्रीय है, उससे अधिक अंतर्राष्ट्रीय। वह समस्त मानवजाति की समान विरासतों में है और उसकी भावगत एकता का महत्वपूर्ण सूत्र भी एक है। इस धारणा को पुष्ट करनेवाली ये कथाएँ और कथानक रूढ़ियाँ हैं जो दोनों गोलार्धों में व्याप्त हैं। उदाहरणार्थ, एक कथा में शत्रु द्वारा पीछा किए जाने पर नायक मार्ग में एक पत्थर, एक कंघी और एक बर्तन तेल या अन्य कोई तरल पदार्थ फेंकता है। पत्थर पहाड़ बन जाता है। कंघी जंगल या दुर्लघ्य झाड़ी बन जाती है और तेल नदी, तालाब या समुद्र। इन व्यवधानों के कारण शत्रु उसे नहीं पकड़ पाता और वह सकुशल भाग निकलता है। यह कथा एशिया से लेकर यूरोप के अतलांतिक सीमावर्ती प्रदेशों और ग्रीनलैंड से लेकर उत्तर और दक्षिण अमेरिका तक फैली हुई है। इसमें प्रमुख पात्रों के लिंग, जाति और संख्या तथा व्यवधान रूप में फेंकी गई वस्तुओं की सूची में भेद मिलता है किन्तु कहानी के मूल ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं होता।

इसी प्रकार सिंड्रेला, आपाद्ग्रस्त हिंस्र पशु और उसका उद्धारक और हंसकन्या की कथाएँ व्यापक रूप में फैली हुई हैं। अब तक अनुसंधानों के अनुसार सिंड्रेला की कहानी एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अलास्का और दक्षिण अमेरिका में प्रचलित है। इसका प्राचीनतम लिखित रूप नवीं सदी का है जो चीनी भाषा में मिलता है।¹ अकेले यूरोप में इसके पाँच सौ रूपान्तर मिलते हैं। मेरियन काक्स ने 1862 ईसवी में उस समय तक

प्राप्त सभी रूपान्तरों का एक संकलन प्रकाशित किया था। आपद्ग्रस्त हिंस्र पशु और उसके उद्धारक के प्रायः सौ रूपान्तरों का विवेचन काले क्रोन के “मान उण्ड फुक्स” (मनुष्य और लोमड़ी : 1891) का विषय है। यह कहानी भागवतपुराण और गुलबकावली में मिलती है।² इसके एक रूपान्तर का उल्लेख टेम्पल की “वाईड अवेक स्टोरीज” (116-20) में सुलभ है। संक्षेप में कहानी इस प्रकार है:- एक बाघ लोहे के पिंजरे में फँस जाता है। संयोगवश एक निर्धन ब्राह्मण उसके पास से गुजरता है। बाघ ब्राह्मण से अनुरोध करता है कि तुम मुझे मुक्त कर दो, मैं इसके लिए आजीवन आभारी रहूँगा। उसकी दशा पर तरस खाकर ब्राह्मण पिंजरे का द्वार खोल देता है, किन्तु मुक्त होते ही बाघ उसपर टूट पड़ता है। ब्राह्मण बड़ी कठिनाई से उसे तब तक रुकने के लिए राजी कर लेता है जब तक तीन पंच इस बात का निर्णय न कर दें कि जो कुछ वह कर रहा है, वह उचित है या अनुचित है। ब्राह्मण सबसे पहले पंच पीपल से इसका निर्णय करने का अनुरोध करता है। पीपल बाघ का समर्थन करता है, क्योंकि वह भी ब्राह्मण की तरह ही लोगों को आश्रय देता है और बदले में वे उसकी डालें काटते और उसको बर्बाद करते रहते हैं। निराश होकर वह भैंसे के पास जाता है और फिर मार्ग के पास। दोनों ही कहते हैं कि बाघ का आचरण एकदम उचित है। वह हताश भाव से यह सोचकर लौटने लगता है कि अब बाघ का आहार बनने के सिवा उसके लिए और कोई दूसरा विकल्प शेष नहीं है। तभी उसकी भेंट एक गीदड़ से होती है, जो उसकी कहानी सुनकर भी उसे नहीं समझ पाने का बहाना करता है। दोनों बाघ के पास जाते हैं। गीदड़ बाघ से यह प्रार्थना करता है कि आप मेरे सामने सभी बातें स्पष्ट कर दें, मुझे यह विश्वास करने में कठिनाई हो रही है कि आप लोहे के पिंजरे में फँस गए होंगे। उसकी मूर्खता पर खीझ कर

बाघ पिंजरे में घुस जाता है और कहना है- “मैं इस तरह फँसा था। अब तो तुम समझ गए होंगे?” गीदड़ पिंजरे का दरवाजा बंद कर देता है और यह बोलता है- “हाँ, अच्छी तरह समझ गया। अब बात फिर वहीं पहुँच गई है, जहाँ से कि वह शुरू हुई थी।”

संताली क्षेत्र में इस कहानी के प्रमुख पात्र हैं- चट्टान के नीचे दबा हुआ बाघ और चरवाहा। इसमें जिन तीन पंचों का उल्लेख किया जाता है वे हैं आम का पेड़, तालाब और बंदर। दो पंच बाघ का समर्थन करते हैं, लेकिन तीसरा पंच (बंदर) यह कहता है- “मैं जरा बहरा हूँ, जरा मेरे पास ऊपर आकर मुझे साफ़-साफ़ समझाओ।” चरवाहा पेड़ पर चढ़कर उसके पास पहुँचता है तो बंदर यह कहता है- “मूर्ख, क्या कर रहे हो, तुमको यह नहीं दिखाई पड़ रहा है कि तुम अब सुरक्षित हो गए हो और बाघ तुम्हें नहीं पकड़ सकता? सहायता के लिए हल्ला करो।” उसका शोर सुनकर गाँव के लोग दौड़कर आ जाते हैं और बाघ को खदेड़ देते हैं।

इस कहानी का मुण्डारी रूपान्तर श्री जगदीश त्रिगुणायत की “मुण्डा लोक कथाएँ” (1968) में “कूला लोओ दापारोम” (एक आदमी और बाघ : 486-500) नाम से विद्यमान है। यह पेड़ के नीचे गड्ढे में धँस गए बाघ और उसे मुक्त करने वाले किसान की कहानी है। इसके पंच हैं- पत्तल, पेड़ और सियार। सियार सबकुछ अपनी आँखों से देखकर ही फ़ैसला करना चाहता है और ज्यों ही बाघ गड्ढे में धँसता है, वह उसे नोच-नोच कर खा जाता है।

अपने चीनी रूपान्तर में यह कहानी, जो प्राप्त रूपान्तरों में सबसे विस्तृत है, अहिंसा पर व्यंग्य करनेवाली कथा बन जाती है। 1960 में चीनी अखबारों ने सह-अस्तित्व सिद्धांत के खोखलेपन के प्रमाण रूप में कई बार इसका हवाला दिया था। इसके प्रमुख पात्र हैं- भेड़िया और तुड़कुओं नामक मोत्सो (मोत्से का अनुयायी अर्थात् अहिंसावादी)। तुड़कुओं शिकारियों के दल से प्राण-रक्षा के लिए आए हुए भेड़िए को अपने थैले में बंद कर देता है। शिकारियों के आगे बढ़ जाने के बाद भेड़िया थैले से बाहर निकलना चाहता है और

बाहर होते ही यह कहता है- “बंधु, तुम अहिंसावादी हो। लोक कल्याण ही तुम्हारा धर्म है। मुझ भूखे का आहार बनकर तुम्हें बहुत प्रसन्नता होगी।” तुड़कुओं घबरा जाता है और भेड़िए को समझाने की कोशिश करता है। लेकिन भेड़िया उसके विचारों से सहमत नहीं हो पाता है और उस पर यह आरोप लगाता है कि तुमने मुझे थैले में बंदकर यंत्रणा दी है। तुड़कुओं इस आरोप का निर्णय करने के लिए तीन पंचों के पास जाता है और पहले दो पंच (सूखा पेड़ और भैंस) भेड़िए के आरोप से सहमति व्यक्त करते हैं, लेकिन तीसरा पंच (बूढ़ा आदमी) इस बात की परीक्षा करना चाहता है कि भेड़िए को थैले में कष्ट हुआ था या नहीं। ज्यों ही भेड़िया अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए थैले में प्रवेश करता है, त्यों ही वह थैले का मुँह बंद कर देता है और तुड़कुओं से यह कहता है- “निकालो छुरा और शत्रु का काम तमाम कर दो। या तो इसे मार दो या इसके हाथों मारे जाओ। अव्यवहारिक नैतिकता से काम नहीं चलेगा।”

यूरोप में इसके प्राचीनतम लिखित रूप पेन्नुस अलफ़ोन्सी (12वीं सदी) और जेबुला एक्सत्रावागान्तेस (13वीं-14वीं सदी) में मिलते हैं। इसके मिस्री और बर्मी रूपान्तरों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें तीन पंचों के बदले केवल एक पंच का उल्लेख है।

लोक कथाओं से कहीं अधिक समानता कथानक-रूढ़ियों के प्रसंग में दिखाई पड़ती है। कथासरित्सागर में एक व्यक्ति उस भाण्ड से, जिसमें संन्यासी-पुत्र को रांधा गया है, चावल के दो दानें खा जाता है। इसके बाद वह थूकता है तो उसका थूक सोना हो जाता है। यह रूढ़ि अन्यत्र भी मिलती है। एक स्वीडिश कहानी की नायिका के मुँह से सोने की अँगूठियाँ गिरती हैं और एक नार्वेजी प्रतिरूप के मुँह से सोने के सिक्के। फ़िनलैंड की एक कथा का नायक पक्षीविशेष को खा जाने के बाद सोना उगलता है। मुँह से सोना, हीरा या मोती झरने की यह रूढ़ि अमेरिका में भी प्रचलित है। इसका प्रयोग मुख्यतः उन धूर्त कथाओं में मिलता है, जिनमें पत्नी की प्राप्ति के लिए धूर्त हीरा या सोना थूकने का वादा करता है। अन्य रूढ़ियों में सर्प या

गौरै की मस्तक मीणा, अभिशप्त व्यक्ति का पत्थर, वृक्ष, पशु या पक्षी में परिवर्तित हो जाना, जादू की टोपी या पोशाक पहनकर अदृश्य हो जाना आदि हैं जो विभिन्न क्षेत्रों- मुख्यतः यूरेशिया भूखण्ड में व्याप्त हैं।

इन समानताओं की ओर सबसे पहले टायलर, लैंग आदि सांस्कृतिक विकासवादियों का ध्यान गया और उन्होंने जिस आधार पर इसकी व्याख्या की, वह समानांतरवाद नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने यह कहा कि मानव संस्कृति में बहुत सी बातें समानांतर रूप में विकसित होती रही हैं। इसका कारण वह सार्वभौम मानव प्रकृति है जो देश और काल की सीमाओं में नहीं बाँधी जा सकती है और इसीलिए जो इस प्रकार की सभी समानताओं के समाधान का सबसे संगत आधार है। मनोवैज्ञानिक एकता की इस धारणा का स्वाभाविक अनुलोम निष्कर्ष यह है कि समान सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में परिवेश के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया समान होती है। एक विशेष सांस्कृतिक स्तर पर अवस्थित सभी जातियों ने इन प्रश्नों पर विचार किया है कि दिन में सूर्य क्यों दिखाई देता है, दिन में तारे क्यों नहीं दिखाई देते हैं? चन्द्रमा क्यों घटता-बढ़ता रहता है? पृथ्वी और आकाश कैसे अलग हो गए, इत्यादि और उन्होंने कथाओं के माध्यम से इसका समाधान प्रस्तुत किया है। बहुत सम्भव है कि इस प्रकार की कथाओं में कहीं-कहीं समानता दिखाई पड़ जाए। उदाहरणार्थ, चन्द्रमा की सतह पर दिखाई पड़नेवाले चिह्न को भारत में खरहे का निशान माना जाता है। श्रीलंका में यह कथा प्रसिद्ध है कि बोधिसत्व ने अपने लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले खरहे को पुनर्जीवित कर चन्द्रमा पर भेज दिया है। एक पुरानी मैक्सिकी कथा के अनुसार चन्द्रमा पहले सूर्य की तरह ही चमकदार और गर्म था। उस प्रकाश को मंद करने के लिए एक खरहा आकाश की ओर भेजा गया और वह आज भी वहीं रह रहा है। जहाँ भारत और श्रीलंका की चन्द्रमा सम्बन्धी धारणाओं में पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है (श्रीलंका की यह धारणा “संसजातक” पर आधारित है भी), वहाँ मैक्सिकी धारणा पर भारतीय प्रभाव का अनुमान विशुद्ध कल्पना

है। इस प्रकार प्राकृतिक पदार्थों का दैवीकरण, नरबलि, गोत्र प्रतीक आदि असंख्य धारणाएँ और प्रथाएँ इन जातियों में भी प्रचलित हैं जो भौगोलिक दृष्टि से असम्बद्ध हैं, किन्तु जो समान सामाजिक-आर्थिक स्थितियों से गुजरी हैं या गुजर रही हैं। यह भी उल्लेख है कि जहाँ गैर आदिम संस्कृतियों में ये धारणाएँ और विश्वास लोककहानियों या प्रथाओं में अवशेष रूप में रह गए हैं, वहाँ आदिम संस्कृतियों में उनकी भूमिका जीवन्त जीवन मूल्यों की है।

किंतु लोकसाहित्य की समानताओं की व्याख्या के संगत दृष्टिकोण के रूप में समानान्तरवाद की स्वीकृति अल्पकालिक रही। सांस्कृतिक सामग्री के अध्ययन ने इसे इतना संदिग्ध बना दिया कि बहुत दिनों तक प्रगतिशील या आधुनिक समझे जाने वाले विचारकों के बीच इसका उल्लेख निषिद्ध जैसा हो गया। इसके विकल्प रूप में जिस प्रसारवाद की प्रस्तावना हुई, वह एकदम अपरिचित धारणा नहीं थी। स्वयं समानान्तरवादियों को मनोवैज्ञानिक एकता का दर्शन सर्वत्र उपयोज्य प्रतीत हुआ हो, यह नहीं कहा जा सकता। ऐण्ड्रियु लैंग ने मेरियन बॉक्स की ‘सिन्ड्रेला’ की भूमिका में यह तो लिख दिया है कि लोककहानियाँ बहुत प्राचीन हैं और उस मनोदशा की उपज हैं जिसमें पिछड़ी जातियाँ अवस्थित हैं या थीं किंतु उसने यह भी स्वीकार किया कि सुकल्पित कहानियाँ कई रूपों में ‘प्रसारित या प्रेषित’ (XIV) हो सकती हैं। स्वयं सांस्कृतिक विकासवाद स्थापक टायलर ने अपनी परवर्ती रचनाओं में मनोवैज्ञानिक एकता के इस दर्शन को संशोधित कर लिया। उसने अपने एक निबंध (आर.आई.ए. जर्न : 1876-126) में मैक्सिको में प्रचलित पटोली खेल को एशियाई मूल से उत्पन्न माना। यह खेल भारत में पचीसी, कोरिया में न्यूत और मिस्र में ताब कहा जाता है। विभिन्न प्रदेशों में प्राप्त इसकी विवरणगत समानता के आधार पर उसने यह कहा कि पटोली को स्वतंत्र आविष्कार के रूप में देखना असंगत है। यह कोलम्बस से पूर्व, पूर्व एशिया और अमेरिका के बीच आवागमन का एक प्रमाण है।

प्रसारवाद की मूल धारणा यह है कि सांस्कृतिक

समानताओं का मुख्य कारण केन्द्र-विशेष से प्रथाओं आदि का प्रसार है। एक जाति की परम्पराएँ और संस्थाएँ कालान्तर में उसकी समीपवर्ती अनेक जातियों की समान विरासत बन जाती हैं। न केवल भौतिक उपकरण, वरन गीत, कथा आदि मौखिक वस्तुएँ भी इसी रूप में प्रसार पाती रही हैं। बहुत पहले यह प्रमाणित हो चुका है कि आस्ट्रेलिया में एक जाति दूसरी जातियों की वैसी कोरोबोरियों (गीतों) को भी कंठाग्र कर लेती है, जो उसकी भाषा से नितान्त भिन्न भाषा की होती है और जिनका एक शब्द भी श्रोताओं और अनुष्ठानकर्ताओं की समझ में नहीं आता। (डब्ल्यू ई रॉथ : 1897-117) उत्तर अमेरिका के विनबैगो अपने जादू नृत्य में साउक गीत गाते हैं। वहाँ न केवल गीत, वरन उनकी गायन-पद्धति भी उनके गीतों के साथ ही प्रसार पाती रही है। प्रतिवेशी संस्कृतियों का जीवित समकालीन संदर्भ में प्रसार का न तो निर्देश कठिन है और न उन्हें ऐसे उदाहरणों के रूप में स्वीकार कराने में कोई बड़ी असुविधा हुई। किंतु प्रसारवाद यहीं तक सीमित नहीं है। उसकी केंद्रीय स्थापना यह है कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं और उपकरणों का प्रसार होता रहा है। इससे उत्पन्न समानताएँ न केवल उन जातियों में मिलती हैं जो भौगोलिक दृष्टि से समीपवर्ती हैं, वरन उनमें भी जो भौगोलिक दृष्टि से असम्बद्ध हैं, किन्तु जिनके बीच आवागमन की सुविधाएँ (या सम्भावनाएँ) विद्यमान हैं। यह सच है कि आज जिस तरह नवीनतन वैज्ञानिक सिद्धांत और उपकरण कुछ महीनों या दिनों में विश्व व्यापी हो जाते हैं, उस तरह की सुविधा पूर्व युगों में विश्वासों, अनुष्ठानों या कहानियों को सुलभ नहीं थीं। लेकिन, पिछले इतिहास का आदमी आवागमन के वर्तमान साधनों की प्रतीक्षा में बैठा नहीं रहा है। वह हर युग में अपने लिए सुलभ साधनों का सफलतम उपयोग करता रहा है। दूरवर्ती प्रसार के दृष्टिकोण से बहुत शिथिल साधनों के युगों में भी सांस्कृतिक-सामग्री विशेष अपनी उद्भावक जाति तक ही सीमित नहीं रही है, वरन अपनी पार्श्ववर्ती जाति द्वारा गृहीत हो जाने पर धीरे-धीरे ज्ञात से

अज्ञात भौगोलिक क्षेत्रों में प्रवेश करती गई है। द्वादश राशियों के द्वादश प्रतीकों से युक्त अँगूठियों का चलन टोगो (पश्चिम अफ्रीका) के नीग्रो लोगों के बीच है। वे उन प्रतीकों का न तो अर्थ ही जानते हैं और न इतिहास ही लेकिन उनकी परीक्षा करनेवाला हर व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है कि वे वास्तविक राशि प्रतीक हैं।

लोकसाहित्य में प्रसारवाद का पहला प्रस्तावक संभवतः थियोडोर बेनफे है जिसने अपने पंचतंत्र के अनुवाद की भूमिका (1859) में कहा कि यूरेशिया की समस्त कथाएँ एक ही प्रसार-केन्द्र से चारों ओर फैली हैं और वह केन्द्र भारत है। यह बात उसने आज की विकसित अध्ययन विधि के आधार पर नहीं, वरन ज्ञान सामग्री की तुलना के आधार पर कही, किन्तु यह पर्याप्त विचारोत्तेजक सिद्ध हुई। इसे जिनता प्रबल समर्थन मिला उतना ही तीव्र विरोध भी। किन्तु इसके समर्थकों ने भी इसकी अतिवादिता का अनुभव किया है और अपने कार्य के आधार पर बेनफे के “समस्त” विशेषण को संशोधित कर “अधिकांश” कर दिया। लेकिन यह संशोधित स्थिति कुछ दशक बाद स्वीकृत हुई। कोस्के की एत्यूद फ़ोकलोरिक और लें कॉतेज एंदि एल ऑक्सिदिंग का प्रतिपाद्य यही है कि सभी यूरोपीय कथाएँ भारत की देन हैं। इसके विपरीत एक दूसरे प्रसारवादी जैकब्स (इंडियन फ़ेयरी टेल्स : 1892) की मान्यता यह है कि तीस से पचास प्रतिशत यूरोपीय कहानियाँ ही भारत से आई हैं। वह यह कहता है कि परीकथाओं के मूल के सम्बन्ध में कोई निश्चितमत व्यक्त कर पाना कठिन है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि यूरोप की “सभी पशुकथाएँ और अधिकांश क्रमसंवृद्ध कथाएँ (पृष्ठ 235) भारत से आई हुई हैं।” कोस्कों और जैकब्स के विपरीत कुछ विद्वानों ने भारत से भिन्न प्रसार केंद्रों की कल्पना की और भारतीय लोककथाओं को ही मिस्र, यूरोप और मध्य एशिया से आगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। स्वाभाविक है कि समानान्तरवादियों ने प्रसार-केंद्र की कल्पना मात्र को असंगत बतलाया। उनके प्रवक्ता एंड लैंग ने यह माना कि सभी लोककहानियाँ विभिन्न देशों में स्वतंत्र रूप

में आविष्कृत हुई हैं। उनमें मिलनेवाला सादृश्य मात्र सांयोगिक है, क्योंकि उनकी रचना व्यक्ति ने नहीं, वह किसी अव्याख्येय रूप में पूरे लोक ने की है।

आज लोककथाओं के स्वतंत्र आविष्कार और सामूहिक रचना के तर्क विश्वास्य नहीं रह गए हैं। वस्तुतः जिन लोककथाओं, लोकगीतों, कहावतों या पहेलियों में केवल भाव या धारणागत साम्य है, वे स्वतंत्र आविष्कार हैं, किन्तु जिनमें भाव या धारणागत साम्य के साथ विवरणगत साम्य विद्यमान है, उन्हें अलग-अलग क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप में आविष्कृत मानना असंगत है। वे व्यक्ति विशेष की रचना हैं और अपने रचना क्षेत्र से अन्यत्र फ़ैली हैं। घटनाओं की एक कलात्मक सरणि, चाहे वह विशेष शब्दों का क्रमविधान हो या विशेष पात्रों और उन कृत्यों का निश्चित व्यवस्थापन, किसी व्यक्ति की ही सृष्टि हो सकती है। लोकसाहित्य की रचना-प्रक्रिया, अपने मूल रूप में शिष्ट साहित्य की रचना-प्रक्रिया से भिन्न नहीं है। लोकसाहित्य संदर्भ में भी यह स्वीकृति अपेक्षित है कि शिष्ट साहित्य की कृति की तरह इसकी प्रत्येक कृति किसी विशेष द्वारा किसी विशेष काल और किसी विशेष क्षेत्र में रची गई है।

इसका अर्थ कृति विशेष के संदर्भ में समुदाय की भूमिका को नकारना नहीं है। रचनाकार से पृथक होकर, लोक में प्रवेश पाने के बाद, कोई भी कृति यथावत नहीं रह जाती। वह पुनर्रचना और नवीकरण की उस अंतहीन प्रक्रिया से गुजरने लगती है, जिसके कारण ही लोकसाहित्य शिष्ट साहित्य से भिन्न हो जाता है। यदि कोई कहानी या गीत सदियों तक जीवित रह जाता है तो मूलतः इसलिए कि वह संकालिक और बहुकालिक, व्यक्ति और समुदाय तथा परस्पर भिन्न क्षेत्रों के स्तर पर अनुकूलित होते रहने की अशेष क्षमता रखता है। समय बदलते ही उसका मूल परिवेश (चाहे वह भाषिक ही क्यों न हो) बदलने लग जाता है। यदि वह एक ओर अपने प्रत्येक वाचक या कथायिता की तात्कालिक मनःस्थिति से प्रभावित होता है, तो दूसरी ओर समुदाय विशेष में आवृत्त होते रहने के कारण एक विशेष सामूहिक चरित्र भी अर्जित कर

लेता है। नए क्षेत्र में प्रवेश पाते ही वह पूर्ववर्ती क्षेत्र के विशिष्ट भौगोलिक और सांस्कृतिक संकेत को छोड़कर अपेक्षित नए संकेतों को ग्रहण कर लेता है। अपने मूल स्वरूप के यथासम्भव संरक्षण के साथ विकल्पों का निरंतर स्वीकार ही इस अतिजीवन का सबसे बड़ा रहस्य है और यह अतिजीवन आगत वस्तु की यथावस्तु स्वीकृति न होकर उसका निरंतर परिष्कार और पुनःसृजन है। अतएव सामूहिक रचना को किसी रहस्यवादी अर्थ में नहीं वरन पुनर्रचना या पुनःसृजन के अर्थ में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। संस्कृति के अध्येताओं ने न केवल लोकसाहित्य, वरन लोकजीवन के अन्य विषयों, जैसे धारणाओं और प्रथाओं के प्रसंग में भी परिवर्तन और रूपभेद के इसी तथ्य को परिलक्षित किया है। सप्ताह की धारणा मूलतः बेबीलोनी है और इसके सात दिनों के नाम बेबीलोनी देवताओं के थे, जैसे नाबू, मर्दुक, इशतर आदि, किन्तु अन्य क्षेत्रों में इस धारणा की स्वीकृति और प्रसार के साथ दिनों के नाम परिवर्तित होते चले गए थे तथा इसे ग्रहण करनेवाली जातियों ने बेबीलोनी देवताओं के अनुरूप प्रतीत होनेवाले अपने देवताओं के नाम पर दिनों का नामकरण किया। ग्रीकों ने इसे हर्मिस, जेउस, अफ्रोदीत आदि, रोमानो ने मर्करी, जुपिटर, वीनस आदि, तथा ट्यूटानिक जातियों ने वोडेन, फ्रीजा, थोर आदि नाम दिए। भारत में सप्ताह के दिनों के नामों की एक अलग तालिका स्वीकार की गई।

लोककथाओं, गीतों या कहावतों में भावसाम्य को रूप या विवरणसाम्य से पृथक कर देखने की प्रस्तावना एक लम्बे विवाद को समाप्त कर देती है। उदाहरणार्थ, दैत्य या दुष्ट व्यक्ति द्वारा पीछा किए जाने पर किसी जादुई साधन से कथानायक की आत्मरक्षा का भाव बहुत सी कहानियों और गीतों का विषय हो सकता है, लेकिन कथानायक द्वारा मार्ग में दुष्टात्मा को बाधित करने के लिए (क) बारी-बीरी से एक पत्थर, एक कंघी या कपड़ा और एक बर्तन तरल पदार्थ फेंकना और (ख) उनका क्रमशः पहाड़, जंगल और जलाशय बन जाना वैसा विवरण-संकुल है जो अलग-अलग क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप में आविष्कृत नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार हिंस्र प्राणी के प्रति दया द्वारा उत्पन्न संकट और उससे निष्कृति की धारणा कई रूपों में व्यक्त हो सकती है किन्तु विपदग्रस्त हिंस्र पशु की किसी व्यक्ति से प्राणरक्षा के लिए प्रार्थना, विपदमुक्त हो जाते ही अपने रक्षक को खा जाने की तत्परता, रक्षक द्वारा आपत्ति किए जाने पर उस पर अपने को विपद में डालने का मिथ्या आरोप, आरोप की परीक्षा के लिए तीन पंचों से निर्णय का अनुरोध और सहमति; दो पंचों द्वारा पशु का समर्थन और तीसरे पंच द्वारा बात नहीं समझने या न सुनने का बहाना आदि निश्चित क्रम में आनेवाली वैसी घटनाएँ हैं, जो स्वतंत्र रूप में बार-बार कल्पित नहीं हो सकतीं। जो विवरण - संकुल जितना जटिल और विस्तृत होगा, उसके सम्बन्ध में यह कहना उतना ही सरल होगा कि उसका क्षेत्र विशेष से प्रसार हुआ है।

अब वैसी कहानियाँ, जो निश्चित विवरण-संकुल पर आधारित हैं, कथा प्रारूप कही जाने लगी हैं। यद्यपि कथा प्रारूप दूर-दूर तक संप्रेषित और वाहित होते हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी कथा प्रारूप विश्वव्यापी या कि देशव्यापी हों। कहानियों का एक वर्ग वैसा भी है जो क्षेत्र विशेष में ही सीमित रह गया है। लेकिन यही बात कथानक रूढ़ियों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है। अमरीका की आदिम जातियों में भारोपीय मूल की कहानियों की संख्या बहुत सीमित है, किन्तु वैसी कथानक रूढ़ियों की संख्या बहुत अधिक जो सही मायने में विश्वजनीन हैं।

कथानक-रूढ़ियाँ कहानी के वे तत्व हैं जो अपनी विशिष्टता के कारण अलग पहचाने जा सकते हैं। यह विशिष्टता उन्हें कथासमूह में विशेष प्रकार के पात्रों, घटनाओं और धारणाओं के रूप में आवृत्ति के कारण प्राप्त होती है। लोकसाहित्य में उनकी स्थिति बहुत कुछ वैसी ही है जैसी संस्कृति के लक्षणों और भाषाओं में संरचनाओं की। जहाँ कई कथानक रूढ़ियों का विशेष संयोग कथाप्रारूप हो सकता है वहाँ एक ही कथानक रूढ़ि परस्पर भिन्न अर्थात् स्वतंत्र कथारूपों में आयोजित मिल सकती है। दूसरी स्थिति को ग्रिमबन्धुओं के जर्मन कथासंग्रह की उन दो कहानियों

के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है जिनमें “गाने वाली हड्डी” के नाम से प्रसिद्ध एक ही कथानक रूढ़ि का उपयोग मिलता है। कहानियाँ इस प्रकार हैं:-

छोटा भाई उस सुअर को मारने में सफल हो जाता है जिसके पुरस्कार स्वरूप राजकुमारी से विवाह की घोषणा की गई है। सुअर लेकर लौटते समय बड़ा भाई छोटे भाई को मार कर जंगल में गाड़ देता है और वह मरा हुआ सुअर लेकर राजदरबार आता है और उसका विवाह राजकुमारी से हो जाता है। कई बरस बाद एक गड़ेरिया उसी जंगल में झरने के किनारे एक चिकनी हड्डी पाता है और उससे अपनी श्रृंगी का ऊपरी भाग बनाता है। वह हड्डी छोटे भाई की है। गड़ेरिया श्रृंगी बजाता है तो उसके मुँह से छोटे भाई की करुण कहानी बज उठती है। वह इस अद्भुत बाजे को उपहार रूप में राजा को दे देता है और उसके बजते ही हत्या का रहस्य उद्घाटित हो जाता है।

दूसरी कहानी “जूनीपर वृक्ष” के नाम से प्रसिद्ध है। यह महाकवि गेटे के “फ़ाउस्ट” के पहले भाग में मार्गरेट के प्रलाप के रूप में आयोजित भी हुई है। एक स्त्री अपनी सौतेली लड़की को मार डालती है और उसका मांस राँध कर उसके पिता (अर्थात् अपने पति) को खिला देती है। पिता मांस की हड्डियाँ मेज के नीचे गिरा देता है और छोटी बहन उन्हें चुनकर जूनीपर वृक्ष के नीचे छोड़ आती है। उन हड्डियों से एक सुंदर पक्षी बाहर आता है और अपनी कहानी गाते हुए उड़ने लगता है। सबों को सौतेली माँ की क्रूरता मालूम हो जाती है।

इस कथानक रूढ़ि का मूल अभिप्राय मारे गए व्यक्ति का गायक वस्तु या प्राणी बनकर अपने प्रति किए गए अपराध का उद्घाटन है। इस दृष्टि से दोनों कहानियाँ एक जैसी हैं, किन्तु इनमें भावसाम्य होते हुए भी रूपगत साम्य नहीं है। ये दो परस्पर भिन्न विवरण-संकुल हैं और यदि इनमें से कोई कहानी विश्व के अलग-अलग भागों में मिले तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह मनुष्य की सार्वभौम मानसिक एकता का परिणाम है।

यदि उपर्युक्त आधार पर यह कहा जाता है कि

यूरोपीय कहानियों का एक उल्लेख्य भाग भारतीय है तो इससे असहमत होने का कोई कारण नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि यूरोपीय मेधा लोककथाओं की रचना की दृष्टि से अनुर्वर है, बल्कि यह मानना अतीत की एक सच्चाई को सच के रूप में स्वीकार करना है। ईसा की नवीं से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक मध्य एशिया के माध्यम से भारतीय कहानियाँ यूरोप पहुँचती रहीं और वे अपने शिल्प तथा कथ्य सौष्ठव के कारण स्वयं यूरोपीय कहानियों की तुलना में अधिक लोकप्रिय हो गईं। वह काल इस्लामी संस्कृति के वैभव का था। एक ओर क्रुसेड, हज और जेरुसलेम की यात्राओं ने, तो दूसरी ओर यूरोपीय देशों पर मुस्लिम विजय ने पश्चिम को पूरब के समीप ला दिया था। उस समय तक भारतीय कहानियाँ अरबी और फ़ारसी में, बहुत बड़ी संख्या में अनूदित हो चुकी थीं। सच तो यह है कि मौखिक और लिखित, दोनों रूपों में यह मध्य एशिया के कथाकोष में सम्मिलित हो चुकी थीं। भारतीय कहानियों की यूरोपीय यात्रा में दो मार्ग निर्दिष्ट किए जा सकते हैं। पहला मार्ग एशिया माइनर, तुर्किस्तान और बाल्कन राज्यों से होकर यूरोप जाता था और दूसरा मिस्र, उत्तर अफ़्रीका, सिसली और स्पेन होकर। दोनों मार्ग फ़ारस अरब क्षेत्र से फूटे थे। लेकिन इस क्रम में एक और माध्यम का उल्लेख आवश्यक है—वह है जिप्सी जाति। पहले यह अनुमान किया जाता था कि जिप्सी दसवीं सदी में भारत से बाहर गए। लेकिन ग्रूम (जिप्सी फ़ोक टेल्स 1846 : पुनर्मुद्रण-1963), जो अपने समय का सर्वश्रेष्ठ जिप्सीविद था और जिसके निष्कर्ष सामान्यतः अब तक प्रमाण माने जाते हैं, इस अनुमान से सहमत नहीं है। उसके अनुसार, जिप्सी भाषा में पाली और प्राकृत शब्दों का अस्तित्व इस बात का संकेत है कि जिप्सियों का भारत से और भी पहले निष्क्रमण हुआ है। अब यह माना जाने लगा है कि वे अपने यात्रापथ में पड़ने वाले एशियाई और यूरोपीय देशों में अपनी मूल भूमि की कथाओं का प्रसार करते गए।

इस विवेचन से यह भ्रम हो सकता है कि प्रसारवाद भारतवाद है किन्तु तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट

हो गया है कि यद्यपि ऐतिहासिक काल में लोककथाओं के प्रसार का सबसे बड़ा केन्द्र भारत था, फिर भी उनके प्रसार के कुछ और केन्द्र भी थे। पिछली कुछ शताब्दियों ने अफ़्रीका और अमरीका में फैलने वाली कहानियों का सबसे बड़ा केन्द्र यूरोप को बना दिया। प्रसारवाद में अपनी आस्था के बावजूद वान सिडो (स्वेडन) को यह मानने में कठिनाई होती है कि जिन कथाओं को भारतीय मूल का माना जाता है, वे वस्तुतः भारतीय ही हैं। अन्य यूरोपीय विद्वान वान सिडो से सहमत होने में कठिनाई अनुभव करते हैं। फिर भी आज किसी भी कहानी के प्रसार-केन्द्र के सम्बन्ध में निर्णय देने से पूर्व पर्याप्त तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा का अनुभव किया जाने लगा है। ईसप की कहानियों के सन्दर्भ में इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। ईसप की कहानियों का एक चौथाई भाग भारतीय स्रोत से गृहीत प्रतीत होता है। इसकी तेरह कहानियाँ जातकों में मिल जाती हैं, जैसे भेड़िया और मेमना, लोमड़ी और कौवा, सोने के अंडे देनेवाली मुर्गी, इत्यादि। इसकी कई कहानियाँ महाभारत में हैं, जैसे पेट और इन्द्रियाँ, किसान और साँप आदि। फिर भी एक विधा के रूप में नीति कथा के भारतीय होने की धारणा बहुत विवादास्पद हो गई है। मिस्र में पेपीरस पर लिखी हुई सिंह और चूहे की कथा मिली है जो 1200-1166 ई. पू. की बतलाई जाती है। यह महाभारत और ईसप दोनों में विद्यमान है। असुर-बनि-पाल पुस्तकालय (बेबीलोन) में कीलाक्षरी शिलालेखों में चार नीतिपरक पशुकथाएँ मिली हैं। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण घटना सचाउ द्वारा एलिफ़ैण्टाइन नामक स्थान में प्राप्त पेपीरस का प्रकाशन (1611 ई.) है। उक्त पेपीरस पर प्रसिद्ध राजा सेनटेरिव के मंत्री अहीकार के वचन अंकित हैं जिनमें नीतिकथाएँ भी सम्मिलित हैं। इन वचनों का समय अनुमानतः ईसा पूर्व छठी शताब्दि है। इनके अध्ययन से यह संकेत मिलता है कि इस प्रकार की कथाएँ ईसा से कई शताब्दि पूर्व की हैं। इससे यह प्रमाणित हो ही जाती है कि नीति कथा ग्रीक आविष्कार नहीं है, लेकिन यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि इसे

भारतीय आविष्कार सिद्ध करने के लिए और भी प्रमाण अपेक्षित हैं। क्या यह अनुमान उचित नहीं है कि ईसप और जातक की नीतिकथाओं का रूपात्मक, और उनमें से अधिकांश रचनाओं का, समान स्रोत कहीं और है ?

वस्तुतः प्रसारवाद का व्यापक और वास्तविक अभिप्राय यही है कि न केवल लोकसाहित्य की कथावस्तु, वरन उसकी विधा और शिल्प का भी प्रसार हुआ है। पंचतंत्र की कहानी के भीतर कहानी के शिल्प ने अलिफ़-लैला रचना - विधान को प्रभावित किया है। क्रमसंवृद्ध, सूत्र और श्रृंखला कथा शिल्प केन्द्र - विशेष से ही फैले हैं। जहाँ इस बात को मानने का कारण है कि कहानी और गीत मानव प्रकृति की किन्हीं गहरी आवश्यकताओं से उत्पन्न हैं, वहीं यह बात कहावत और पहेली के विषय में नहीं कही जा सकती। कहावत और पहेली का अस्तित्व एशिया, यूरोप और अफ्रीका में है। अफ्रीका की जनजातियाँ विशेष अवसरों पर इनका प्रयोग करती हैं- जैसे, एक पेड़ से जंगल नहीं बनता, तलवार से भागो और म्यान में छिपो, वह कौन है जो पहाड़ की चोटी से भी कूद कर चूर नहीं होता... इत्यादि। यह अनुमान करना सरल है कि कहावतों और पहेलियों के रूप में भावाभिव्यक्ति मानव - स्वभाव है किन्तु प्रमाण इसके विपरीत पड़ते हैं। अमरीका की आदिम जातियों के लोकसाहित्य में कहावत और पहेली जैसी कोई चीज नहीं मिलती। वहाँ की माया और उनके जैसी उन्नत जातियों में भी उसका अस्तित्व नहीं रहा है। इससे स्पष्ट है कि कभी कहावत और पहेली जैसी विधाएँ नहीं थीं और वे किन्हीं प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों द्वारा उद्भावित हुईं और चारों ओर फैलीं। भौगोलिक पार्थक्य या मानव इतिहास में इनकी परवर्ती उद्भावना के कारण इन्हें अमरीका तक प्रसार का अवसर नहीं मिला।

इस सिद्धान्त को सबसे बड़ा समर्थन ऐतिहासिक-भौगोलिक पद्धति से मिलता है। यह पद्धति क्रोन पिता-पुत्र जूलियस क्रोन (1888-1935) और कार्ले क्रोन (1863-1933) द्वारा फ़िनलैंड के राष्ट्रीय महाकाव्य कालेवल के अध्ययन क्रम में उद्भावित हुई। कालेवल

में लोकप्रचलित कथा विशेष से सम्बन्धित गाथाओं का एलियास लोन रोट द्वारा किया गया संकलन और व्यवस्थापन है। लोन रोट को इस लोक महाकाव्य के अस्तित्व का पता फ़िनलैंड की लोककविता के संकलन के सिलसिले में चला था। इस महाकाव्य के गाथा-चक्र लोक गायकों के कण्ठ में जीवित थे। लोन रोट ने आरहिप्पा, परतुनेन, मिइकाली, आकसेन्या आदि लोक गायकों से उन्हें प्राप्त किया और अपनी ओर से कुछ (गणना करने पर बहुत कम) पंक्तियों को जोड़कर क्रमबद्ध कर दिया। संकलन और सम्पादन के इस प्रयत्न ने जो चमत्कार दिखलाया, वह था एक पूरा लोक महाकाव्य जिसके प्रकाशित होने (1835) के साथ ही पूरे फ़िनलैंड में राष्ट्रीयता का ज्वार फैल गया।

लोन रोट के शिल्प जूलियन क्रोन ने कालेवल का अध्ययन करते समय यह अनुभव किया कि इसकी विभिन्न गाथाओं के रचनाकाल और रचनास्थान का निर्धारण सम्भव है। उसकी अध्ययन विधि के विकास का ही परिणाम यह निष्कर्ष है कि उनका उद्भव क्षेत्र इलमेन झील का पार्श्ववर्ती और फ़िनलैंड खाड़ी का दक्षिणी भाग था तथा उसकी रचना आदि-फ़िन जाति के आदि-बाल्टिक जाति के सम्पर्क काल में अर्थात् 2000-500 ई.पू. आरम्भ हुई। उसने प्रत्येक गाथा के सभी रूपान्तरों का संकलन किया और उनकी रूढ़ि और तथ्य की बारंबारता तथा भौगोलिक वितरण आधार पर यह कहा कि हर गाथा मूल रूप की कल्पना सम्भव है। केवल यही नहीं, उसके पुत्र कार्ले क्रोन ने इस पद्धति का पशु कथाओं के अध्ययन में विनियोग किया और “लोकवार्ता की अध्ययन-विधि” (डी.फोल्कलोरिस्टिशे आरबाइमेथोडे : 1926) में पूर्णता प्रदान की।

ऐतिहासिक-भौगोलिक पद्धति की विशेषता प्रत्येक लोककथा या लोकगीत के सभी प्राप्य रूपान्तरों की तुलना द्वारा उसके मूल के पूर्वरूप का पुनः निर्माण तथा उसके ऐतिहासिक और भौगोलिक संकेतों और क्षेत्रीय रूपान्तरों के मिश्रण-तत्वों के आधार पर उस स्थान और काल का निर्णय करना है। उदाहरण के

लिए, जिस कथा में सिंह का उल्लेख मिलता हो, वह (इस भौगोलिक संकेत के कारण) भारतीय मूल है। सामान्यतः भौगोलिक संकेत बदलते जाते हैं। भारतीय कथाओं का कमल फ़ारस में गुलाब और यूरोप में लिली बन जाता है किन्तु हर भौगोलिक संकेत का बदल जाना आवश्यक नहीं है। यह स्थिति इस पद्धति के उपयोगकर्ताओं के लिए सहायक सिद्ध हो जाती है। इसी तरह यह माना गया है कि आश्चर्य-तत्वों के आधिक्य से युक्त कथा भारत-ईरानी है। जिस प्रकार रचना के स्थान और काल निर्णय में किसी कहानी का प्राचीनतम लिखित रूप ही सहायक हो सकता है, उसी प्रकार, बल्कि उससे भी कहीं अधिक, विचित्र और निरर्थक प्रतीत होने वाला विवरण... चीन की सिंङ्गला कथा में, जो अपने यूरोपीय रूपान्तर से सात सौ वर्ष पहले मुद्रित हुई थी, नायिका को एक वृक्ष का आलिंगन कर सोई दिखलाया गया है। चीनी कथा में इस विवरण की संगति स्पष्ट नहीं है, लेकिन जब इसके यूरोपीय रूपान्तरों में सिंङ्गला अपनी माता की कब्र से जन्मे वृक्ष से लिपटी हुई मिलती है तो इस विवरण का महत्व स्पष्ट होने लगता है। इससे एक बात का निर्णय हो जाता है, वह यह कि यह कथा मूलतः चीनी नहीं है। ऐतिहासिक-भौगोलिक पद्धति द्वारा पैंतीस कहानियों के विस्तृत अध्ययन के आधार पर कार्ले क्रोन ने यह मान्यता प्रकट की कि ऐतिहासिक काल में भारत और पश्चिम यूरोप कहानियों के प्रसार के सबसे बड़े केन्द्र रहे हैं।

प्रसारवाद के संदर्भ में बार-बार लोककथा के उल्लेख का अभिप्राय यह नहीं है कि लोकगीत का प्रसार नहीं होता, बल्कि यही कि लोककथा की तुलना में इसका प्रसार बहुत सीमित है। लोककथा लोकसाहित्य की सबसे अनुवादक्षम विधा है। भिन्न भाषिक क्षेत्रों में जितनी सुगमता से यह फैलती है उतनी सुगमता से गीत नहीं। गीत की अन्तर्वस्तु (अर्थपक्ष) भाषा विशेष के लय विधान में बँधी रहती है। सामान्यतः इसका प्रसार उन्हीं भाषाओं में होता है जो पारिवारिक दृष्टि से संकालिक स्तर पर समीपी हैं और जिनकी संरचना

इस प्रकार की है कि मूल लय विधान के साथ इसका भाषान्तरण सम्भव हो जाता है। यही कारण है कि जिन भाषाओं में इस प्रकार की भाषिक और संरचनात्मक समीपता मिलती है, उनमें समान गीतों की संख्या भी अधिक होती है। इस प्रकार भाषिक वर्ग या उपवर्ग गीतों के प्रसार की सीमा हुआ करते हैं और उनकी दूरी के अनुपात में ही समान गीतों की संख्या घटती-बढ़ती जाती है। साधारणतः यह कहना सच है कि संरचनात्मक समीपता का अर्थ भाषिक समीपता है, लेकिन कुछ विशेष स्थितियों में इसका अपवाद सम्भव है। जहाँ पारिवारिक दृष्टि से एकदम भिन्न भाषिक समुदाय भी सदियों तक पड़ोस में या एक साथ रह जाते हैं, वहाँ उनकी संस्कृतियों के समीपीकरण की प्रक्रिया उनकी भाषाओं में उच्चारण या लय विधान के स्तर पर संरचनात्मक समीपता उत्पन्न कर सकती है। छोटानागपुर को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ सादरी (आर्य), कुडुख (द्रविड़) और मुन्डा (आस्ट्रिक) भाषी समुदाय कहीं साथ और कहीं पड़ोस में रहते हैं। उनके गीतों के लय विधान में समीपता दिखाई पड़ती है और इसीलिए उनमें परस्पर अनूदित गीतों की उल्लेख्य संख्या मिल जाती है।

भाषिक व्यवधान को अतिक्रमित करने की क्षमता गीतों से कहीं अधिक गाथाओं में मिलती है। उत्तरी भारत में भरथरी, लोरिक, ढोलामारु आदि गाथाओं का व्यापक प्रसार हुआ है। इसका कारण इनके कथातत्व का आकर्षण और इससे लोककथाओं के अधिक प्रसारक्षम होने की बात का ही समर्थन होता है।

संस्कृति के संदर्भ में प्रसार की समस्या पर विचार करते हुए ग्राएन्बर (मैथोडे डेर एथनोलोगी : 1911) ने जो स्थापना दी है, उससे भी उपर्युक्त दृष्टिकोण को बल मिला है लेकिन उसकी सीमाएँ भी स्पष्ट हो गई हैं। ग्राएन्बर हर सांस्कृतिक समानता को ऐतिहासिक सम्बन्ध का परिणाम मानता है। उसके अनुसार स्वतंत्र आविष्कार की धारणा आत्मनिष्ठ है। वह जहाँ है नहीं,

वहाँ भी उसके होने की कल्पना सम्भव है। यदि किन्हीं उदाहरणों में अपेक्षित प्रमाणों के सुलभ नहीं रहने के कारण ऐतिहासिक सम्बन्ध का निर्णय कठिन प्रतीत होता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उन उदाहरणों में उनका अस्तित्व ही नहीं है। जहाँ आंशिक समानताएँ मिलती हैं, वहाँ भी वस्तुनिष्ठता का तकाजा यही नहीं है कि हम ऐतिहासिक सम्बन्ध की कसौटी का ही उपयोग करें।

सांस्कृतिक समानताएँ या तो भौगोलिक दृष्टि से अविच्छिन्न रूप में उपस्थित मिलती है या तो विच्छिन्न रूप में। वे एक ओर सम्बद्ध क्षेत्रों में दिखाई देती हैं, तो दूसरी ओर असम्बद्ध क्षेत्रों में। पहली स्थिति की व्याख्या कठिन नहीं है। दूसरी स्थिति में भी यह अनुमान किया जा सकता है कि वे कभी अंतराल प्रतीत होने वाले क्षेत्रों में विद्यमान थीं और आज समाप्त हो गई हैं। यह भी कहा जा सकता है कि सम्प्रति ऐतिहासिक प्रमाण सुलभ नहीं होने के कारण ही कुछ क्षेत्रों को असम्बद्ध कह दिया जाता रहा है। हम मनुष्यता के इतिहास को पाँच हजार या और भी कम वर्षों की अवधि में सीमित कर देखने के अभ्यस्त हो गए हैं, जबकि वह दस लाख वर्ष पुराना है। हम अभी मनुष्य की ढाई सौ पीढ़ियों की चर्चा करते हैं जबकि उसकी इस पृथ्वी पर पचास हजार से भी अधिक पीढ़ियाँ गुजर चुकी हैं। यदि मानव जातियों के बीच संबंधों की बहुत-सी कड़ियाँ अतीत के धुंध में खो गई हैं तो इसका अर्थ यह नहीं होता है कि वे थी ही नहीं। पहले नई दुनिया को पुरानी दुनिया के एकदम भिन्न माना जाता था और उनके बीच ऐतिहासिक सम्बन्ध की चर्चा कपोल कल्पना कह दी जाती थी। लेकिन अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि अमरीकी जनजातियाँ मंगोलियन हैं। हिमयुग के अंत में वे एशिया से उत्तर और पूरब की ओर से अमरीका गई थीं। अमेरिका के विभिन्न क्षेत्रों में उनके प्रथम आवास मिले हैं, जिनका काल रेडियो कार्बन विश्लेषण द्वारा नौ हजार ईसवी पूर्व निर्धारित हुआ है। आज भी उनके बीच वैसे विश्वास

जीवित हैं जो एशिया में भी मिल जाते हैं। ताबीज, मंत्र, जादू के माध्यम के रूप में विशेष-विशेष वस्तुओं का उपयोग, रजस्वला का भय शमन आदि पुरानी दुनिया से प्राप्त रिक्थ के अंश हैं, जो नई दुनिया में, भौगोलिक पार्थक्य की अवधि में, स्वतंत्र रूप से विकसित होते गए हैं। इसलिए यदि अमरीका की जनजातियों में कुछ एशियाई कहानियाँ मिल जाती हैं तो असम्बद्ध क्षेत्रों में उनकी उपस्थिति को स्वतंत्र आविष्कार या मनुष्य की मानसिक एकता का परिणाम बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे कहीं अधिक वैज्ञानिक अमरीका और एशिया के कोलम्बस पूर्व सम्बन्ध सूत्रों को एक वास्तविकता के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता है। साइबेरिया की कोरयाक और उत्तर अमरीका की नुत्का, लिंगित हाइलत्सुक आदि जातियों के भेड़िया और कृष्णकाक विषयक मिथकों की तुलना करते हुए जोकेल्सन कहता है कि उनके बीच विचारों का “निरंतर और घनिष्ठ” सम्पर्क और आदान-प्रदान था।

निरंतर और घनिष्ठ सम्पर्क और आदान-प्रदान की धारणा को अतिरंजित कहा जा सकता है लेकिन सम्पर्क के आदान-प्रदान की धारणा को नहीं। इसी प्रकार अब सुदूरपूर्व एशिया के कुछ भागों- मुख्यतः मलय-पोलिनेशियन भागों से अमरीका के पुराने सम्बन्धों को स्वीकार किया जाने लगा है। प्रमाण के रूप में आरफ़ियस की कथा से मिलती-जुलती उन कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है जो जापान और उत्तरी अमरीका में प्रचलित हैं।

जापान की आरफ़ियस कथा इस प्रकार है-

इजानागी अपनी पत्नी इजानामी के साथ योमोत्सुकूनी (छायाओं का देश, अर्थात् पाताल) जाता है। इजानामी पाताल का खाद्य ग्रहण करती है, अतएव वह वहाँ से नहीं लौट सकती। इजानामी के अनुरोध करने पर उसे इस शर्त पर लौटने की अनुमति मिल जाती है कि पति उसे मार्ग में पलट कर नहीं देखेगा। इजानागी इस निषेध का पालन नहीं कर पाता। अपने को आश्वस्त

करने के लिए वह रास्ते में पलट कर देखने लगता है, तो उसे इजानामी का क्षयिष्णु और विकृत शव दिखाई पड़ता है और वह भयार्त होकर दौड़ने लगता है। उसकी पत्नी, जो इस निषेध को तोड़ने के कारण पिशाची बन जाती है, उसकी पीछा करने लगती है। इजानामी रास्ते में फ़ल गिराते हुए भागता है। इजानामी और उसकी साथिनें फ़लों को चुनने के लिए बीच-बीच में रुकती जाती हैं जिससे वह भाग निकलने में सफल हो जाता है। वह दुष्ट आत्माओं को बाहर जाने से रोकने के लिए पाताल द्वार पर एक शिलाखण्ड रख देता है।

जूनी जाति (उत्तर अमरीका) की आरफ़ियस कथा कशिंग के “जूनी फ़ोक टेल्स” (28-30) में संकलित है। पति अपनी मृत पत्नी की छाया के पीछे-पीछे, उसके केश में बँधे पंख के संकेत का अनुसरण करते हुए पाताल पहुँचता है। पत्नी एक शर्त पर वहाँ से लौटने को तैयार हो जाती है, वह यह कि पति मार्ग में उसका चुम्बन नहीं करेगा। पति इस निषेध का पालन नहीं करता है और पत्नी फिर पाताल लौट जाती है।

अमरीका के इस कथा प्रारूप का संकलन जेसुइट पादरियों ने सत्रहवीं सदी में किया था। इसमें यूरोपीय सांस्कृतिक तत्वों का अभाव है, इसलिए इसे कोलम्बस के परवर्ती संपर्क का परिणाम मानना कठिन है। इसके अनेक रूपान्तर मिलते हैं जिनमें मृतात्मा पति या पत्नी और उसकी खोज में पाताल में प्रवेश करने वाला पात्र या पात्रों के रूप में पति, पत्नी या पत्नियों का उल्लेख है। कुछ रूपान्तरों में मृतात्मा के पृथ्वी पर लौट जाने की चर्चा भी मिलती है।

किन्तु क्या समानताएँ हर स्थिति में ऐतिहासिक सम्बन्ध या प्रसार का ही परिणाम होती हैं? हमने यह देखा है कि लोकसाहित्य में भाव या धारणागत साम्य के रूप में समानांतरवाद विद्यमान है, तथा सामान्य और विच्छिन्न रूपात्मक समानताओं के रूप में इसे स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन इन प्रस्तावकों ने इसको इस अर्थ में स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इस आधार पर सभी प्रकार की समानताओं की व्याख्या

करनी चाही थी, किन्तु उपर्युक्त विवेचन से इसकी सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। वस्तुतः हम जिस प्रकार की समानताओं-भाव या धारणागत, सामान्य और विच्छिन्न समानताओं के अर्थ में इसे स्वीकार करना चाहते हैं, उस अर्थ पर “समाभिरूपता” शब्द का प्रयोग कहीं अधिक सार्थक होगा।

मानवीय विचार और कार्य की संभावनाओं की अपनी सीमाएँ हैं। दूसरे शब्दों में, विचार और कार्य क्षेत्रों में मनुष्य के पास जो विकल्प हैं, वे अपनी संख्या की विशालता के बावजूद परिमित हैं। यही परिमिति लोकसाहित्यिक और सांस्कृतिक समानताओं की व्याख्या करती है। कभी-कभी नितांत भिन्न कारणों के परिणाम भी समान हो जाते हैं। यदि दलदली इलाकों में टालों पर घर मिलते हैं, तो रेगिस्तानी इलाकों में भी आक्रमण के बचाव के लिए, इसी प्रकार के घर मिल जाते हैं। यह भी संभव है कि जीवनयापन की परिस्थितियों की एक विशेष दशा में अभिमुखता अत्यंत दूरवर्ती क्षेत्रों में सांयोगिक समानताओं का रूप ग्रहण कर ले। केवल बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही नहीं, वरन विभिन्न प्रकार की वैचारिक समस्याओं के समाधान में भी मानव जातियाँ समान परिणाम तक पहुँचती देखी गई हैं। सृष्टि की व्याख्या में भाववाद और भौतिकवाद, द्वैतवाद और अद्वैतवाद आदि दृष्टिकोण सर्वत्र मिल जाते हैं। इनके विकास की भूमिकाएँ जो भी रही हों, इसमें कोई संदेह नहीं कि उन भूमिकाओं के अन्तिम परिणाम एक जैसे और तुलनीय रहे हैं। अतएव समाभिरूपता को संस्कृति की एक प्रकृतिगत विशेषता मान कर ही कुछ समानताओं की व्याख्या की जा सकती है। भाषा में इस समाभिरूपता के प्रचुर प्रमाण सुलभ हैं। यौन लिंग भारोपीय परिवार की भाषाओं की एक समान विशेषता है। यह इस परिवार की पड़ोसी सेमेटिक और हेमेटिक भाषाओं में भी मिलता है, किन्तु चीनी, यूराल-अलताई, जापानी, द्रविड़, मलय-पोलिनेशियन, बूट, तथा अन्य अनेक अफ्रीकी और अमरीकी भाषाओं में इसका अस्तित्व

नहीं है। लेकिन यह दक्षिण अफ्रीका की होत्तेनतोत तथा उत्तर अमरीका की प्रशान्त महासागर-तटवर्ती शिनूक, पोमो और कोस्ट शैलिश भाषाओं में विद्यमान है। इसी प्रकार, भारोपीय भाषाओं की तरह ही मलय-पोलिनेशियन, एस्कमो और अनेक अमरीकी भाषाओं में द्विवचन का प्रयोग मिलता है। इन समानताओं की व्याख्या किसी भौगोलिक या ऐतिहासिक सम्बन्ध के दर्शन के आधार पर नहीं की जा सकती है। व्याकरण भाषा का सर्वाधिक अपरिवर्तनीय और प्रभावरोधी अंग है। एक परिवार की भाषा के शब्दों का दूसरे परिवार की भाषा में प्रसार होता है, लेकिन भौगोलिक सन्निकटता की स्थिति में भी एक भाषा के व्याकरण की आवयविक विशेषताओं का दूसरी भाषा के व्याकरण में संक्रमण कठिन है। भाषिक तरंग-सिद्धांत की अपनी सीमाएँ हैं। वस्तुतः इस प्रकार की समानताएँ समाभिरूपी (कान्वर्जेण्ट) विकास का ही परिणाम हैं।

लोकसाहित्य में पूरे विवरण-संकुल का साम्य रखनेवाली रचनाओं तथा कठोरतया गठित एवं सुनिश्चित शिल्प वाली विधाओं और उप-विधाओं के धरातल पर तो नहीं, किन्तु पूरे पैटर्न से अलग कर देखे गए विवरणों और सामान्य भावात्मक-वैचारिक समानताओं के अतिरिक्त बहुत सामान्य नम्य बंध विधाओं के धरातल पर यह समाभिरूपता सम्भव है। यह फिर से प्रमाणिक करने की आवश्यकता नहीं कि पहेली, सूत्रकथा, क्रमसंवृद्ध कथा, कहावत आदि सुनिश्चित और बारीक बुनावट वाली विधाओं का प्रसार हुआ है, किन्तु लोकप्रबन्ध और लोकनाटक जैसी बहुरूपान्तरी और एक अतिसामान्य संकल्पना के रूप में गृहीत विधाओं के क्षेत्रों में समाभिरूपता मिल जाती है। मगही, भोजपुरी, बंगला, ओड़िया और छत्तीसगढ़ी

में लोक-प्रबन्ध हैं, लेकिन इन भाषिक क्षेत्रों से घिरी हुई और इनके निरंतर सम्पर्क में रहने वाली छोटानागपुर की आदिम जातियाँ न तो लोरिकायन, कुंवर विजयमल और गोपीचंद - जैसे लोकप्रबन्धों को अपना ही सकी न इनके समानांतर किसी गीतिविधा का विकास ही कर सकी हैं। अफ्रीका और अमरीका की हर आदिम जाति में इस विधा का अभाव है। लेकिन मलेनेशिया की सृष्टिगाथाएँ अपनी विशालता और क्रम विधान में एशिया और यूरोप के लोकमहाकाव्यों की समकक्षता करती हैं। उनमें सृष्टि का विकास और देवताओं के कृत्य अत्यंत उदात्त और गंभीर शैली में वर्णित मिलते हैं। इसी प्रकार हर जाति को लोकनाटक नहीं मिला है। यूरोप और एशिया की गैर-आदिम और मणिपुर की आदिम जातियों के अतिरिक्त अफ्रीका की अशान्ती और थोंगा तथा अमरीका की प्यूब्लो चैरोकी तथा विनबैगो जैसी गिनी-चुनी आदिम जातियों में ही विकसित लोकनाटक मिलते हैं। व्याख्या रूप में यह कहा जा सकता है कि जिस दूरवर्ती जातियों में लोकप्रबन्ध और लोकनाटक मिलते हैं, उनकी लोककविता और अभिनयमूलक अभिव्यक्तियाँ उन दिशाओं की ओर अभिमुख रही हैं, जिनमें इस प्रकार की विधाओं का विकास सम्भव है।

[यह निबंध प्रोफेसर दिनेश्वर प्रसाद, राँची विश्वविद्यालय के निबंध संग्रह 'लोक, लोकवार्ता और लोक साहित्य' संपादक : डॉ. मृदुला प्रसाद, प्रकाशक, नीरज कुमार, दिल्ली-92 में संकलित है, जिसे दिनेश्वर प्रसाद जी की सुपुत्री डॉ. इला प्रसाद जो ह्युस्टन (टेक्सास) अमेरिका में फिजिक्स की प्रोफेसर हैं, ने 'मुक्तांचल' के लिए उपलब्ध कराया है। उनके प्रति आभार। - अतिथि संपादक]

डॉ. इला प्रसाद

12934, मेडोरन, ह्यूस्टन, टीएक्स 77066, यू. एस. ए

मो. : +1(281) 777-1339



लोक साहित्य में लोक जीवन एवं संस्कृति

- धनेश दत्त पाण्डेय

साहित्य, चाहे जिस किसी भी स्वरूप में हो, का एक मात्र धारित और अखण्डित उद्देश्य है, समाज की मंगल कामना। मानव-बुद्धि के विकास के साथ साहित्य और कलाएं अधिक नियोजित और बौद्धिक जरूर होती रही हैं, मगर उनके उद्देश्य और सिद्धांत और उनकी सौन्दर्य भावना में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसका एक मात्र कारण यह है कि पुरातन काल से आज तक का हर साहित्य मानवीय और प्राकृतिक नियमों से शासित होता रहा है और ये नियम हमेशा ही काल निरपेक्ष रहे हैं। यहाँ हमारे विमर्श का विषय उस जीवन और संस्कृति की पड़ताल करना है जो लोक साहित्य में केन्द्रीभूत होकर हमें हमेशा से प्रभावित और उद्भाषित करते रहे हैं, इसलिए हम जल्दी से जल्दी हिंदी भाषी क्षेत्र के लोक साहित्य को इस चर्चा के केंद्र में लाना चाहेंगे।

लोक साहित्य का प्रथम पद है- 'लोक' और इसका समासिक भाव उस साहित्य से है जो लोक के लिए लोक-विरचित हो। तय है कि यह साहित्य जिस संवेदना को संपुंजित और पुनर्जीवित करता है; वह लोक- संवेदना है, जिस आत्मा के उन्मेष और उन्नयन का साधन बनता है; वह लोक-आत्मा है, जिस जीवन के आंतरिक नियोजन और प्रतिफलन का दायित्व ग्रहण करता है; वह लोक-जीवन है। तो, आवश्यक है कि ऐसे साहित्य की सामाजिकता के विस्तार में जाने के पूर्व हम संक्षेप में, परन्तु पूरी स्पष्टता से उसमें व्याप्त 'लोक' को समझ लें।

मर्मज्ञों ने 'लोक' का संबंध 'दृष्टि' से निरूपित किया है। यानी, कर्मों की सक्रियता-निष्क्रियता और इसके प्रभावों का अवलोकन। इसके लिए और इसकी संगति को व्यक्त करने वाले अन्य प्रासंगिक पद हैं- अवलोकन, लौकिक, अलौकिक, लोकोत्तर, आलोक इत्यादि। चूँकि, अवलोकन का कार्य हमारे लोक (भूलोक) के तमाम निवासी, मानव; पशु-पक्षी सभी

करते हैं, अस्तु लोक शब्द स्वतः समस्त भूमि को समाहित कर लेने वाला एक अभिव्यंजित पद हो जाता है। और, इस अभिव्यंजना में भुवर्लोक (अंतरिक्ष) और स्वर्लोक (ज्ञान लोक) तक सब सिमट आते हैं। इस कारण ही 'लोक' सीमित नहीं होकर विराट हो जाता है, समस्त प्रकृति का प्रतिनिधि- भूमि, आपो, अनलो, वायुः, खं, मनोबुद्धिर एवं च। अहंकार इतीय में भिन्ना प्रकिर्तिरष्टधा। ('गीता सप्तम अध्याय, श्लोक 3')। लोक आदमी का भी हो सकता है, पूरे समाज का भी और पूरी कायनात का भी। यह व्यक्तिगत, समूहगत और तंत्रगत भी हो सकता है- लोकतंत्र, जनतंत्र, प्रजातंत्र। साहित्य, कला और संस्कृति में यही लोक प्रवृत्तियों के तौर पर उजागर होता है। लोक प्रवृत्तियाँ और एक काल खंड को भोग लेने के बाद इन्हीं प्रवृत्तियों से उपजी संस्कृतियाँ भी जब अपने साहित्य की व्याप्ति बन सकने की हिमाकत धारती हैं, तो स्वतः सिद्ध है कि लोक-साहित्य में सिर्फ और सिर्फ लोकजीवन और लोक संस्कृतियाँ ही वहाँ के मूल नागरिक की हैसियत में रचे-बसे होने का मौलिक अधिकार भी ग्रहण किये होते हैं। यहाँ हमारी सीमा है कि हम हिंदी साहित्य की वाग्धारा और सिर्फ उसके ही सामाजिक संदर्भों के भीतर रुककर लोक साहित्य का विवेचन करें अतः एक बार फिर से हम लोक साहित्य की अवधारणा वाली एक संकरी गली में पाँव-पैदल चलने का प्रयास करते हैं।

मनुष्य स्वभावतः स्मृति-जीवी होता है और इस कारण ही वह अपनी स्मृतियों की रक्षा में प्राणपण जुटा होता है। ये स्मृतियाँ ही हमारे विभावक जीवन की जननी हैं और इस कारण ही हम अपनी परंपराओं, रुचियों, मान्यताओं और अवधारणाओं को संरक्षित, परिवर्तित और विस्तारित करना चाहते हैं। अपने इस उद्यम का विवेक हम अपने पूर्वजों से अर्जित करते हैं जो हमें अपनी लोक कथाओं, गाथाओं से प्राप्त होता

॥ अनुशीलन ॥

है। मान्यता थी कि स्मृतियों के वैभव की सुरक्षा का यह दायित्व हमारे समाज के कुलीन और भद्र लोगों का था। राजे-महाराजे, वैभव संपन्न सत्ताधारी, ज्ञान-मण्डित विशिष्ट अभिजन ही साहित्य और संस्कृति की समझ और प्रतिभा रखते थे। व्यसनों के ये महारोगी ही साहित्य-व्यसनी भी होते थे। परन्तु, आचार्य शुक्ल ने इस बात में गहरे पैठ कर इसकी पड़ताल की और निष्कर्ष दिया कि स्मृतियों और परम्पराओं के असली वाहक भद्रलोक नहीं, जनलोक हैं जो आभाव, विपन्नता और विपरीत परिस्थितियों में जीवन यापन करते हैं। स्त्री, शूद्र, दलित, वंचित ही सामान्य मानव का वह वर्ग है जो अपने अदम्य साहस और जीवटता के बल पर आकाशचारी भद्रलोक के बरक्स अंगद का पैर जमाये इस धरा पर खड़ा रहता है और मानवी अनुभूतियों में बहुत गहरे पैठकर अपनी संस्कृति, परम्परा और आत्मिक उन्मेष की रक्षा के लिए अपनी अटपटी बोली और सहज वाणी से सत्य और शिव रूपी साहित्य का सृजन करता है। इस साहित्य की स्वभाविक व्यापकता होती है, सुगमता होती है। इनमें मंथन और चिंतन के तत्व होते हैं जो हृदय के अवसाद को छूते हैं, मन के तरंगों को उद्वेलित करते हैं, शंकाओं का निवारण करते हैं, कुंठाओं का भंजन करते हैं। भारत का आदि ग्रन्थ ऋग्वेद से लेकर यहाँ का लौकिक संस्कृत, पालि-प्राकृत, अपभ्रंश सब के सब तो लोक-जीवन और लौकिक संस्कृति के ही प्रवाह से आजतक और अनंत काल तक के लिए प्राणवंत बने हुए हैं। हमारे पूर्वज मनीषियों, चिंतकों, संतों, साधकों और गृहस्थों ने अपनी प्रतीक-जीवी, विरोधगर्भिता, अनुभवधर्मी और सूत्रात्मक अटपटी वाणी से जीव और जगत के सारे रहस्यों, समस्याओं और उनके समाधान का हल ढूँढ़कर अपने ज्ञान-गुरुता का परिचय दिया है। कबीर की यह रहस्य प्रधान ‘बानी’ देखिये, लोक-साहित्य और लोक-ज्ञान की एक बानगी यहाँ मिल जायेगी—

“उलटवास संतन ने भाखी। जाकी समझ सूर कोई राखी।

सुलटी को उलटी कर बूझा। उलटी सुलटी समझ न सूझा।।

अब याकौ इक शब्द सुनाऊं। उलटी सुलटी वोहि माहि दिखाऊं।।”

यही कारण है कि लोक साहित्य में जनमानस की आत्मा बसती है, इसमें लोक मात्र के कल्याण की कामना होती है, मनुष्य की लोक-बद्धता होती है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी तो एक कदम और आगे बढ़कर स्पष्ट मान्यता देते हैं कि लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य है ही नहीं, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई समूची जनता, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं, ही लोक है। ये लोग नगर अथवा परिष्कृत रुचि संपन्न समझे जाने वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जिलाए रखने के लिए जो वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उत्पन्न करते हैं।

स्पष्ट है कि श्रम-संस्कृति के इस युग का सर्वहारा ही हमारा जन लोक है जिसमें अनपढ़, अशिक्षित जनता समाहित है और इनकी अभिव्यक्ति ही लोक साहित्य है, चाहे वह लिखित है या मौखिक। तो, लोक साहित्य की सबसे बड़ी विशिष्टता भी यही है कि इसमें आम जनो की बुद्धिमत्ता और दिमागी तीक्ष्णता होती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी जीए हुए जीवन के निकटतम संसर्ग से प्राप्त हुई होती है, जो मनुष्यता के सतत अध्ययन और अनुभव से ही प्राप्त हो सकती है। यह भोगे हुए यथार्थ, जिसमें भोगी हुई यातना, भोगे हुए सुख, प्रकृति का विधान, प्रभु की महिमा, विध्वंस और निर्माण, शान्ति और उन्माद, सब शामिल हैं, जीवन दर्शन बनकर उभरते हैं मगर बिना किसी प्रगल्भता के, बिना पांडित्य-दर्शन के, बिना यांत्रिक पेंचीदगी के। लोक कथा, लोक गाथा, लोक गीत, और लोक नाट्य के रूप में श्रुति-स्मृति के सहारे (और अब, लिपिबद्ध होकर भी) लोक जीवन में संचारित होते रहने वाला यह साहित्य जीवन के अनुभवों का स्वरबद्ध कोष है जो विशिष्ट मानवों के विशिष्टतम क्षणों में भंडारित हुए हैं और अपनी सम्प्रेषणीयता सहजता और पारदर्शिता में मूर्त होकर वर्तमान के अवसाद, पीड़ा, संताप को दूर या कम करने की ताकत रखते हैं। अपने वैचारिक प्रतिदान में ये क्षुद्र हो सकते हैं,

॥ अनुशीलन ॥

आश्चर्यमय भी हो सकते हैं, प्रेरणादायी भी हो सकते हैं, मार्गदर्शक भी हो सकते हैं मगर विभाजनकारी, क्षणजीवी और तिरोगामी तो रंच मात्र नहीं होते।

यह तो हुई विमर्शगत इस विषय के सैद्धांतिक या अकादमिक पक्ष की चर्चा। अब, हम इसके व्यावहारिक और भौतिक पक्ष की बात कर लेते हैं।

लोक साहित्य दंत कथाओं के तौर पर लघु विस्तार में तो है ही, औपन्यासिक स्वरूप में काफी लंबाई लिए हुए कथा साहित्य के रूप में भी है। लंबे आख्यान वाली लोक कथाएं लोग गाथा होती हैं तथा आंगिक और वाचिक अभिनय के द्वारा रंग-मंचों अथवा दृश्य-श्रव्य होकर जन समूहों के बीच व्यक्त होने से ये लोक नाट्य बन जाती हैं जो स्वांग और लीला-प्रधान होती हैं। लोक गीत तो समझिये कि जल-प्रवाह अथवा मंदिर बयार की तरह ही अपने साथ बहा ले जाने में सक्षम, जीवन से भी उर्ध्वतर और जीवन से भी ज्यादा प्राणवंत उपादान हैं जो रसीला होकर सुखदायी अथवा विषादकारक होते हैं।

सम्पूर्ण लोक साहित्य मिथकों की दुनिया से अवतरित होकर मनुष्य मात्र को वैचारिकी की दुनिया में ला खड़ा करने का प्रयास है। इस कारण ही उससे गुजरता हुआ अनपढ़, मंदबुद्धि और सामान्य मानवी भी अपनी अस्मिता, अस्तित्व और अहमिता से संघर्ष करके आधुनिक और विकसित होकर संस्कृति-संक्रमण के खिलाफ खड़ा होने का प्रयास करता है। लोक साहित्य की उपादेयता को लोक जीवन में इस प्रकार टटोला जा सकता है—

संस्कृति का वाहक

लोक साहित्य प्रधानतः वाचिक है। अतः इसका बारम्बार स्मरण इसकी परिवर्तित व्याख्या और समयानुकूल संशोधन के लिए सहज होता है। इसके द्वारा हम अपने पूर्वाधारित मूल्यों से मुठभेड़ करते हैं, अपने धार्मिक रीति-रिवाजों का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करते हैं और अपनी आस्थाओं, विश्वासों, अनुष्ठानों का संबंध रोजमर्रा के जीवन की संगति में स्थापित करते हैं। लोक साहित्य के महत्व को समझने के लिए कबीलाई जीवन पद्धति और उनमें हो रहे

परिवर्तनों में झांकना काफ़ी मुफीद होगा। संधालों, बिरहोर, खरिया, नागा, दुबला, वर्ली वगैरा हमारे देश के प्रमुख कबीलाई समुदाय हैं जो प्रधानतः प्राकृतिक संसाधनों और कृषि पर अपना जीवन निर्वाह करते आये हैं। इनका विश्वास है कि अलौकिक शक्तियों से शक्ति प्राप्त करके ही जीवन को संरक्षित, सुरक्षित और खुशहाल बनाया जा सकता है। मिथक, किम्बदंतियों और चमत्कार इनकी धारित आस्था के आधार हैं। पर्व-उत्सव एवं त्यहारों में सम्पूर्ण मानवी की तरह ही इनकी भी परम्पराएं अक्षुण्ण रहती आ रही है। पहाड़, धरती, जंगल, जल, सूरज, चाँद, अग्नि, नाग, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे इनके संसार के सर्जक और पालनहार हैं जिनकी पूजा ये अपने सभी धार्मिक उत्सवों, समाराहों और यहाँ तक कि मृत्यु-संस्कारों में भी करते हैं। संधालों के परमेश्वर ‘टाकुर जिउ’ हैं। बिरहोर ‘कांदो बोंगा’ को विश्व का सृजनहार मानते हैं। ‘लिछाबा’ नागाओं के भगवान हैं। ‘ब्रह्म देवता’ दुबला-कबीला के प्रमुख देवता हैं। वर्ली किसी देवता की पूजा नहीं करते। वे बुरी आत्माओं को समस्त बुराइयों की जड़ मानते हैं। जंगल की गोद बसने के कारण हिंस्र-पशु ही उनके सबसे बड़े शत्रु हैं जिनके साथ मित्रता साध कर रहने को ये सुखी जीवन का मूल मंत्र मानते हैं। इस कारण ही ये बाघ की स्वामिनी ‘वाघ्य देवी’ की पूजा करते हैं।

इस तरह क्या हिन्दू और क्या कबीले, इन सबों के धार्मिक विश्वास; या कह लीजिए कि सम्पूर्ण भारतीय जन जीवन ही, मिथक और किम्बदंतियों से घोर प्रभावित है। जीवन यापन की धारिताओं पर इनकी जबर्दस्त पकड़ आज भी बनी हुई है।

हमारे बिहार, खासकर उत्तरी बिहार, जो सांस्कृतिक तौर पर ज्यादा संपन्न भूखंड है, में जन सामान्य की रागात्मक वृत्तियों की अभिव्यक्ति अनेकशः कवि-कलाकारों की अनुभूतियों से सिंचित होकर आज भी श्रुति और वाचिक परम्पराओं में खुलकर जीवन-आनंद का स्रोत बनी हुई है। राजा सल्लेस, कारु खिरहर, दीना भद्री, हरिया डोम, योद्धा रणपाल, दुलरा दयाल सिंह, विशु रावत जैसे कितने ही महामानवों का यशोगान

इस अंचल के जन समुदाय का कंठहार बनकर जन-मन को उल्लासित किये रहता है। ये तमाम महामानव यहाँ लोक देवताओं की प्रतिष्ठा में पूजीत और लोक नाट्यों के माध्यम से चर्चित हैं। इनके अलावा, काली, कमला, जल्पा आदि इस इलाके की पूजीत देवियाँ हैं।

इस तरह ही उत्तराखंड, जो हमारा वर्तमान निवास है, का लोक साहित्य भी यहाँ की संस्कृति और लोक जीवन को अपने में समेट कर उनके जीवन-ऊष्मा का प्रधान स्रोत बना हुआ। यह सम्पूर्ण क्षेत्र ही प्रागैतिहासिक परंपराओं की धरोहर कहला सकने की अहमियत धारता है। हिमालय का साज-संवार करने वाला यब भूखंड सर्वत्र पहाड़, पठार, जंगल, नदी और सोताओं से अटा पड़ा है। यक्ष, कोल, नाग, किन्नर, भील, किरात यहाँ के मूल निवासी हैं जो स्वभावतः प्रकृति पूजक हैं। हिमालय के स्थल में निवास और श्वास लेने के कारण अग्नि और जल इनके आराध्य है। हिमालय से निकलने वाली नदियाँ- मन्दाकिनी, अलकनंदा, सरस्वती, भागीरथी, काली गंगा, धूलि गंगा, इनकी पूज्य देवियाँ हैं। अग्नि की पूजा ये ज्वाला, ज्वालामुखी, झाली-माली आदि नामों से करते हैं।

कबीलाई समाज अलौकिक शक्ति में विश्वास करता है, इसलिए अपने ऊपर आयी हुई विपदा और आपदा को वे इन शक्तियों का प्रकोप और मिलने वाली सुख-सम्पदा को परोपकारी दिव्य आत्माओं का प्रसाद मानते हैं। इस हेतु यहाँ के अनुभवी बुजुर्ग ही सामान्यतः इनके पुजारी, ओझा या भगत होते हैं और इनके मन्त्र भी इनके बोल-चाल की भाषा में किसी भी छंद-लय के अनुशासन से मुक्त सहज निवेदन-वाक्य भर होते हैं। इन भीलों में एक प्रचलित अनुष्ठान है- आठी वटी पूजा। नई फसल के खलिहान आने पर कुलदेवी की पूजा की जाती है जिसमें घर का प्रधान इस मंत्र से अनाज की ढेर की पूजा करता है- कोणी-कांगड़ी, जोहन; बरकत; निस्बेन; कसबे; बासही; फोसडी; आ आमुह आपति चाल जी आ आमु ताहा गराह आपताहा (यानी, कुलदेवी, आप मेरी माता हैं। हम आपकी पूजा कर रहे हैं। आप हमारे घर में कभी भी अन्न की कमी मत होने देना। हमारे सभी पालतू पशुओं की वृद्धि

करना, अन्न-धन की बरकत देना और हमारा वंश बढ़ाते रहना)।

कबीलाई जीवन अत्यंत सरल होता है। इनके समाज में कोई वर्णानुक्रम नहीं होता और इनके धार्मिक अनुष्ठानों के लिए कोई धार्मिक ग्रंथ नहीं होता। यह लोक साहित्य का ही अवदान है कि अभिजन न होते हुए भी, किसी भी अभिजनत्व की पेंचीदगी से मुक्त रह कर भी, सहज, सादा जीवन जीने वाले जनसाधारण की संस्कृति और विश्वास आज भी पूरी संजीदगी में कायम है। हाँ, सभ्यता के उत्थान से जीवन शैली में आ रहे नित नूतन परिवर्तन के कारण इनके जीवन और साहित्य में भी परिवर्तन ज़रूर हो रहा है जो आवश्यक भी है।

जीवन के संस्कार

इस धरती पर मौजूद जीवन में अनेक लोकातीत रहस्य जुड़े हुए हैं। दूसरी और मनुष्य की बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संरचना के निर्माण और इसके संचालन के लिए मानव ने अनेकानेक संस्थाओं का भी निर्माण किया है जो इस प्रक्रिया में मदद करते हैं। हमारे देश में पैतृकवादी और संरक्षणवादी संस्थाओं का निर्माण थोड़े-बहुत अंतर के साथ तमाम समाज में किया गया है। अध्यात्मिक विश्वास सामाजिक संरचना को प्रतिबिंबित करते हैं। देवी-देवता, मिथक और अनुष्ठान प्रथाएं प्रमुख सामाजिक मूल्यों और सम्बन्धों के प्रतीक हैं और ये कार्य समाज को एक करने, संबद्धता प्रदान करने, भाईचारा बढ़ाने और निरन्तरता कायम करने के लिए किये जाते हैं (विख्यात मानव शास्त्री साहलिनस)। हमारे देश में धर्म कई खण्डों और स्तरों में विभाजित एवं एक दूसरे से विभंजित हैं जिस कारण लोग यहाँ आत्माओं को अलग-अलग रूपों में देखते हैं और ये आत्माएं भी अलग-अलग स्तरों पर स्थापित होती हैं। ऋग्वेद में ब्रह्मांड को एक विराट पुरुष के रूप में मान्यता दी गयी है जिसका पैर भूलोक है, नाभि भुवर्लोक (आकाश) है और सिर स्वर्लोक (ज्ञान लोक) है। इस पदानुक्रम का सीधा संबंध हमारी आत्मा की प्रतिष्ठा से जुड़ा हुआ है। पूर्वज आत्माएं वंश अथवा वंशानुक्रम की अधिष्ठाता देवी/देवता

होती हैं। सद्यः मृत मानव जब तक अपने पद को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह प्रेतात्मा होता है जो चमत्कारी, प्रभावकारी, विस्मयकारी अथवा दुखदायी, कुछ भी हो सकता है। यह विश्वास थोड़े बहुत अंतर के साथ हर समाज, सभ्य-असभ्य; आर्य-अनार्य; जनजातीय; वनवासी; सभी में व्याप्त है। हमारी जीवन शैली के अनुसार इस विश्वास की प्रकृति में अंतर है। हमारे तमाम अनुष्ठान इस व्यवस्था के ईर्द-गिर्द ही घूमते हैं। जनम, मृत्यु या बीमार पड़ने पर हर्षदायक या शोकजनित आयोजन होते हैं। इन तमाम आयोजनों की प्रकृति धार्मिक के साथ-साथ सामाजिक भी होती है और पूर्वजों से आज तक इनके संचारण का संवाहक हमारा लोक साहित्य ही होता है। लोक साहित्य हमें स्थानीय समूह बनाकर एक साथ दुःख और सुख में साझीदारी बनने की प्रेरणा देता है। घरेलू स्तर पर हमें पूर्वजों से जोड़कर उनका उत्तराधिकार और वंशानुगत विकास संपन्न करके अपनी संतानों के प्रति दायी बनाता है।

कई समाज, खासकर वनवासी और जनजाति समाज में प्रकृति को अलौकिक शक्तियों का आधार माना जाता है। जैसे भूकम्प, वर्षा, आग या महामारी वगैरह को अलौकिक शक्तियों का प्रकोप माना जाता है और इनके शमन के लिए प्रकृति के विभिन्न अवरूपों, अवयवों की पूजा अर्चना की जाती है।

हाल के वर्षों तक अथवा आज भी कई-कई वर्गों में चेचक को छोटी माता का प्रकोप समझ कर शीतला माता की पूजा करके इस महामारी से निजात पाने की कोशिश की जाती है। इनके प्रभाव में ही हमने नदी-नालों, वृक्षों, पशुओं से संबंध और व्यवहार साध रखा है। जैसे, गंगा माता, कोशी मईया, छठी मईया। साँप को हम दूध पिलाते हैं, पेड़ों में जलधार डालते हैं। इन व्यवहारों के गीत, व्याख्यान, आख्यान, दंत कथा, लोकोक्ति, मुहावरों से हमारे लोक साहित्य भरे पड़े हैं। इनसे हमें सर्वव्यापी सांस्कृतिक सरोकारों, नैतिकताओं और समुदाय अथवा समाज के सामूहिक कृत्यों की समझ मिलती है।

जन्म में हम सोहर गाकर अपनी वंश-वृद्धि का

आनन्द मनाते हैं। उपनयन, विवाह आदि संस्कारों में हम गीतों के द्वारा जीवन की बहुविध व्यवस्थाओं और सम्बन्धों का अनुमोदन करते हैं, मृत्यु पर शोक गीत गाकर संसार की अनश्चरता का अनावरण करते हैं। ऐसा करने से हमारे मानवीय संबंध उद्दीप्त और तरोताजा हो उठते हैं। हमारी आत्मा जागृत हो जाती है, हमारी रागात्मकता परवान चढ़ती है। बिहार के कोशी अंचल का कंठहार बने एक लोक गीत में एक गर्भवती स्त्री की पीड़ा और पति-पत्नी के आपसी संबंध की अपेक्षाओं की मार्मिकता देखिये, आम दोम चालक कान फारबिसगंज नौकरी, इङ्गु बागियेज, घरेर घरनी दिन दिसय में चान्दो भनति एम मानो चंदोरेन बालक मीनाय (हे प्रिये! तुम तो फारबिसगंज नौकरी ढूँढने जा रहे हो और मुझे घर की मालकिन समझकर घर ही छोड़े जा रहे हो। जाओ प्रिय, किन्तु दिन और गिनती याद रखना। मैं पाँच महीने के गर्भ से हूँ)।

पर्व-त्यौहार

जीवन का प्रत्येक दिन नयी आशा, नया उल्लास लेकर आता है परन्तु हमारे पर्व-त्यौहार पारंपरिक होने के कारण कुछ ज्यादा खास और भावनात्मक होकर आते हैं। हमारे पर्व त्यौहार, हमारे क्षेत्र विशेष की धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विशेषताओं के प्रति हमें सजग बनाए रहते हैं। लोक साहित्यों में रचे-बसे हमारे उत्सवों का सीधा संबंध हमारे जीवन में खुशियाली लाने वाले कारकों से होता है। जैसे फसलों की कटाई-बुआई, ऋतुओं का आगमन, मानवीय संबंधों की गर्माहट, आस्थाओं की दृढ़ता वगैरह। होली, दशहरा, दीवाली, रक्षा बंधन जैसे त्यौहार तो हमारे सामाजिक समूहों के लगभग तमाम समुदायों में हमारी संस्कृति की स्मृति बनकर उभरते होते हैं, परंतु दलितों और वंचितों के लिए इनका महत्व कुछ ज्यादा ही बढ़-चढ़ कर हो जाता है। हाशिये पर ठहरा हुआ जीवन इस उल्लास और उत्साह से लबालब हो जाता है और बड़ी ही सहजता से, कुछ समय के लिए ही सही, जीवन की रहस्यमयता और उसकी जटिलता को

॥ अनुशीलन ॥

अपने रीति-रिवाजों, आस्था-विश्वासों, प्रतीक-प्रतिदानों के द्वारा हम भेद सकने में सक्षम हो पाते हैं। यह भेद सकना ही वह कर्म है जिसमें सचेत मनीषा और सहज संवेदना के मेल से हमारा जीवन-दर्शन नया उन्मेष, नया आयाम पाता है और विशद अंधकार में आशा की कौंध व्याप जाती है। हमारे लोक साहित्य जन समूह के जीवन की शाश्वतता को इन पर्व-त्योहार, उत्सवों के बहाने नैसर्गिक पवित्रता प्रदान करते हैं। इन त्योहारों का आनंद हम पारम्परिक गीतों, नृत्यों, नाट्यों, कथा-वाचनों आदि की प्रस्तुति में पाते हैं।

उत्तरी बिहार में बड़े पैमाने पर सामा-चकेवा, सती बिहुला, कुंवर वृजभान, जमीला-सारी, आल्हा-रुदल, जट-जटिन, राम खेलिया आदि लोक कथाओं का संगीतमय मंचन होता रहता है। मध्य बिहार का कर्मा नाच आदिवासियों के बीच काफी प्रिय है। करिया जूमर और विदापत नाच मिथिला क्षेत्र का प्रधान लोक नृत्य है। बिहार में कहीं-कहीं मुहर्रम के अवसर पर शोक मनाने के लिए झरनी नृत्य का आयोजन होता है।

उत्तराखंड के झुमेलो और चोलिया नृत्य पौराणिक योद्धाओं के स्मरण में आयोजित होता है। ‘राम रमण’ यहाँ का कई दिनों तक आयोजित होने वाला एक पर्व है जो वैशाख माह में भौमिया देवता के पूजन, स्मरण के लिए मंदिरों के प्रांगण में आयोजित होता है। चंचरी नृत्य यहाँ के मेलों में आयोजित किया जाता है। उत्तराखंड के रवाई क्षेत्र (उत्तरकाशी जनपद का पश्चिमोत्तर क्षेत्र) में एक बहुत ही लोक प्रिय गीत-नृत्य है - तांदी नृत्य। इसमें स्त्री-पुरुष एक साथ होकर वृत्त बनाकर अति आनन्द और उत्साह में नाचते-गाते हैं। क्षेत्र के दिवंगत जन नायक, देवी देवता, विशिष्ट घटनाएं अथवा आपदा इन गीतों की थीम होते हैं।

कृषि कार्य एवं वैज्ञानिकता

भारतीय जन लोक में किसान और काश्तकारों का स्थान पहला है, चाहे वे भूमिहीन मजदूर हों या फिर मेहनत-मजदूरी करनेवाले भूस्वामी। इनका समस्त जीवन जल, ज़मीन और जंगल पर ही मुनहसर करता

है। इनकी सामाजिक दशा अपेक्षाकृत दयनीय और चिंताजनक होती है। अपनी नितांत निजी जिन्दगी में थपेड़ों, घात-प्रतिघातों, दुःख व आभावों से वे अक्सर ही आहत और निराश होते हैं। ऐसे में उनके संघर्ष ने उनके अनुभवों ने, प्रकृति से उनके अटूट सम्बन्धों ने उनमें उदात्त चिंतन और वैज्ञानिक प्रवृत्तियों के भाव जगाए जो स्वरबद्ध होकर उक्तियों, लोकोक्तियों, गीतों, सूत्र वाक्यों में उतरकर उनके कल्याण, आरोग्य और सुखमय जीवन के मंत्र बन गए। प्रकृति ने अपने संकेतों से उन्हें बहुत कुछ समझाया, सुझाया। और, इन्होंने उन्मुक्त गगनचारियों- कौआ, कोयल, कबूतर, मैना, सुग्गा या फिर जंगल में विचरते और पालतू पशुओं के व्यवहारिक संकेतों का गहन परीक्षण करके अपने कार्यों के प्रारंभ, समापन या स्थगन का आधार बना लिया। ‘रामचरितमानस’ तो ऐसे दृष्टान्तों से भरा-पड़ा है।

दीख निषादनाथ भाल टोलु।

कहेनु बजाऊ जुझाऊ ढोलू॥

इतना कहत छीक भई बाँए।

कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाए॥

बूढ़ एक कह सगुन बिचारी।

भरतहि मिलिअ न होइहि रारी॥

पुरजन-परिजन, प्रजा-परिवार सबके साथ भरत राम से मिलने जा रहे हैं। रास्ते में आदिवासियों का लोक श्रृंगबेरपुर में प्रवेश कर ही रहे हैं कि निषादनाथ को भरत की मंशा पर शक होता है और वह अस्त्र-शस्त्रों से सजकर अपने दल-बल को भरत के काफिले पर आक्रमण करने का आह्वान कर देता है। इतने में उसके बाएँ तरफ से एक बूढ़े ने छींक दिया और सबके सब ठिठक गए। फिर सगुन विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि भरत राम को मनाने जा रहे हैं, न कि उनसे संग्राम करने। और, इस विचार के आने भर से एक अनावश्यक मार-काट होते-होते रह गयी। लोक व्यवहार में इस तरह से ही संकेतों के अनुभवजन्य परिणाम निर्णयों के आधार बनते हैं। संकेतों को

॥ अनुशीलन ॥

व्यावहारिकता में उतार लेने के कुछ और रोचक उदाहरण देखिये वह भी 'रामचरितमानस' से ही—

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि । ... चलत होहिं अति असुभ भयंकर । बैठहिं गीध उड़ाई सिरन्ह पर ।। ... जब अति भयऊ बिरह उर दाहू । फरकेउ बाम नयन अरु बाहू ।। सगुन बिचारी धरी मन धीरा । अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा ।। ... हमारे पूर्वजों ने जीवन की कार्यविधि और व्यवहारों पर नियंत्रण की प्रविधियां ऐसे ही संकेत-वाक्यों में पीरो कर रक्खी थीं ।

कृषि कार्यों के उपयोग में आनेवाले उपकरणों की पहचान, मॉनसून की गतिविधियों की परख, फसलों के उपचार, ऐसे तमाम व्यवहारों के लिए लोक विरचित साहित्य को, भले ही वे अलिखित ही हों, अपनी जिन्दगी का संविधान बना रखा था । घाघ-घाघिन के दोहे तो उस समय के कृषि और मौसम विभाग के यंत्र ही बने हुए थे:

आदि न बरसे आदरा, हस्त न बरसे निदान । कहे घाघ सुन घाघिन, अब ना उपजे धान (आद्रा नक्षत्र यदि शुरू में ही न बरसा और अच्छी तरह बरस कर हथिया नक्षत्र ने भी इसका निदान नहीं दिया, तो किसान! यह समझ लो कि इस साल धान की उपज होगी ही नहीं) ।

उत्तर चमके बादरा, पूरब बहे जो बाब ।
घाघ कहै घाघिन से बरसा बरसय आव ।
चमके पछिम उत्तर कोर ।
जानो पानी बरसे जोर ।

इस तरह के ही एक कृषि-विशेषज्ञ भड्डरी भी हमारे पुरोधाओं के बीच कृषि संबंधी ज्ञान के एक प्रमुख स्रोत थे । इनकी भी एक बानगी,

शुक्रवार की बादली, शनिवार रहे छाय ।
भड्डरी कहे सुन रे गुनी, बिन बरसे नहीं जाय ।

हमारे लोक साहित्य प्रकृति के स्वभाव, उसके लक्षण, उसके प्रतिपादन, उसके कोप इत्यादि को समझने और तदनुसार आचरण करने के दिशा निर्देशों के अद्भुत कोष हैं । रोगों के लक्षण, औषधियों की पहचान, प्रकृति में स्वास्थ्य सम्बन्धी तत्वों की उपलब्धियाँ,

स्वस्थ रहने हेतु आवश्यक सावधानियाँ इनमें भरे पड़े हैं । आहार-व्यवहार, खान-पान, रोग-बिमारी आदि को लेकर भी उस समय के अनुभवी और गुणी जनों ने ऐसे उद्गार व्यक्त किये हैं जो आज के स्वास्थ्य विज्ञानियों के लिए भी तत्त्व-चिंतन का विषय है । कुछ बानगी इसकी भी,

हरा-बहेरा, आंवला, नित्य-प्रात जो खाए ।

हाथी दाबे काँख तर कबहु बैद न बुलाये ।

(‘त्रिफला के गुण’)

चैत गुड़; बैशाखे तेल; जेठ बंध; अषाढ़ बेल; सावन सतुआ; भादो दही; आसीन करेला; कार्तिक मही; अघन जीरा, पुशय चना; माघई मिश्री; फागुन गना; नहीं खाय सो रहे बना । (भोज्य पदार्थों से मौसम की प्रतिकूलता), चैत सोबे रोगी; वैशाख सोबे जोगी; जेठ सोबे राजा, आषाढ़ सोबे भोगी । (अकर्मण्यता पर अंकुश)

इस तरह लोक साहित्य में विरल संदृष्टि का ऐसा विकास है जो हमारे हर आचार-व्यवहार पर प्रखर प्रभाव डालता है । अनुभवजन्य बुद्धि की तीक्ष्णता, दार्शनिक दृष्टि का सन्निवेश और मानवतावादी चेतना बड़ी ही सहजता से और भावप्रवणता में हमारे लोक साहित्य में उपस्थित हैं जो आदिकाल से आज तक बेसहाराओं के सहारा बने हुए हैं ।

शौर्य गाथा

जब विभिन्न व्यक्ति एक दूसरे के संपर्क में पारिवारिक या सामुदायिक स्तर पर आते हैं तो इनके बीच स्वाभाविक तौर पर प्रेम के साथ-साथ कई प्रकार के संघर्ष भी होते हैं । पारिवारिक कलह तथा सामाजिक उत्सवों के सन्दर्भ में झगड़ों को निम्न स्तरीय संघर्ष का कारण माना जाता है । ग्रामों और कबीलों जैसे बड़े समुदायों में जल संसाधनों, चारागाहों, कुआँ और नदियों के जल के बंटवारे को लेकर उच्च स्तरीय संघर्ष सामाजिक और सामुदायिक जीवन में हमेशा होते रहते हैं, जो कई बार हिंसात्मक भी हो जाते हैं । धर्म, जाति, भाषा के आधार पर अपनी पहचान और अपने वर्चस्व के लिए संघर्ष आदि युग से ही होता

॥ अनुशीलन ॥

आया है। प्रारंभ से ही महिलाएँ पारिवारिक दुर्व्यवहार, हिंसा, यौन शोषण और भावनात्मक उत्पीड़न का शिकार होती आयी हैं। संरचनात्मक हिंसा भी इनके साथ अति प्रचीन काल से ही होता रहा है। सबसे ज्यादा पीड़ित तो वे गरीब युवा विधवाएँ और बूढ़ी महिलाएँ हैं जिनमें अपने जीवन निर्वाह की क्षमताएँ ही नहीं होतीं। इस तरह युद्ध और संघर्ष शुरू से ही हर समाज में अनिवार्यतः घटित होते रहे हैं जिसका प्रमुख कारण प्रभुत्व और नायकत्व की स्थापना रहा है।

लोक साहित्य में भी इन तमाम तरह के संघर्ष और युद्धों का वर्णन कथा, गाथा, गीत, स्वाँग और आख्यान के तौर पर होता रहा है और इनके द्वारा समाज ने अपने-अपने घरेलू, आंतरिक और अन्तर्राज्यीय संघर्षों की जड़ों में व्याप्त संरचनात्मक अन्याय का बखान किया है और अपने-अपने नायकों का यशोगान भी किया है।

‘आल्हा-उदल’ की बहादुरी के किस्से की काव्यात्मक गाथा जितनी लिखित साहित्य में आकर नहीं अमर हुई उससे कहीं ज्यादा यह वाचन, गायन और नाट्य परम्पराओं में विकसित हुई।

उत्तरी बिहार के अररिया जिले में सैतपीर का नाच काफी प्रसिद्ध है। यह नाच सोलहवीं शताब्दी के सूफी संत सैयद पीर की परोपकारिता एवं उनके कल्याण कारक कर्मों की स्तुति गाथा है जिसे सुर्यापुरी भाषा में प्रस्तुत किया जाता है।

बिहार के भोजपुर क्षेत्र की ‘लचिया की गाथाएँ’ कोशी अंचल में ‘बिहुला बाला लखंदर’, राजस्थान में ‘ढोल मारू’ की गाथा, पंजाब में ‘हीर राँझा’ और ‘ढोल मारू’ की प्रेम गाथाएँ यहाँ के साधारण जनों के कंठहार हैं। मध्य बिहार में ‘कुंवर विजयमाल’ और ‘आल्हा’ वीर रस की गाथाएँ हैं। ‘सोरठी वृजभार’

इस क्षेत्र की नायिका प्रधान, रस प्रधान गाथा है। इसके अलावा नागपंथी राजा भरथरी और रानी सामदेयी और राजा गोपीचंद की गाथाएँ त्याग और संसार से विरक्ति के भावों की बड़ी ही मार्मिक गाथाएँ हैं जो बंगाल, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के योग साधकों के बीच काफी लोकप्रिय हैं।

उत्तराखण्ड में ‘गोरख्याणी’ के नाम से याद की जाने वाली एक अत्यंत कुत्सित अत्याचार की बारदात हुई थी जिसमें गढ़वालियों पर गोरखों द्वारा कहर बरपाया गया था। इसकी याद में यहाँ मेलों में या उत्सवों में कई-कई गीत मंचित होते रहते हैं। एक गीत के बोल देखिये, भुजेलू की बड़ी, शोभा लान्दू गोरख्या हिमोल्या की अड़ी (अर्थात्, शोभा गोरखा हिरमोली को ले जाने के लिए अड़ा हुआ है)।

मेरा मानना है कि साहित्य जैसे ही प्रतिबंधों और नियमों में बंधता है, यह आदर्शों और अनुशासनों का दास होने लगता है। मनुष्य का जीवन स्वतंत्र होने के कारण ही पल-प्रतिपल अपनी प्रवृत्तियों में परिवर्तन लाता है और इन परिवर्तनों के प्रभावों को यदि साहित्य में निरूपित करना हो तो साहित्य को अनुशासन के बंधनों से मुक्त करना ही होगा। लोक साहित्य ऐसे किसी भी बंधन को स्वीकार नहीं करने के कारण ही सजीव, सचल और काल सापेक्ष सच बना हुआ है। यह मानव जीवन की गतिकी का, उसके द्वारा लाए गए और भोगे हुए परिवर्तनों का, उसकी तमाम अच्छाइयों-बुराइयों का और उसके अतीत से प्रभावित संभावनाओं का साहित्य है जिसे संपूर्ण मानवों की कल्याण-चिंता में हमें संरक्षित, सुरक्षित और परिवर्द्धित करते ही रहना होगा अन्यथा आने वाली पीढ़ियाँ हमें माफ़ नहीं करेंगी।

हिमाद्री, 54, राजेश्वर नगर फ़ेज 1, गली 1,
स्ट्रीट 5, सहस्रधारा रोड, देहरादून - 248001
मोबाईल : 9717022082
ई-मेल : ddyttaoandey@gmail.com

लोक संस्कृति, मिथक एवं प्रगतिशीलता

- सेवाराम त्रिपाठी

“समसामयिक समाज में दो विपरीत प्रवृत्तियाँ लक्षित हो रही हैं। एक ओर पृथ्वी की दूरियाँ सिकुड़ रही हैं और मानव जाति ‘एक ग्रह एक मानवता’ के आदर्श की ओर बढ़ती दिखाई दे रही है; वेश-भूषा, खान-पान, मनोरंजन आदि के क्षेत्रों में परंपरागत सीमाएँ टूट रही हैं और एक नया रुचि-वैविध्य लोकप्रिय होता जा रहा है, जो ‘अपने’ और ‘पराए’ के बारे में अधिक चिंतित नहीं है; कलाएँ इस पारस्परिक आदान-प्रदान से अछूती नहीं रही हैं, उनमें ‘पर-संस्कृति’ प्रभाव व्यापक रूप से देखे जा सकते हैं।” (श्यामाचरण दुबे-परंपरा, इतिहासबोध और संस्कृति)

लोक हो लोक संस्कृति हो, लोक प्रविधि हो लोक की जीवनशैली हो ये सब आपस में गुंथी-बिंधी भी हैं और गहराई से जुड़ी हुई भी हैं। लेकिन ये इन सबसे अलग भी हैं। यह कोई पहली भी नहीं है। लोक को उसके आयामों, विविध पहलुओं को जानने-पहचानने, सहेजने के लिए हमें लोक की व्यापक अवधारणाओं को बारीकी से तलाशना एवं ऑब्जर्व करना पड़ता है, क्योंकि वह बहुत व्यापक और भरपूर जीवन मूल्यों, नैतिकताओं और सपनों से संपृक्त है। महामानव समुद्र उस लोक को यूँ ही नहीं कहा गया है। उसे ऐसे ही नहीं जाना-पहचाना जाता है। लोक की संवेदना और त्रासद स्थितियों को पाने के लिए अंततोगत्वा हमें लोक के भीतर के कारकों, परिस्थितिकी, घमासानों और उसकी मंशाओं को देखने-समझने और कालांतर में लिखने का कार्य करना होता है। लोक में झाँकना, उसकी असलियत को, रूढ़ियों को, उसकी प्रविधि और व्याप्ति को अनुभव करना होता है। यही नहीं उसके जीवंत तथ्यों को विश्लेषित भी करना होता है। तभी हम लोक संस्कृति के खजानों के कुछ अंशों को समझ पाते हैं। क्योंकि लोक में हमें संपन्न करने की अपार क्षमता है। लोक के अवयवों, प्रपत्तियों और प्रश्नों के उत्तर तलाशने से हमें लोक के हाहाकार को समझने की दृष्टि भी मिलती है और उसका आस्वाद

भी। हाँ, जो लोक की मालाएँ जप रहे हैं उन्हें छोड़कर लोक को पाने की कोशिश को जिसने समझ लिया, उसके तमाम पट भी खुल जाते हैं और उसे लोक की दिशा की निश्चितता के बारे में कुछ कहने का ढंग, कोण भी आखिर मिल ही जाता है।

लोक अभिमान की दुनिया नहीं है, वहाँ मनुष्यता, विनम्रता और लोकसंस्कृति की गतियों से साक्षात्कार भी संभव है। हो यह रहा है कि कुछ स्वार्थी और अधकचरे उसे अपने चश्मे, फ्रेम और अपनी स्वार्थसिद्धि के विशेष कोण से देखने-सहेजने लग जाते हैं और उसे अपने तई चीजों को देखने-समझने और बर्ताव का नज़रिया बना लेने में जुट जाते हैं। ऐसे लोग कहीं भी जा सकते हैं। एक तथ्य यह भी है कि वो ज़िंदगी को और लोक संपृक्ति को आधे-अधूरे से ही पूर-पार और ठीक-ठाक बना देना चाहते हैं। वे अल्प विराम की स्टाइल में जुड़ तो जाते हैं लेकिन अपनी दिशाएँ भी आसानी से बदल देते हैं। हाँ, लोक की संवेदना उन्हें मथती ज़रूर है। वह उन्हें कहीं भी ले जा सकती हैं और उस लोक संवेदना के मार्फत वे अपने प्रश्नांकन भी करते हैं साथ ही साथ अपने ढंग से उनके उत्तर खोजने और प्रस्तुत करने की कोशिश भी करते हैं। लोक को हासिल करने की निर्लज्जता उनसे सब कराती है। उनके यहाँ अपनी तरह का अल्पविराम, अर्द्धविराम और पूर्णविराम भी आ जाया करता है। उनके लोक का अपना व्याकरण है। उनकी अपनी कहन-भंगिमा है और अपनी भाषा और शैली भी है। जो संवेदना में भीगी हुई है और अपने अनुकूलन में उत्तरों को हल करती है और फैलती-पसरती है। यह लोक संवेदना का झूठा वितान है। वे चीजों की वास्तविकताओं को एकदम से पकड़ते-छोड़ते हैं और अंततोगत्वा अपनी बनाई दुनिया में कैद हो जाते हैं।

यह इसलिए कहना पड़ रहा है कि झूठे लोग लोक को मनमाने ढंग से गा-बजा रहे हैं। ज़ाहिर है कि लोक की विराट दुनिया है, उसका विराट कैनवास है। लोक

को बूझने का अप्रतिम संसार है। लोक संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में घुसकर न जाने कितने खज़ाने और प्रपत्तियों से साक्षात् होता है। वो यूँ ही महामानव समुद्र नहीं है। वहाँ महाभारत, रामायण, उपनिषद, पंचतंत्र, घाघ, भड्डरी और न जाने क्या-क्या चीज़ें हैं? वहाँ विभिन्न धर्मों के हज़ारों हज़ार रूप हैं। उनके यहाँ की यात्राओं के अपने अनेक रूप हैं। कहीं हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं, कहीं रामचन्द्र शुक्ल, कहीं कबीर, जायसी, तुलसी, मीरा, रसखान, ग़ालिब, बहादुर शाह ज़फ़र और समय-समाज की परिस्थितिकी है। लोक संस्कृति का पारखी लोकगाथाओं, लोकगीतों एवं लोकरंगों के साथ अपना सामंजस्य बिठाने की भरपूर कोशिश करता है। यह कोई ज़रूरी नहीं कि वो पूरा का पूरा बैठ ही जाए। उनके यहाँ सहमति असहमति के अनेक दायरे हो सकते हैं। उनके यहाँ प्रश्नांकनों के अनेक रूप और स्वर हैं। दिखता यह है कि वे रूढ़ियों को एक ओर खिसकाकर चलते हैं। विकास के प्रश्न रचते हैं। यह ज़रूरी नहीं कि वे परम्पराओं से एकदम अलग हों और समाज जिस रूप में ढल रहा है और इस दौर में जो घट रहा है उन सब में वे डुबकी लगा ही लें या उसे पार कर ही लें लेकिन उनकी कोशिश यह होती है कि लोक की कुछ झाकियाँ हैं। वह लोगों को दिखाने की कोशिश ज़रूर करें। लोक जीवन पर काम करने वाले लोक के अनेक प्रश्नों को वे अपने लेखों, कहावतों, मुहावरों और लोक की विभिन्न स्थितियों में उठाते हैं। दूसरे वे इनका हल भी खोजने का प्रयत्न करते हैं। लोक संस्कृति के व्यापक संसार में रमने वाला, लोक की विरासत को सच में पहचानने का प्रयत्न करने वाला कई तरह से लोक को हासिल करने का प्रयत्न करता है। हालांकि लोक की विरासत बड़ी है। वह एक समुद्र है और उस विशाल समुद्र में कई तरह की चीज़ें हैं। कई तरह के रत्न हैं और कई प्रकार की विभीषिकाएँ भी हैं।

मुझे एक कथा याद हो आई। हमारे लोक में एक टिटहरी होती है, जब पानी बरसता है, वह अपने डैनों के बल पर उसे रोकना चाहती है और जब पानी बरसना बंद हो जाता है, तो खुश होती है कि उसी के प्रयास से ऐसा हो गया। उसके डैनों में समूचा

आकाश टंगा था। लोक की बड़ी व्यापक दुनिया है। कोशिश हम समेटने की करते हैं। लेकिन पूरा का पूरा आखिर कहाँ समेट पाते हैं? लोक अवधारणाओं में भी यह कोशिश है कि वह समूचे लोक को आसानी से समेट लें, या अगस्त्य ऋषि की तरह दो चुल्लू पानी में पी जाएं। जितना काम करने वालों से सधा वह कार्य उन्होंने किया। जो छूट गया वो आने वाले दिनों में लोग अपनी तर्ज अवश्य करेंगे।

लोक संस्कृति का क्षेत्र परिमित नहीं है, लोक में मिथकों, कहावतों, मुहावरों और लोक कलाओं का अपनी तरह का लोक व्यवहार है। मेरी समझ में लोक को समझना अपने आपको समझने का भी उपक्रम है। लोक कोई ठहरी हुई चीज़ नहीं है। उसका प्रसार, व्यापकता, गहराई और घनत्व अनेकमुखी है। लोक के भीतर अनेक तहखाने भी हैं। समाज और दुनिया में नये से नये संसार को रचने के नये-नये आयाम भी हैं। वहाँ चीज़ें आसानी से नहीं मिलतीं। उन्हें बार-बार खोजना पड़ता है। इसलिए लोक कभी भी मात्र महानों के चक्कर में नहीं पड़ता। वह अपने मिथकों और रूपकों के द्वारा बड़े से बड़े दैवीय विधानों और देवी देवताओं को अनेक दायरों में स्वीकृत अस्वीकृत करता है। संभवतः इसीलिए लोक के भीतर जो समाया हुआ है वह बहुत दूर तक जाता है। हर आदमी और हर लेखक लोक को अपने अनुसार खोजता और रचता है। वह लोक को ढेरता भी है और अपनी समझ की परिधि में उसे महसूस भी करता है। क्या कुन्ती पर लोक ने प्रश्नांकन नहीं किये? भीष्म बड़े महान हैं। क्या वे लोक के प्रश्नों के दायरे में नहीं आये? क्या लोक के दायरे में पाण्डव नहीं हैं या कृष्ण और राम नहीं हैं? क्या हनुमान लोक के दायरे में नहीं हैं? जिन्हें अच्छा, सुसंस्कृत और अच्छे आदमी के रूप में चित्रित किया जाता है लोक उनके पदों को सहज रूपों में ही उठा देता है।

मुझे मुकुटबिहारी सरोज की वो पंक्तियाँ याद आयीं जिसमें उन्होंने कहा था, ‘सब प्रश्नों के उत्तर दूँगा। लेकिन आज नहीं।’ लोक सभी प्रश्नों के उत्तर तत्काल नहीं देता। उससे यह अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। कभी भवभूति ने कहा था कि

॥ अनुशीलन ॥

जो मेरा समानधर्मा है मैं उसी के साथ होऊँगा और उसी में अपने आपको खोजूँगा। उनका यह भी विश्वास था कि वह समानधर्मा मुझे भी खोज लेगा। लोक हम सबको निरन्तर खोजता है। फिर उससे अपने को छिपाना क्या है? जो अपने आपको छिपाकर लोक के सामने बड़े सदाचारी के रूप में चित्रित करता और बखानता है। उसे लोक ऐसे ही छोड़ देगा क्या? राजा नंगा है यह छोटे से बच्चे ने कहा था क्योंकि वह किसी से डरता नहीं था। इसलिए यह देखना जरूरी है कि लोक न किसी से डरता और न किसी का लिहाज करता। हाँ, अनेक राजा या तानाशाह उसे अपने अनुरूप बनाने-दिखाने की कोशिश करते हैं। चार्ली चैप्लिन ने क्या हिटलर को बख्शा। मार्टिन लूथर किंग ने क्या पोप को बख्शा।

लोक को खोजने में अनगिनत लोगों ने अपनी जिंदगी गुज़ार दी। देवेन्द्र सत्यार्थी, रामनरेश त्रिपाठी, राहुल सांकृत्यायन और लोक को खोजने वाले लोक में बिखरी थातियों को संकलित करने वाले हजारों की संख्या में हैं। और उनकी संख्या अकूत है जो लोक में बसे है और लोक की धड़कनों के साथ हमारे जेहन में लगातार ज़िंदा हैं। क्या दशरथ माझी को लोक कभी भूल सकता है जिसने बड़े ऊबड़खाबड़ रास्ते को अपने परिश्रम और संकल्प से छोटा कर दिया। लोक की थाती का क्या कहना? लोक के समुद्र में से हम चुल्लू भर भी पा जाते हैं, कुछ बूँदे ही सहेज पाते हैं तो अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। प्रश्न है कि हम लोक को जितना समझते हैं, जितना हमने उसे पाया उसी को सहेजने का उद्यम करते हैं। उसी में न्यौछावर होते हैं और उसी से धनवान भी होते हैं। लोक, लोक चिल्लाने से आप लोक के नहीं हो सकते और न किसी भी सूरत में लोक में लोक को पा सकते। यदि ऐसा आप सोचते हैं तो यह केवल भ्रम है। यह बड़ा आश्चर्यजनक प्रश्न है कि लोक बड़ा या शास्त्र। संगीत का शास्त्र बड़ा या लोकसंगीत, लोकमुहावरे। ये चिरंतन प्रश्न भले ही हों, अबूझ पहेली भी हों, लेकिन मेरी नज़र में लोक बहुत बड़ा है। लोक में जो प्रचलित है वह बहुत बड़ा है। कहा जाता है कि जो लोक के विरुद्ध है वह चाहे वेद के द्वारा अनुमोदित

हो या शास्त्र के द्वारा अनुमोदित हो, लोक उसे सहज स्वीकार नहीं करता। लोक उसे हर हाल में खारिज कर देता है। कहा जाता है— लोक विरुद्धम ना करणीयम्। इसमें लोक की महानता और लोक का गुणज्ञान छिपा हुआ है। कुछ लोग पोथियों में रमें हैं कुछ शास्त्रों में लेकिन लोक वार्ताओं में अभी बहुत कुछ है और आगे भी जारी रहेगा। उसे वैज्ञानिक उपकरण और प्रविधियाँ भी झुठला नहीं सकती। जो हमारे समग्र जीवन में समूचे व्यवहारों में गहरी नज़र रखे हुए हैं और जाहिर है लोक हर चीज़ को बहुत गहराई से देखता है। यदि लोक में नहीं होता, परम्पराओं में नहीं होता तो संभवतः बाल्मीकि रामकथा के इतने बड़े कैनवास को रामायण में नहीं रच पाते। उसी तरह रंगमंच और नाटकों की एक विस्तृत परम्परा में और लोक में व्याप्त होने की वजह से आचार्य भरत ‘नाट्य शास्त्र’ की रचना कर पाये। उपनिषद्, पंचतंत्र, संहिताएँ इसी के समानांतर हैं। भरत का ‘नाट्यशास्त्र’ जिसे पंचम वेद के रूप में स्वीकारा गया, ये सभी लोक की अमूल्य धरोहर है। यह बहुत बड़ा प्रश्नवाचक है क्योंकि हम सबका ठेका नहीं ले सकते। यह लोक को समझने का एक आइना है।

लोक को खोजना कभी भी सरल, सहज नहीं रहा क्योंकि लोक की कभी भी किसी को थाह नहीं मिलती। जो लोक की पूरी तरह से थाह लेने की घोषणा करते हैं, वे झूठे हैं क्योंकि लोक बहुत गहरा है। लोक की व्याप्ति बहुत है। लोक में असंख्य रत्न हैं। कोई मानी नहीं होता कि जो आपका सत्य है वह लोक का सत्य बन जाए। हमारे समाज में ऐसे-ऐसे झूठे मिल जाते हैं जिनके दिखावे बहुत हैं, जिनके कमाल बहुत हैं। उनकी कथनी और करनी में अन्तर है लेकिन लोक में उनकी प्रसिद्धि और व्याप्ति नहीं है। लोक महानों के मन्वंतर की ठठरी (अर्थी) भी उठाता है और हर झूठ को सबके सामने उघाड़ कर भी रख देता है। आधुनिकीकरण और उत्तर आधुनिकीकरण के दौर में या यूँ कहें कि तथाकथित ‘स्मार्टनेस’ के दौर में भी लोक के व्यापक कंसर्न हैं। लोक का अपना ताना-बाना है और अपनी कथनी-करनी भी। लोक कहेगा ‘हमें छोड़कर कहाँ जाइयेगा, जहाँ जाइयेगा हमें

पाइयेगा’।

माना जाता है कि भारतीय किसान, भारतीय लोक का महाप्राण है। हमारे लोक में ऐसे ऐसे करतब मिलेंगे कि मुँह में उँगली दबाना पड़ेगा। जैसे— बिना पढ़े-लिखे लोग लोक के कितने रूपाकारों से परिचित होते हैं। वे किसी भी तरह तोता रटंत नहीं हैं। हमारे लोकजीवन में कितनी परम्पराएँ हैं और न जाने कितने विधान हैं। मैं अपने गाँव का उदाहरण दूँ तो शायद आपको हँसी आयेगी। मेरे गाँव के मनबोधी कोटवार, जो गाँव के रिश्ते से मेरे काका हैं। उनका दामाद रिश्ते में हमारा जीजा है। मेरे पड़ोस के रामचरण कुम्हार काका मेरे मुँहबोले काका हैं। हम चाहें जितना पढ़-लिख जाएँ, उन रिश्तों का उल्लंघन नहीं कर सकते जो हमारे गाँव समाजों में बने हैं और जो हमारे रिश्तों की अटूट कड़ी के रूप में हमेशा पहचान में आते हैं। जब मैं पढ़ता था रामबहोर लोहार काका, बंदी बड़ई काका, परमा नाऊ दीवारी में आते थे। चौखट, घर, सार (जहाँ मवेशी रहते हैं) कुनैता, चकिया, कांडी, मूसर इन सबमें वे लोहे और लकड़ी की कीलें ठोककर दीवारी जगाते थे। लोगों को लगेगा इन कीलों को ठोकने से क्या होगा? लेकिन इनमें हमारी जीवन पद्धतियाँ, या जीवन विधियाँ छिपी हुई हैं। यों नागपंचमी के दिन हमारी माताएँ, बहनें और लक्ष्मियाँ गोबर के साँप की आकृति दीवारों पर बनाती थी, उनमें घी लगाया जाता था, दूध पिलाया जाता था और प्रतीक के इन साँपों को दूध चढ़ाया जाता था। गाँव में नवविवाहित जोड़ा जब द्वार में, घर में, दीवारों में थापा हत्था लगाते हैं तो इसे शुभ माना जाता है। जो हल चलाता था, जो बैल और हलवाहे की पूजा होती थी। पूरी खेती के बोवाई के पश्चात हलों को तथा अन्य औजारों को और खेत में काम करने वालों की पूजा विधिवत् होती थी। यह लोक का विधान था। ये परम्पराएँ हमें अँधेरे से प्रकाश में लाती हैं और हमारे जीवन में आशा की ज्योति भरती हैं कि डरो नहीं आगे बढ़ो। हरियारी अमावस की मान्यता यँ ही नहीं है।

हमारे समाज में कितने लोकाचार हैं, लोक संस्कृति का कितना फैलाव है उसे क्या पूरा-पूरा कहा जा सकता है? लोकगीत और लोकथाएँ, लोकगाथाएँ,

कहावतें, मुहावरें और लोकवार्ताएँ हैं जिसमें हमारे लोक के अनन्त स्वप्न हैं। हमारे लोक की अनेक धड़कनें हैं। लोक की अनंत छवियाँ हैं और अनंत विश्वास हैं। वहीं लोक बसता है। वहीं लोक रीझता है। हम चाहे जितने प्रगतिशील हो जाएँ अपने बिना पढ़े हुए पूर्वजों को अपने दादा-दादियों को, नाना-नानियों को क्या लांघने की क्रायदे से हिम्मत रख सकते हैं? हमारे समाज में व्रत, उपवास, तीज, त्यौहार और असंख्य लोक परम्पराएँ हैं गीत कथाएँ हैं, रीतिरिवाज हैं लोकनृत्य हैं, अनुष्ठान हैं, हमारे लोक का काल निर्णय अलग है, लमटेरा की धुन अभी भी मोहती है। मेरी माँ और दादी के द्वारा गाये जाने वाले बारहमासी गीत अभी भी हमें तरोताजा करते हैं। वे अब इस दुनिया में नहीं हैं। लेकिन यादें हमें रसवान बनाती हैं। मुझे बहुत पुरानी बारातें याद आ रही हैं। भोजन करते वक्त महिलाएँ ऐसी-ऐसी गारियाँ गाती थीं जिन्हें सुनकर लोग नाराज नहीं होते थे बल्कि हँसते थे, वे खाना भी जमकर खाते थे और जिन पर नहीं गाया गया उनके नाम भिजवाते थे। धीरे-धीरे ये चीज़े हमारे समाज से विदा हो रही हैं। मैं इन सबका पक्षधर पूरी तरह से तो नहीं हूँ लेकिन इनमें जो मंगल कामनाएँ हैं जो लोक के कल्याण की भावना है, उससे आह्लादित जरूर होता हूँ। महात्मा गाँधी ने कहा था ‘आज़ादी की शुरुआत नीचे से होनी चाहिए ताकि ऊपर के बोझ से नीचे के लोग दब न जाएँ तभी स्वराज्य आएगा।’

हमारे विकास का परिदृश्य बदलता जा रहा है हमारे समाज में कई तरह के तूफान हैं। कई तरह के भूकम्प हैं। हम बार-बार उद्वेलित हो रहे हैं। कभी भी नारों से समाज नहीं बदलता। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में घट रहे उद्वेलनों को वैज्ञानिक निरीक्षण और परीक्षण के द्वारा ही बदला जा सकता है। समाज को वृहत्तर मूल्यों और विकास की द्वंद्वत्मक प्रक्रिया के द्वारा ही परिवर्तित किया जा सकता है। सत्ताएँ अक्सर नवधनाद्यों और पूँजीपतियों के पैसों से नारेबाजी करते हुए ज़्यादातर संचालित होती हैं तो वे दिखावा चाहे जितना करें मुकम्मल परिवर्तन संभव नहीं कर पातीं। क्या रेडियो, अखबारों और दूरदर्शन के द्वारा विकासगीतों को परोसकर हम कोई कारगर परिवर्तन कर सकते

॥ अनुशीलन ॥

हैं। लोक नाम का जाप करते हुए, भगवती जागरण और महिला संगीत के द्वारा हम यदि फ़िल्मी गीतों को परोसना चाहते हैं तो क्या इससे परिवर्तन किया जा सकता है? श्रेष्ठ जीवन की तलाश लोक में है। प्रगतिशील की जो बात कर रहे हैं, उनकी वैचारिकता से आप सहमत-असहमत हो सकते हैं। लेकिन उन्हें आप किसी भी तरह ख़ारिज नहीं कर सकते। स्वार्थ सिद्धि की कामना में जुटे मन किसी भी रास्ते से विकास करना चाहते हैं। उसमें साम्प्रदायिकता, अंधविश्वासों और रूढ़ियों के अनेक रूप उन्हें स्वीकार हो सकते हैं। क्योंकि इससे उन्हें चगन-मगन होने को मिलता है।

प्रगतिशीलता की समझ और चलन पर भी बातचीत होनी चाहिए। आपको कई ऐसे दक्षिणमुखी मिलेंगे जो पीछे के रास्ते की ओर ले जाने वाले होते हैं, परंतु अपने को प्रगतिशील कहते हैं। प्रगतिशीलता का रास्ता भी निरापद नहीं है। ज़ाहिर है कि इतने अनन्त रास्तों और अनन्त प्रश्नांकनों के बीच से लोक संस्कृति को लोकाचारों से गुज़रना पड़ता है। उसी तरह जो पाश्चात्य वेशभूषा में हैं लेकिन जिसके विचार रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में हैं वे प्रगतिशील नहीं हैं। उसी तरह जो धोती-कुर्ता और सामान्य पहनावे में हैं, उनकी सोच और समझ प्रगतिशील है तो वे उसी दायरे में आएंगे। लोक पर मेरे कुछ प्रश्नांकन हैं, मसलन जो लोक के रूपों के बारे में तरह-तरह के अंधविश्वास परोस रहे हैं, भारतीयता और धर्माधता की बातें करते हैं और इसी के मार्फ़त समाज को विकसित होते हुए लगातार देखना चाहते हैं क्या ऐसा संभव है? लोकाचार होना चाहिए लोकरीतियों का अनुसरण भी होना चाहिए लेकिन अन्धविश्वासों और रूढ़ियों से मुक्त होने की कोशिश भी करते रहना चाहिए। वैज्ञानिक समझ वह रास्ता है जो हमें विकास प्रक्रिया से जोड़ता है। इनका

अहो-अहो करके हम विकास की दुनिया में शायद नहीं जा सकते।

परंपराओं और लोकविश्वासों के रिश्तों को आधुनिकताओं से जोड़े बगैर हम विकास की दुनिया में क़दम नहीं रख सकते। लोक, लोक चाहे जितना चिल्लाते रहें उससे हम लोक संस्कृति को फायदा नहीं पहुँचा सकते। आज के दौर में भूत-प्रेतों की कथाएँ लोक व्यवहारों के रूप में रूढ़ियों और ग़लत परम्पराओं को सहेजने की बातें हमें आगे नहीं ले जा सकतीं। जहाँ तक मिथकों का प्रश्न है मिथक शब्द मिथ से बना है। ये असत्य और भ्रम होते हुए भी सत्य से पचासों गुना ज़्यादा प्रभावशील है। इन पर विचार करना अपने दौर के मिज़ाज को समझना भी है और विकास के रास्तों को सुगम बनाना भी। यह दौर ऐसा है जिसमें लोक संस्कृति की बात करते हुए लोक में तरह-तरह के भ्रम फैला रहे हैं। इस कुहासे को छ़ांटना भी ज़रूरी है। प्रगतिशीलता कोई लामबंदी नहीं है। उसमें समय, समाज, संस्कृति और हमारे जीवन के तमाम प्रश्न गुंथे रहते हैं और हम आगे पहुँचने के रास्ते इसी से तलाशते हैं। कुछ लोग प्रगतिशीलता को एक विराट कैनवास में देखते हुए उसकी वास्तविकता को समझने की कोशिश नहीं करते। संभवतः इसीलिए वे प्रगतिशीलता को एक ख़ाँचा मान लेते हैं। ज़ाहिर है कि प्रगतिशीलता कोई ख़ाँचा नहीं है। आज के दौर में दक्षिणपंथी ताक़तों के उभार के बाद लोगों ने एक रिवाज़ सा बना लिया है कि वे प्रगतिशीलता को बड़ी टेढ़ी नज़र से देखते हैं, उस पर प्रश्नवाचक मढ़ते हैं। असल तथ्य यह है कि लोक कहीं थमता नहीं है और न वह कभी अपने आपको स्थगित ही करता है। लोक निरंतर चलता है और अपने आपको भी खोजता है। लोक और लोक संस्कृति की यात्रा जारी है।

रजनीगंधा, 06, शिल्पी उपवन
अनंतपुर, रीवा (म.प्र.) 486002
मो. : 7987921206

लोक साहित्य के अध्ययन की दिशा और दृष्टि

- श्री नारायण पाण्डेय

लोक-साहित्य की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार कर हम उसे साहित्य की सीमा में घेर कर पढ़ने-पढ़ाने, अनुसंधान करने में अभ्यसात रहे हैं। डॉ. सत्येन्द्र ने 'लोक-साहित्य विज्ञान लिख कर उसके वैज्ञानिक अध्ययन का आग्रह जरूर किया है, मगर आज भी अध्येता, लोक-गीतों, लोक-कथाओं का अध्ययन कर गणेश परिक्रमा पूरी कर लेते हैं। विश्वविद्यालयों में, उनको पढ़ाया जो जाता है जरूर, मगर इसे वैज्ञानिक रूप देने की चेष्टा नहीं की गयी है। साहित्य के उद्भव और विकास में लोक-साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज भी सामग्री संचयन की विधि उसके संकलन क्षेत्र, उसके संग्रालय की ओर अध्येताओं का ध्यान कब गया है। लोक-साहित्य हमारी राष्ट्रीय धरोहर हैं।

लोक-साहित्य के अध्ययन का प्रथम चरण, क्षेत्र-निर्धारित करना होगा कि उसका अध्ययन कैसे करें, अवशेषक रूप में या संजीवनी के रूप में।

डब्ल्यू. जे. टाम्स (1808-1885) से आज पर्यन्त लोक-साहित्य के अद्येता कम से कम इस बारे में एकमत है कि लोक-साहित्य के अन्तर्गत उन्हीं विषयों का अध्ययन होना चाहिए जिनका संबंध आदिम-मानव के अवशेषों से हैं। इन अवशेषों के विषय-विस्तार की चर्चा करते हुए सभ्य तथा असभ्य दोनों तरह के मानव-समाज को उसके अन्तर्गत लाने की संभावना सोफिया बर्न ने प्रकट की थी। किन्तु आज लोक-साहित्य पर विचार करते समय अनेक व्यक्तियों के सामने साहित्यिक मानदण्ड घूमने लगते हैं और वे लोक-साहित्य को उन मान-दण्डों पर खरा उतरता न देख, साहित्य को दो भागों में बाँट कर समझने की चेष्टा करते हैं— लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य।

शिष्ट साहित्य का संबंध उस समाज के साथ जोड़ते

हैं जिसे आज की दुनिया में सभ्य कहा जाता है। लोक-साहित्य या ग्राम-साहित्य का संबंध उनसे जोड़ते हैं, जिन्हें असभ्य कहने का साहस तो इनमें नहीं है, किन्तु जो गाँवों में रहते हैं, और इनकी तुलना पर कम संस्कृत उतरते हैं। इस प्रकार लोक-साहित्य का संबंध मात्र गाँव से जोड़कर ये लेखक संतोष की साँस लेते हैं। यह मत उन पढ़े-लिखे लोगों का है जिनमें अधिकांश विश्वविद्यालयों के अध्यापक या गोष्ठी-वक्ता हैं जिन्होंने लोक-साहित्य का अध्ययन मित्रमण्डली में बैठे-बैठे सुन सुनाकर किया है। शायद उन्हें यह नहीं मालूम है कि मौखिक रूप से चलने आने वाले इस विषय के अध्ययन का अपना स्वतंत्र सिद्धान्त है। साहित्य में इसका उपयोग विषयवस्तु को समझने के लिए किया जा सकता है।

दूसरे प्रकार के तथाकथित वे अध्येता हैं जो विदेशों में फोकलोर के लिये प्रयुक्त शब्द के वजन का कोई शब्द अपने यहाँ खोजते हैं। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का आदि-स्रोत वेद है ही। वेदों से 'लोक' शब्द उद्घृत कर ये लेखक अपनी स्वतंत्र टीकाएँ प्रस्तुत करते हैं। यह मानते हुए भी कि 'लोक' साधारण जन-समाज है जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्गभेद-रहित, व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचीन लोक-साहित्य का सामग्री क्षेत्र है।

सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विकास का द्योतक है। भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, किन्तु लोक दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है। यही लेखक न मालूम किस प्रकार पुनः इस नतीजे पर पहुँचता है कि "भारतीय किसान" भारतीय 'लोक' का महाप्राण है।

श्री श्याम परमार के अतिरिक्त डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने भी 'लोक-साहित्य की भूमिका' नामक अपने ग्रंथ में इस विषय को इसी गाँव तक ही सीमित रखा है। यों उन्होंने बड़ी सफाई से अपनी पुस्तक से "लोक-साहित्य क्या है" अंश बहिष्कृत कर दिया है, तथा सामग्री-संकलन वाले भाग में भी उसके संकलन शेष पर चर्चा नहीं की है, किन्तु जिस सामग्री के आधार पर उन्होंने वर्गीकरण किया है वह भी इसी 'ग्राम' की ओर ही ले जाती है। 'लोक-साहित्य को जन-जीवन का दर्पण कहा जाए तो इसमें कुछ अत्युक्ति न होगी। लोक-साहित्य जनता के हृदय का उद्गार है। सर्वसाधारण लोग जो कुछ सोचते हैं और जिस विषय की अनुभूति करते हैं, उसका प्रकाशन उनके साहित्य में पाया जाता है। ग्रामीण जनता विशेष संस्कारों और ऋतुओं में गीत गा-गा कर अपना मनोरंजन करती है। कहानियों को सुनना उनके मनबहलाव का अनन्य साधन है। समय-समय पर चुभती लोकोक्तियों और भाव-भरे मुहावरो का प्रयोग कर ग्रामीण जन अपने हृदयगत विचारों का प्रकाशन करते हैं। इस प्रकार लोक-साहित्य को प्रधानतया पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है।'

श्याम परमार के 'किसान' और कृष्णदेव उपाध्याय के 'ग्रामीण जन' में कोई मालिक भेद नहीं है। दोनों अध्येता लोक-साहित्य के क्षेत्र को सीमित करते हैं। गलत विश्लेषण का गलत निष्कर्ष तो हुआ ही करता है।

केवल 'ग्रामीणजन' या 'किसान' के 'हृदयगत' विचारों के 'प्रकाशन' को 'लोक-साहित्य की आधारशिला' मान लेने पर प्रश्न यह उठता है कि क्या लोक-साहित्य के सिद्धान्त प्रतिपादकों ने जिस 'आदिम मानस' के अवशेषों का अध्ययन (Savage) असभ्य और (Divilizaed) सभ्य समाज के बीच कर विभिन्न सिद्धांत स्थापित किये हैं, उनके आधार पर ये शहरी और आदिम जाति के लोग हमारी सीमा से बाहर पड़ते हैं? उनके बीच हमारे संकलनकर्ता को

संग्रह करने नहीं जाना है?

इसका उत्तर अनेक भारतीय तथा विदेशी लोक-साहित्य के अध्येताओं ने दिया है। सोफिया बर्न का उल्लेख किया जा चुका है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस धारणा का खण्डन किया है कि लोक-साहित्य के संकलनक्षेत्र केवल 'Nowhere' वाले स्थान ही नहीं हैं। यह मत भारत के लिए भी उतना ही मान्य है जितना विदेशों के लिए।

एक सौ वर्ष से भी अधिक दिनों से फोकलोर के अन्तर्गत किये जाने वाले इस अध्ययन के ऐतिहासिक विकासक्रम में हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इसके संकलन का क्षेत्र केवल गाँव ही नहीं है। वह सारा मानव-समुदाय है जिसमें आदिम मानस की अभिव्यक्ति हुई है। यह आदिम मानस मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से लेकर आदिम जाति के विश्वासों और आज सभ्य समाज के विभिन्न अनुष्ठान और अंधविश्वासों में स्पष्ट देखा जा सकता है। इस सूत्र को मिलाने वाली कड़ी है लोक-मानस। इसी लोक-मानस की अभिव्यक्ति लोक-साहित्य की सम्पत्ति है। जब तक यह न समझ लिया जाए कि यह लोक-मानस क्या है, तब तक उसके क्षेत्र को उतनी सफाई से नहीं समझा जा सकता।

लोक-वार्ता का वैज्ञानिक अध्ययन करते समय डॉ. सत्येन्द्र ने विभिन्न विदेशी विद्वानों के साहित्य का आलोड़न कर लोक-मानस की व्याख्या इस प्रकार की है—

'लेकवार्ता के अन्तर्गत वह समस्त अभिव्यक्ति आती है जिसमें आदिम मानस के अवशेष आज भी दिखाई पड़ते हैं।'

'(आज के) मनुष्य की अभिव्यक्ति में भी आदिम अभिव्यक्ति के अवशेष रह जाते हैं। वे अवशेष लोकवार्ता हैं और लोकवार्ता शास्त्र के अध्ययन की वास्तु हैं।'

॥ अनुशीलन ॥

‘लेखवार्ता के अवशेषों के अध्ययन व अर्थ है कि उस आदिम लोक-प्रवृत्ति से समझा जाए जिसके परिणामस्वरूप लोकवार्ता प्रस्तुत होती है— यह लोकप्रवृत्ति जब-जब, जहाँ-जहाँ जिस भाषा में विद्यमान मिलेगी, वहाँ तक उसी परिमाण में लोकवार्ता भी मिलेगी।’

‘लोकवार्ता को जन्म देने वाली लोक-प्रवृत्ति को लोकमानस या जन-मानस से सम्बन्धित माना जा सकता है।’

‘लोकवार्ता तथा लोकमानस के बीच संबंध-स्थापन के पश्चात् सत्येन्द्र जी ने मानव समाज के मानसिक स्वरूप को तीन रूपों में बाँटा है। प्रथम लोक-मानस, द्वितीय जनमानस, तृतीय मुनि-मानस। लोकमानस वह स्थिति है, जो आज आदिम मानव की परम्परा में है उसी का अवशेष है। आज के सभ्य समाज की मानसिक स्थिति है जो मानव-समाज के मानसिक स्वरूप का सबसे ऊँचा धरातल माना जा सकता है। मध्य की स्थिति जनमानस है। लोकमानस से ही लोकवार्ता का जन्म होता है।’

इसी निबंध में ‘लोकमानस और मानवप्रकृति’ पर विचार करते हुए उन्होंने उसके क्षेत्र को भी स्पष्ट कर दिया है— ‘लोक-मानस का किसी वर्ग अथवा जाति विशेष से संबंध नहीं है। वह जो सर्वत्र मानस के मूल में विद्यमान है। यह जंगल में भी और शहर में भी मिलेगा।’

कुछ लोगों को यह आपत्ति हो सकती है कि यहाँ सत्येन्द्र जी ने लोकवार्ता पर विचार किया है लोक-साहित्य पर नहीं। यों लोक-साहित्य लोकवार्ता का

ही एक अंग है किन्तु सत्येन्द्र जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ‘लोक-मानस लोक-साहित्य के निर्धारण में सबसे प्रमुख तत्व है।’

लोक-मानस को लोक-साहित्य का स्रोत स्वीकार कर लेने और उसके विस्तार को लोक-साहित्य का विस्तार मान लेने पर हम केवल मौलिक परम्परा में प्रायः साहित्य का क्षेत्र निर्धारण ही ऊपर कर सके हैं।

आज हमारे सामने प्रचुर परिणाम में यह मौखिक साहित्य संकलित और प्रकाशित विद्यमान है जो नाम संकेत तथा कैटालॉगिंग की अपेक्षा रखता है। हमारा संकेत पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तक रूप में प्रकाशित तथा संग्रहालयों में संग्रहीत सामग्री की ओर है। यह सामग्री न केवल लोक-साहित्य के नाम से ही हमें मिलेगी अपितु विभिन्न ज्ञान-विज्ञान जैसे भाषा विज्ञान, भू-विज्ञान आदि के बीच भी पायी जायेगी। *Bibliography* का कार्य श्री महादेव साहा के लेख से प्रारम्भ हो गया है जिसको श्री परमार ने थोड़ा और आगे बढ़ाया है। जब तक मौखिक सामग्री के साथ इस प्रकाशित और संकलित सामग्री को भी हम अपने संकलन-क्षेत्र के अन्दर नहीं रखते तब तक न तो हम लोक-साहित्य के अध्ययन संबंधी अपने दोषों के परिहार में समर्थ हो पाएँगे न किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन ही कर सकेंगे।

लोक-साहित्य के अध्ययन के आधार-ग्रन्थ (डॉ. सत्येन्द्र की पुस्तक ‘मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन’ से साभार)

412/3 एफ, बक्सी खुर्द, दारागंज, प्रयागराज - 211006
मो. : 8004040576

लोक-नाट्य : एक मौलिक लेखक की अमौलिक टिप्पणी

- जयप्रकाश मानस

जब केंद्रीय हिंदी निदेशालय का आमंत्रण पहुँचा कि नैनीताल में 'लोकनाट्य : उद्भव और विकास' विषय पर संगोष्ठी में मुझे भी अपना ज्ञान बघारना है तो सच कहूँ मेरी पुतलियों में सबसे पहले निहायत अप्रसिद्ध किन्तु अपनी अवक्रता, अपनी अल्प साधनता, अपनी अशिक्षा में रमे रहने वाले मेरे पुश्तैनी देहात की अनगित किंतु अतिप्रिय लोक-छवियाँ नाचने लगीं।

फ्लैशबैक - एक

इस अतिप्रिय छवियों में सबसे अब्बल उस दिन की शाम, जो लगभग घिर आने को है। चौपाल में प्राइमरी स्कूल के हेडमास्टर हरिसिंह धींवर गुरुजी यानी समूचे गाँव के श्रद्धास्पद नायक गाँव के एकत्रित युवाओं को रोल बाँट रहे हैं। मुझमें वे शायद तरुण-सुलभ चेष्टाओं का रंग अधिक देखते हैं। इसलिए उन्होंने कह दिया है- तैं ऐसों के नवा मनसुखा (तुम इस साल के नये मनसुखा)। मैं बहुत ही उत्साहित- बार-बार किशन-कन्हाई के साथ मंच पर आने का अवसर जो मिलेगा।

यानी इस गाँव में कंस वध खेला जाना है।

फ्लैशबैक - दो

शाम ढले रिहर्सल शुरू हो चुकी है। गुरुजी के हाथ में किसी तरह का कोई भी नाट्य मैनु स्क्रिप्ट नहीं। हममें से किसी के पास भी संवाद और मंच पर अभिनय हेतु कोई लिखित डाक्यूमेंट नहीं। हम सभी पात्र-अपात्र साथियों को गुरुजी केवल कृष्ण और कंस की कथा सुना रहे हैं। वे केवल सुना नहीं रहे, हम स्मरण भी कर रहे हैं। और इसी श्रवण और स्मरण में उनके साथ सबों को वे अपने-अपने डॉयलॉग (कथोपकथन) का निर्धारण भी कराते चल रहे हैं। यानी मंच पर जो भी कहना है, और जो भी करना है उसे इस सुघड़ता के साथ आत्मसात करना है कि वहाँ हम वही कहें और वही करें जो हम अपने पात्रों से अपेक्षा रखते हैं। सारांश यह भी कि हम सब अपने संवाद को इस शिल्प में संपादित कर सकते

हैं कि वह अगूँठा टेक अनपढ़ देहाती तक को भी उल्लासमयता के साथ ग्राह्य हो।

अच्छा, उस 'हम' में कौन-कौन शामिल थे? जो-जो शामिल थे, उनमें किसी का भी अध्यवसाय रंगकर्म नहीं था। जो-जो भी शामिल थे, उसमें से कुछ का पेशा खेती-किसानी, कुछ बाहरमासी मजूरी करने वाले। बहुत पुरानी कैचियों से गाँव भर का बाल कतरने वाला भरत नाऊ भी, तो राख और सोडा से कपड़ा धोनेवाला सुखदे धोबी भी। याद आ रहा है- नकूल राऊत भी, जो गाँव भर के गाय-बैलों का चरवाहा था और रजऊ मानकिपुरी भी, जिसकी बुनी हुई लुगा-साड़ी गाँव भर की महिलाएँ पहनकर मुदित हो उठती थीं। गाँव का कोटवार भी, तो गाँव का पटेल भी। कुछ वर्तमान के अभूतपूर्व विद्यार्थी और कुछ भूतपूर्व विद्यार्थी भी। कौन नहीं था। न उम्र, रंग-रूप से किसी का अस्वीकार, और न ही जाति, कुल, गोत्र से किसी का बहिष्कार। हाँ, लोकमान्य अपेक्षा या चेतनात्मक शर्त जैसी कुछ थी, तो स्त्री-शक्ति की अनुपस्थिति को भी हम पुरुषों द्वारा उसकी पात्रता को मंच पर साकार अर्जित करने की कुतूहलपूर्ण चुनौती। नाट्य-शास्त्र की शब्दावली में कहें तो कवि कर्म, निर्देशक कर्म और रंगकर्म का नियोजक कोई एक नहीं, हम सब थे। हम सब यानी कर्तृत्वबोध विहीन विशेषण। यह कर्तृत्वबोध विहीन अदृश्य विशेषण ही तो 'लोक' था। और हम सब की सामूहिक प्रस्तुति एक लोक नाट्य।

फ्लैशबैक - तीन

फिर एक दिन खेत-खार, चूल्हे-चौके, नदी-नार, ताल-तराई, जंगल-झाड़ी जो जहाँ पर कर्मरत हैं आज होने वाले नाच की चर्चा के बगैर नहीं हैं। सबको पता है- गाँव में नाच हो रहा है। जैसे नाच न हो, कोई उत्सव ही हो। जैसे उत्सव न हो, उपलब्ध हुई महाविशाल पृथ्वी में अपनी सारी अपूर्णता, अक्षमता, अकेलेपन के बाद भी मानव अपने अतिरिक्त सामर्थ्य की संवेदना के सहारे

॥ अनुशीलन ॥

जी लेना चाहता हो।

मांझा खोल (यानी गाँव के बीचों-बीच) में कुछ लोग चारों कोनों पर बाँस बल्लियाँ खड़ी करके ऊपर चन्दोबा तान रहे हैं तो कुछ बाँस की बल्लियों पर ही पेट्रोमेक्स लटकाने की कोशिश। पेट्रोमेक्स किसी ग्रामवासी की निजी संपत्ति नहीं, पड़ोस के किसी गाँव से माँग कर लाया गया है। शायद चाँदनी भी। मिट्टी तेल की चिन्ता पंच काका ने दूर कर दी है। समीप के किसी मकान में कलाकारों के सजने-संवरने का उपक्रम हो रहा है। मतलब उसी स्थान से हम कलाकारों को मंच तक आना-जाना करना है। साजो-सामान की व्यवस्था भी कैसी! गेरु पत्थर, छूही मिट्टी। धौंरा लकड़ी के तलवार, बाँस के धनुष। पुरानी और अनुपयुक्त हो चुकी गुदड़ी के कपड़े से बनायी गयी गदा। काली स्याही से रंगी पटसन-वीरत्व प्रदर्शन यानी मूँछ ऐंठने के लिए। शादीशुदा सदस्यों के घर की नयी प्रतीत होनेवाली साड़ियाँ, ब्लाऊज। बहनों से माँग कर बटोरी गई गिलट का पायल और कौड़ी की माला। खास तौर पर निर्मित छीन (खजूरी) पतियों वाला मुकुट। मुकुटों को सुंदर बनाने के लिए बगूले के पक्के सफेद पंख और मोर की सतरंगी कलगी।

बलुई धरती पर पुरानी दरी बिछ गई है। दरी पर पेटी-तबला, मंजीरा, बाँसुरी और नगाड़ा वाले यानी संगत बैठ चुकी। दरी के आगे नंगी धरती ही मंच। मंच चारों से खुला हुआ। और मंच के तीनों ओर खचाखच दर्शक। नाच का तिलिस्म ऐसा कि दर्शकों में कम से कम कोस दो कोस दूर गाँव से चलकर वासिंदे भी शामिल। भोर का सुकुवा तारा भले ही उग आये लेकिन कोई भी दर्शक बनी जगह नहीं छोड़नेवाला। दर्शकों के बैठने के स्थान पर छिड़कर कर धान का पैरा पहले से ही बिछा दिया गया है। मंच पर कलाकारों की नाटकीय आवाज़ाही के लिए दर्शकों के बीच लगभग दो-तीन फुट चौड़ा मार्ग छोड़ दिया गया है।

फ्लैशबैक -4

कंस की कथा तो आप सभी को मालूम ही है। मैं यहाँ केवल अपनी भूमिका के बारे में कुछ बता दूँ -

रिहर्सल में गुरुजी ने हम सबको सिखाया था कि मंच

पर कृष्ण-कंस की लड़ाई और द्वंद्व के समय सचमुच की टुकाई नहीं करना है, सिर्फ मारपीट का एक्शन ही करना है, बाक़ी संगीत वाले करेंगे- तबला-डूंगी और नगाड़ा से। उनकी हिदायत भी थी कि दर्शकों की उकसावेपूर्ण प्रफुल्लता के दबाव या भूलवश नये कलाकारों से कदाचित कुछ अप्रासंगिक हरकतें भी हो जाये तो सयाने कलाकार उसे संभाल ही लें।

मैं बताते चलूँ- मुष्टिक की भूमिका में थे हट्टे-कट्टे, भीमकाय देह वाले मेरे सगे महेश मामा। जब कंस के पहलवानों चाणूर और मुष्टिक के साथ कृष्ण के बाल सखाओं के साथ लड़ाई की बारी आयी तो पता नहीं कैसे, कुछ शरारती बाल सखाओं के साथ मैं भी सारी हिदायतें भूल गया। उन्हें दो-चार मुक्के साक्षात् पड़ गये। सचमुच मैं बच गया और मुष्टिक यानी महेश मामा को संभालते हुए प्रसंगानुकूल कहना पड़ा- “मनसुके भाँजे, तुमने तो सचमुच मुझे तीन-चार मुक्के जड़ दिये। मैं भी तुम्हें एकाध मुक्का मार सकता हूँ लेकिन हमारा छत्तीसगढ़ राम का ननिहाल है, यहाँ भाँजों को पीटा नहीं जाता, पूजा जाता है। बच गये आज।”

लोक कलाकार महेश मामा का संबोधन ही ऐसा था कि सारे दर्शक हँसे बिना रहे नहीं। यह दीगर बात है कि दूसरे साल गुरुजी ने मेरी भूमिका बदल कर मुझे सुदामा बना दिया था।

नाच या नाट्य का यह मेरा पहला अनुभव मात्र नहीं बल्कि वह अनुभव मेरे लिए लोक नाट्य विमर्श का पहला प्रवेश-द्वार जैसा भी था जहाँ से संपूर्ण रस अर्थात् रस-सर्वस्व की संप्राप्ति संभव है।

“विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः”
(नाट्यशास्त्र)।

अपने इस पहले और स्थायी अनुभव के आलोक में जब भी मैं, मन और मनीषा तीनों अपने पूर्वजों से सुदूर अतीत को टटोलने लगते हैं तो वहाँ हमारी तरह तीन मूलभूत ज़रूरतें- रोटी, कपड़ा और मकान की ज़रूरतें- दिखाई नहीं देती। तब जो मनुष्य था, उसके पास न कपड़ा था, न मकान। पर कला तो थी। वह नाचता था। गाता था। पत्थरीली चट्टानों, अँधेरी गुफाओं, विशालकाय

॥ अनुशीलन ॥

सूखे पेड़ों पर चित्र उकेरता था। प्राकृत मानव के जीवन में रोटी के बाद दूसरे नंबर पर कला थी। तब आदमी ऐसा था, जिसने कपड़ा बुनना, मकान बनाना या खेती करना कहीं बाद में सीखा, चित्र और शिल्प बनाना पहले सीखा।

मानव का कलाकार रूप उसके किसी अन्य वृत्ति से अधिक प्रचीन वृत्ति है। इस सहजात वृत्ति में अनुकरण और अनुसरण की चेष्टा के रंगों को भला कैसे नकारा जा सकता है। अनुकरण और अनुसरण दरअसल मनोभाव जीवन के रंगों और संवादों का आत्मसातीकरण भी था और प्रकारांतर से समूहीकरण भी। आप चाहें तो प्रागैतिहासिक काल को छोड़ सकते हैं लेकिन उस धुँधले अतीत की बात करें, जिसके साहित्यिक, ऐतिहासिक और पुरातात्विक प्रमाण विश्वास से परे नहीं।

यदि आप, मुझे आज अपने लोक-प्रदेश छतीसगढ़ में प्रचलित प्राचीनतम लोकनाट्य 'नाचा' के बहाने कुछ काल्पनिक होने और कयास लगाने की छूट दें तो मैं यह कहना ही चाहूँगा कि पृथ्वी में लोकनाट्य क्या अपने भूतकालिक रूप में या शैशवकाल में बिना कथानक, बिना आलेख, बिना सूत्रधार, बिना वेशभूषा, बिना निर्देशक, बिना रंगमंच, बिना पूर्वाभ्यास, बिना साज-सज्जा के भी प्रस्तुत नहीं होते रहे होंगे। और तब का लोकसमूह भी क्या ऐसे लोकनाट्य की संपृक्ति में रात भर नाच-गाकर अपने वर्तमान को बिसार कर अपने भविष्य की संकल्पना नहीं करता रहा होगा? हाँ, यह अलग बात हो सकती है कि मनुष्य के विकास अनुक्रम में लोकनाट्यों का स्वरूप, शिल्प, भूमिका, सरोकार और संप्रभाव निश्चित ही परिवर्तित या संवर्धित भी होता चला गया होगा। यहाँ नाट्य की उस गह्य शक्ति का जिक्र भी समीचीन है, जिसके लिए माना जा चुका है- संसार का ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं जो नाट्य समाविष्ट न हो सके-

न तज्ज्ञानं तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

न स योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन् यन्न दृश्यते।।

तो समूहीकरण की प्रक्रिया में आखिर लोक क्या है? उसका रंग-रूप कैसा है? उसकी चाल-ढाल कैसी है?

सच पूछा जाये तो लोक वही है, जो हमें देखता है और जिसे हम भी देखते हैं। देखना भी कैसा? मात्र जिज्ञासा के लिए नहीं, बल्कि देखना अपना समझकर। अपना मानकर। अपनेपन के भाव से। संसार के प्रथम नाट्य निर्देशक भरतमुनि भी स्वयं इस दर्शन की संपुष्टि करते चलते हैं :-

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख-दुःख समन्वितः

सोऽगाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते।

अर्थात् जिसमें स्वभावतः ही लोक का सुख-दुःख समन्वित हो और जिसे अंग चेष्टाओं से अभिनय किया जाता है, उसे नाट्य कहते हैं। जो दर्शकों को आनंदानुभूति की लय में जोड़ता हो। अर्थात् लोक की कथावस्तु (कवि कर्म) और पात्रों के द्वारा अभिनय का योगफल ही नाट्य है।

भारत के पूर्व भी भारत में नाटक का लोकधर्मी रूप रहा है। भरत मुनि के श्लोकों में प्राचीनकाल में भी साहित्यिक नाटकों के साथ लोक नाट्यों की एक स्वतंत्र परंपरा का उल्लेख मिलता है।

लोक नाट्य के कई पर्यायवाची हैं, जैसे- लोक-नाट्य, जनपद नाट्य, पारंपरिक नाटक, ट्रेडिशनल नाटक, अनुष्ठानिक आर्ट आदि। किंतु प्रसिद्ध नाटककार ब.व. कारंत की मान लें तो ये सब गढ़े गए आधुनिक शब्द हैं, क्योंकि लोक नाट्य कहते ही यह लगता है कि कहीं कोई क्लासिक नाटक भी है और उसके विपरीत स्तर पर लोक नाटक है, परन्तु एक सा नहीं है।

लोक नाटकों के अभ्युदय की पृष्ठभूमि की अकादमिक पुष्टि करना चाहें तो बलवंत गार्गी का मत भी स्मरण हो आता है- “संस्कृत नाटक विद्वानों, श्रेष्ठियों और दरबारियों के लिए था। इसकी भाषा बहुत गूढ़ और अलंकृत होती थी। यह जनसाधारण के जीवन में घुला-मिला रहा है। समय के साथ-साथ यह अपना रूप बदलता और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने-आपको डालता रहा है।” (रंगमंच, बलवंत गार्गी)

नाच की आँच ऐसी कि आजादी के आंदोलन में लोक नाटकों और कलाओं के मंचन की ताकत को भांप कर ब्रिटिश सरकार को इनके मंचन को निषिद्ध करने के

॥ अनुशीलन ॥

लिए किसी जमाने में राजद्रोह और मानहानिकारक कानून बनाना पड़ा था। प्रसंगवश जिक्र ज़रूरी था कि इस 140 साल पुराने (1867 में लागू) औपनिवेशिक वाले मनोविज्ञान के दलीलों और आवारा पूँजी वाले बाज़ार के बीच निरंतर विकसित होते नये वैश्विक-ग्रामों की चुनौतियों के बहाने लोकनाट्य के फ्लेक्सिबल कैरेक्टर (लचीलेपन) पर भी शंका और शक़ खड़ा करने वाले चतुर और चालाक वकील अक्सर यह बिसार जाते हैं कि एक सच्चा लोक नये अँधेरों में भी उजालों की किरणें बटोर लेने में सक्षम हुआ करता है।

बहुत दूर न जायें और पिछली सदी के अर्धांश की ही पड़ताल कर लें। पश्चिमी रंगमंच की चकाचौंध के ओतप्रोत होने के बाद भी हबीब तनवीर कैसे छत्तीसगढ़ी लोक पर अपना संपूर्ण आस्था रच जाते हैं। संस्कृत और अँग्रेजी के जटिल और पृथक भाव-भूमि के नाटक भी छत्तीसगढ़ी के लोक में उतर आते हैं। शूद्रक के ‘मृच्छकटिकम्’ से मिट्टी की गाड़ी और शेक्सपियर का ‘मिडसमर नाइट्स ड्रीम’ से कामदेव का अपना बसन्त ऋतु का सपना बन उठता है। आगरा बाज़ार में उर्दू के शायर नज़ीर छत्तीसगढ़ी भाषा के पुराने बासिंदे की मानिंद नज़र आते हैं। राजस्थानी के सिरमौर लोककथाकार विजयदान देथा की कहानी से तैयार चरणदास चोर और असगर वजाहत के उर्दू नाटक से बना जिन लाहौर नहीं देख्या वो जन्मई नई समूची दुनिया के दर्शकों की ही नहीं, नाट्य-पंडितों की ज्ञानेन्द्रियों में भी छत्तीसगढ़ी की अविस्मरणीय कृतियाँ सिद्ध होने लगते हैं। लोक भाषा तथा मानक भाषाओं के बीच आवाज़ाही का एक नया और सौंदर्य शास्त्र रच-रच उठता है। नाट्य शास्त्र की लोकधर्मी रंगधारा की माँग करने वाले भरत का नया

अक्स हमारे समय के हबीब तनवीर में दिखाई देने लगता है।

बेशक़ नाच की सांच बहुत कठिन है। लेकिन सच्चा रचनाकार इतना तो जानता ही है कि उसकी कला की आँच दूर-बहुत-दूर तक बिखरेगी। बहुतों के मन-मानस में उनका नाम उतरेगा। तभी तो लगभग एक शताब्दी पहले भिखारी ठाकुर खुद अपने लोकत्व से वाकिफ़ होकर बड़े इत्मीनान से गुनगुनाया करते थे:

नाम भिखारी, काम भिखारी, रूप भिखारी मोर
ठाठ, पलान, दुआर भिखारी, चहुँ दिशि भइले शोर।
असहीं नाम फैलते जाता, रेडियो से काशी-कलकत्ता
भोजपुरी भाषा अवलम्बे, फोटो भइल भिखारी के
बम्बे।

फिल्म रिकार्ड से रेडियो तक, पेपर से झलकत झकाझक

हवन भिखारी नाई कुल, नामी भइलन महात्मा तुल
जवना जगह भिकारी जालन, तहँवा बहुत लोग
बटोरालन

अबी नाम भइल बा थोरा, जब यह छूट जाइ तन
मोरा

तेकरा बाद पच्चास बरीसा, तेकरा बाद बीस दस
तीसा

तेकरा बाद नाम हो जइहन, पंडित-कवि-सज्जन
जस गइहन।

—0—

(महादेवी वर्मा पीठ, रामगढ़, कुमाऊँ विश्वविद्यालय
नैनीताल, केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा आयोजित राष्ट्रीय
सेमिनार में पढ़ा गया बीज वक्तव्य, 11 सितंबर, 2018)

एफ-3, आवासीय परिसर, छत्तीसगढ़ माध्यमिक शिक्षा मंडल
पेंशनवाड़ा (विवेकानंद नगर), नया रायपुर, छत्तीसगढ़ - 492001
मो. : 7000405751
ई-मेल : srijangatha@gmail.com

लोक साहित्य के सामाजिक सरोकार

- डॉ. नमिता जायसवाल

लोक साहित्य हमारे जीवन और हमारे समाज की परंपराओं की मूल्यवान धरोहर है। लेकिन आज यह साहित्य संक्रमण से गुजर रहा है। नई पीढ़ी इस परंपरा से सर्वथा अपरिचित है। भूमंडलीकरण और आधुनिकीकरण के इस दौर में लोक साहित्य की प्रासंगिकता पर चिंतन-मनन युक्तिसंगत है, क्योंकि जो लोकसाहित्य वाचिक परंपरा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी न केवल सुरक्षित रहता आया है, बल्कि उसमें लोक की प्रत्यक्ष भागीदारी रही है, वह आज यांत्रिकीकरण की यंत्रणा का शिकार हो गया है। लोक साहित्य, लोकसंस्कृति, लोककला, लोकतंत्र अथवा लोक से जुड़ा हुआ प्रत्येक सरोकार आज एक “फैशन” से अधिक कोई महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध नहीं कर पा रहा है। कोई भी समाज सिर्फ आधुनिक बोध के साथ नहीं जीता, उसकी साँसें “लोक” में होती हैं, भारतीय जीवन की मूल चेतना तो लोक चेतना ही है। खासकर हिंदी का हृदय तो लोकविहीन हो ही नहीं सकता- हिंदी के सारे महान कवि “लोक” से ही आते हैं।

‘लोक’ शब्द संस्कृत के ‘लोकदर्शने’ धातु से ‘धञ्’ प्रत्यय करने पर बनता है। जिसका अर्थ है- देखना। जिसका लट् लकार के अन्य पुरुष के एकवचन का रूप ‘लोकते’ है। अतः लोक शब्द का अर्थ हुआ- देखने वाला। जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी बनावट के लोक साहित्य में समाई रहती हैं। लोक साहित्य को परिभाषा की डोर से बांधकर सीमित करना बहुत कठिन है। लोक-साहित्य के स्वरों का धरातल बहुत उबड़-खाबड़ है, हमेशा-हमेशा से भूखे-नंगे पावों दर-ब-दर घूमते हुए अपने लोक का

विचरण करने वाले, धरा को अपनी माता का सम्मान देने वाले लोगों के बीच की काव्यमय अभिव्यक्ति को लोक साहित्य कहा जा सकता है। जिसके स्वरों में दैनंदिन में जीवन के स्वर हैं और भाषा की स्वीकृति का धरातल मानवीय संबंधों से भरा है। किसी भी देश और समाज को अच्छी तरह से समझने के लिए वहाँ की लोक-संस्कृति, लोक गाथाओं, लोक गीतों, रीति-रिवाजों, परंपराओं और संस्कारों को जानना आवश्यक होता है। इसलिए कहा गया है कि लोक साहित्य सांस्कृतिक वैभव, रीति-रिवाज, परंपराओं, धार्मिक विश्वासों तथा अन्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रियाकलापों की अक्षुण्ण निधि होता है।

हिंदी में ‘लोक’ शब्द अंग्रेजी ‘फोक’ (Folk) का पर्यायवाची है। इसके लिए ‘ग्राम’ और ‘जन’ शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। साधारण अर्थ में ‘लोक’ शब्द समस्त मानव समाज के लिए प्रयुक्त होता है। सर्वसाधारण अथवा साधारण जनता के लिए लोक शब्द का प्रयोग अत्यंत प्राचीन काल से होता आ रहा है। ऋग्वेद में इसके लिए ‘जन’ शब्द का प्रयोग किया गया है। परंतु वर्तमान में इसका संबंध ग्राम और नगर की सीमाओं से परे परंपराओं में पहले वाले जन-मानस से जोड़ दिया गया है। इसी लोक मानस के द्वारा लिखा गया साहित्य लोक साहित्य कहलाता है। रामविलास शर्मा लिखते हैं- ‘किसी देश के राष्ट्रीय जीवन में लोक-साहित्य का महत्व अत्यधिक है और यदि ढंग से इसका संरक्षण एवं अनुशीलन किया जाए तो हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि होगी। इस कंठ-अनुकंठ (मौखिक) साहित्य में धर्म, समाज तथा सदाचार

॥ अनुशीलन ॥

संबंधी अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है। इसके साथ ही स्थानीय इतिहास तथा भूगोल संबंधी बातें भी उपलब्ध होती हैं...। जिन देशों या जातियों में लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं होता, वे अपने मौखिक साहित्य पर ही गर्व करते हैं।¹ लोक साहित्य लोक मानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। यह बहुधा अलिखित ही रहता है और अपनी मौखिक परंपरा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आगे बढ़ता रहता है। इस साहित्य के रचयिता का नाम प्रायः अज्ञात रहता है। लोक साहित्य जनता के हृदय का उद्गार है। यह परंपरा से प्राप्त और दीर्घजीवी है। यह साहित्यकी मौखिक विद्या के रूप में मानव हृदयों को निर्मल, स्वच्छ और स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विशिष्ट प्रकार का शांति और सुख प्रदान करता है। किसी भी प्रदेश के लोक साहित्य को समझने के लिए हम इसे पांच खंडों में विभाजित कर सकते हैं— 1. लोकगीत, 2. गीत कथाएं, 3. लोक कथाएं और लोकनाट्य, 4. कहावतों तथा 5. इनसे इतर लोक साहित्य। इसके अंतर्गत पहेलियां, लोकोक्ति, तुकबंदी, खेलगीत इत्यादि को शामिल किया जा सकता है।

लोक साहित्य में भावों की विविधता, वेदों, गीतप्रियता तथा संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान लोकगीतों का है। मानव स्वभाव की छोटी-बड़ी समस्या, विशेषताएं लोकगीतों में देखी जा सकती हैं। प्रदेशों की प्राकृतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक विशिष्टताएं इन लोकगीतों में उतरकर आ गई है। मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ के आदिवासी बहुल क्षेत्र में लोकगीतों का अनूठा स्वर-संगम दिखाई देता है। मूलतः छत्तीसगढ़, बुंदेलखंड, मालवा, निमाड़ एवं बघेलखंड की देशज बोलियों में यह साहित्य लोक की जुबान पर आज भी समादृत है।

लोक साहित्य में लोकगीतों के बाद अत्यंत लोकप्रिय

विधा में लोककथाओं का स्थान है, जिसमें मुख्य रूप से प्रेम, शौर्य, भक्ति, सौंदर्य, आदर, अतिथि सत्कार, खानदानी भाव जैसे तत्वों वाली लोककथाओं में विभिन्न प्रदेशों की विशेषताओं को देखा जा सकता है। लोक साहित्य का सामाजिक जीवन के साथ अन्यतम संबंध है। लोक साहित्य भी समाज के मूलभूत मूल्यों को प्रचारित-प्रसारित करता है। ये ऐसे मूल्य हैं, जो समाज के सदस्यों के जीवन के विभिन्न पक्षों में प्रतिबिंबित होते हैं तथा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन और संबंधों को नियमित-नियंत्रित करते हैं।

आज हमारे समक्ष संस्कृति, लोकसाहित्य, भाषा और बोली के अस्तित्व का संकट लगातार खड़ा हो रहा है। आज का व्यक्ति भौतिकता की होड़ और जीवन की यांत्रिकता से पूरी तरह घिर गया है। कुंठित और हताश मानसिकता से अकुलाया उस का खंडित मन सामाजिक उपेक्षा जैसी परिणति को पोषित कर रहा है। ऐसे में लोकसाहित्य में व्यक्त संस्कार, उत्सव, रीति-रिवाज, लोक-मूल्य व्यक्ति के अस्तित्व को खंडित हो जाने से बचा सकते हैं, क्योंकि इनमें व्यक्ति को व्यक्ति से बांधने की कला है, शक्ति है, सामर्थ्य है। आज समाज को हम संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, बोलीविहीन करके उसकी गौरवगाथा को मिटाते जा रहे हैं। यदि इस दिशा में शीघ्र प्रयास न किए गए, वर्तमान पीढ़ी को लोकसाहित्य एवं संस्कृति के माधुर्य से अवगत न कराया गया तो शायद हम लोकसाहित्य को एक शब्द के रूप में, शब्द कोश में ही देख पाएंगे और तब तक संभवतः लोक से संबंधित पक्षों को भी सदा-सदा के लिए हम खो चुके होंगे। इसलिए गौरवमय अतीत का एवं सांस्कृतिक विरासत का हस्तांतरण एवं संपोषण करते हुए हमें संस्कृति एवं समाज का द्वार खोलना होगा।

भोगवादी भौतिकता के युग में आज हर व्यक्ति

॥ अनुशीलन ॥

किसी अदृश्य शिखर को स्पर्श करने में बिखर रहा है। लोकसाहित्य के माध्यम से आधुनिक समाज की इन विसंगतियों को दूर किया जा सकता है। आज व्यवसायीकरण की प्रक्रिया में शिक्षण-संस्थानों में उपभोक्तावाद गहराई से प्रवेश कर चुका है। शिक्षा उत्पाद, शिक्षक उत्पादक और विद्यार्थी उपभोक्ता हैं, फिर मूल्यों के संस्कार ले-देने की उठा-पटक की संभावना शून्य हो जाती है। लोकपरक साहित्य शिक्षापरक और सामाजिक असमानताओं की भी फिक्र करता है। “बहुराष्ट्रीय कंपनियां, बड़े व्यापारी अपनी ‘ठगौरी’ लिए लुभा रहे हैं, हमारे समाज के पैतीस करोड़ की आबादी वाले इस मध्यमवर्ग को, और वह बेसुध होकर आंखें बंद करके धंस गया है बाजार के मायालोक में बिना यह जाने-सोचे कि उसकी अंधी-अंधेरी सुरंग से वह कभी बाहर भी नहीं निकल पाएगा या नहीं। बहरहाल बाजार की माया अभी तो उसे इस कदर मोहे हुए हैं कि उसे कुछ भी सोचने की फुरसत नहीं।”² विडंबना है ज्ञान और प्रौद्योगिकी के युग में आज बाजार सारे मूल्यों को तय कर रहा है। ‘लोक’ को नष्ट करने का षड्यंत्र है, इसका सबसे बड़ा शिकार हमारी बोलियां बन रही है। जिनकी मौत का खतरा मंडरा रहा है। भारतीय साहित्य भाषा एवं बोलियों के समक्ष खासकर हिंदी समाज के सामने यह सबसे खतरनाक समय है। लोक की उपेक्षा और बोलियों को नष्ट करके हम अपनी संस्कृति-कला और परंपराओं को गवां रहे हैं- इसके संरक्षण की जरूरत है।

इस उपभोक्तावादी युग में हमें अपने लोक साहित्य को बचाने के लिए उसके रास्ते बदलने होंगे। उसे एक अंतरराष्ट्रीय मंच देना होगा। उसकी उपयोगिता सिद्ध करनी होगी। कहीं लोककथाओं के माध्यम से कहीं लोकगीतों के माध्यम से, तो कहीं नुक्कड़ नाटकों द्वारा। लोक साहित्य तभी वर्तमान की देहरी पर

वैश्वीकरण के साथ कदम-से-कदम मिलाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकता है, कि लोक साहित्य, जिसमें सभी वर्ग समाहित है। वर्ग वैषम्य के लिए इसमें कोई स्थान नहीं है। शंभुनाथ जी का मानना है कि ‘भारतीय जनजीवन का हजारों साल की सांस्कृतिक विरासत से संपर्क अभी टूटा नहीं है, भले पेशे और जीवन शैली के स्तर पर बहुत कुछ बदल गया है। सत्ता के प्रति उसका असंतोष, विक्षोभ और सत्ता वर्ग के पार देखने की उसकी शक्ति भी अभी मिटी नहीं है। भारतीय लोक नई आशा में सत्ता को तवे पर रखी रोटी की तरह हमेशा पलटता रहता है, भले ही अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप लोकतंत्र का ढांचा तैयार करने की क्षमता उसमें अभी न हो।’³

लोक साहित्य में समाज विशेष की बोली, सामाजिक गतिविधि व अवधारणाएं और संस्कृति का समावेश होता है। अपने भारतवर्ष में आज भी एक कहावत प्रचलित है- ‘चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी’। इस आधार पर आकलन किया जाए तो एक भौगोलिक परिवेश में एक समाज विशेष द्वारा प्रयुक्त ‘बोली’ ही लोक साहित्य का आधार बनती है और इस बोली की शब्दावली, लोकोक्ति, कहावतें, लोक गीत के समाहार से प्रसूत लोक साहित्य सामाजिक संदर्भ और संस्कृति का वाहक बनता है।

ध्यातव्य है कि हिंदी में पाँच उपभाषाएँ और सत्रह बोलियाँ समाहित हैं। दसवीं शताब्दी में जब हिंदी का उद्भव व विकास हुआ तो, अपभ्रंश व अवहट्ट में काव्य रचना करने वाले आदि कवि विद्यापति ने लोक बोली ‘मैथिली’ में साहित्य रचना आरंभ की और इस कारण मैथिली भाषा रूप में प्रतिष्ठापित हो गई। इसी तरह संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होने के बावजूद तुलसीदास ने संस्कृत की बजाय अवध की बोली ‘अवधी’ में

॥ अनुशीलन ॥

रामचरितमानस की रचना कर अवधी को भाषा रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया। कबीर ने भी ठेठ सधुक्कड़ी बोली में सबद-साखी बाँची। हालांकि कबीर ने स्वयं कहा है- ‘मसि कागद तो छुय्यों नाहिं, कलम गह्यो नाहिं हाथ’। लेकिन कबीरवाणी को उनके शिष्यों ने उनकी ही बोली-भाषा में लिखा। फिर, मीराबाई ने राजस्थानी बोली में रचना की और इस तरह राजस्थानी बोली भी साहित्य हो गई।

इसका अभिप्रेत यह है कि अलग-अलग बोली की नींव पर ही अलग-अलग लोक साहित्य के छोटे-बड़े महल बने। बोलियाँ अपने क्षेत्र व क्षेत्रवासियों के लिए प्राणवायु का कार्य करती हैं और इन्हीं बोलियों में रचे गए लोक साहित्य के माध्यम से क्षेत्र विशेष की पहचान सुखरुं होती हैं। इस पहचान को अक्षुण्ण रखते हुए विविधता में एकता की अवधारणा को पुष्ट रखने का उत्तरदायित्व युवा पीढ़ी पर है।

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में भी अमर आंचलिक कथा सम्राट फणीश्वरनाथ रेणु ने ‘मैला आँचल’ उपन्यास की रचना यद्यपि हिंदी भाषा में की, किन्तु इस उपन्यास में ‘पुरनिया अंचल’ की बोली-भाषा अंगिका व मैथिली की शब्दावली का भरपूर उपयोग किया और इस माध्यम से पूर्णिया प्रमण्डल की सामाजिक समस्याओं को रेखांकित करने के साथ-साथ इस अंचल की संस्कृति का वितान फैलाया। ‘मैला आँचल’ में धानरोपनी से लेकर धानकटनी, होली-दीवाली, विषहरी पूजा आदि विभिन्न अवसरों पर गाए जाने वाले गीत एवं बिदेसिया नाच का वर्णन रेणु ने किया है। ‘मैला आँचल’ उपन्यास पर विदेशी साहित्यकारों ने शोध किया है। रेणु साहित्य पर शोध करने वाले ला ट्रोब यूनिवर्सिटी, आस्ट्रेलिया के हिंदी के प्रोफेसर इयचान वुल्फोर्ड तो कई बार रेणु के पैतृक गाँव औरही हिंगना का दौरा कर चुके हैं। रेणु साहित्य

में एवं लोक संस्कृति, लोक गीत, लोक शब्दावली, लोकोक्ति, मुहावरे भरे पड़े हैं। तात्पर्य यह कि लोक संस्कृति एवं लोक परम्परा का वाहक लोक साहित्य आधुनिक काल में भी प्रासंगिक बना हुआ है।

पाश्चात्य भोगवादी, पूंजीवादी, वैचारिक चिंतन-पद्धति और जीवन-प्रणाली दोनों ही हमारे सिर पर इस कदर हावी हो रहे हैं कि आज पारिवारिक सदस्यों का आपसी संवाद समाप्त हो रहा है। इंटरनेट की सोशल साइट पर दोस्त बन रहे हैं, खूब बन रहे हैं, उनसे घंटों चर्चा उपयोगी लगती है, पर घर की दादी-नानी, दाई-ददा की बातें पिछड़ी बन चली हैं। इनके बारे में सोचने और चिंतन करके समाधान करने की फुर्सत किसे है? अगर बाहरी दिखावों के मुखौटों को उतारकर कुछ करना है तो हमें पुनः उस लोकसाहित्य से जुड़ना होगा, जो हमारे दिलों को जोश, उमंग, प्यार और आत्मीयता से भरे मानवीय गुणों से युक्त कर सके। इंटरनेट और सोशल मीडिया के इस आधुनिकतम दौर में अपने गाँव-घर से दूर जीविकोपार्जन करने वाली युवा पीढ़ी का अपने-अपने क्षेत्र की बोली-भाषा व संस्कृति की तरफ बढ़ा रुझान शुभ संकेत और काफी सकारात्मक है। अमेरिका, लंदन, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों में नौकरी या व्यापार करने वाले गुजराती भाषी, बांग्ला भाषी, मैथिली भाषी, भोजपुरी भाषी आदि सभी क्षेत्रीय बोली-भाषा बोलने वाले युवा जब मिलते हैं जो अपनी बोली-भाषा का उपयोग करने लगे हैं। ऐसा करने से उन्हें रोमांचकारी अनुभव मिलता है और वे विदेश में भी अपनी माटी की सौंधी सुगंध की अनुभूति करते हैं। खास तौर पर होली, दीवाली, दुर्गा पूजा, छठ आदि पर्व-त्योहारों में तो लोक संस्कृति एवं परम्परा की छटा बिखर जाती है। लोक गीत एवं लोक नृत्य होते हैं। और, इस माध्यम से लोक साहित्य देश-विदेश में पुनर्प्रतिष्ठापित होता है।

॥ अनुशीलन ॥

लोक साहित्य परवर्ती साहित्य के अलावा इतिहास, पुरातत्व, भूगोल, नृत्य आदि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अनेकविध उपयोगी हो सकता है। “मध्य युग के ऐतिहासिक लोकनायकों और वीरों की जो कहानियां आज प्रचलित हैं, वे उनसे पूर्व नहीं रची गई होगी। भोज, हम्मीर, रानसेन और पद्मावती आदि की कहानियां इसी प्रकार की हैं। सन् सत्तावन के राष्ट्रीय विद्रोह ने कुंवर सिंह के गीतों को जन्म दिया है। आदिवासी विद्रोह के बाद बिरसा भगवान की कथाएं और गीत छोटा नागपुर की विभिन्न भाषाओं के लोकसाहित्य के अंग बन गए हैं। वर्तमान शताब्दी में गांधी और भगतसिंह संबंधी लोकगीतों की रचना हुई है और वे हमारी मौखिक परंपरा में सम्मिलित हो गए हैं।”⁴

लोक साहित्य की प्रासंगिकता इसलिए भी और अधिक है, क्योंकि इसके अवलोकन और अध्ययन से यह पता चलता है कि इसमें सीधा-सादा सरल शब्दों में अभिव्यक्त हुए समस्त लोक समुदाय के मनोभावों में ग्रामीण जगत की और मूल, आदिम,

प्रकृति जीवन संस्कारों की झांकी देखने को मिलती है। प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम रखने वाले लोकजीवन में कंठ परंपरा के अनुसार चलते-चले आने वाले इस साहित्य की यही तो विशेषता है कि यह हमारे अंतरतम तक पहुँचकर हमारे हृदय के तारों को झंकृत कर देता है। लोक साहित्य में सर्वभूत हिताय और सर्वजन सुखाय की भावना प्रचुर परिणाम में पाई जाती है। लोक साहित्य आदिकाल से आज तक अपनी मूल प्रेरणाओं के साथ गतिशील रहा है। यह अपने साथ आज भी मूल प्रवृत्तियों एवं प्रेरणाओं को लिए हुए है। लोकसाहित्य प्रत्येक युग की निधि बन जाने की क्षमता रखता है। लोकसाहित्य जनता की संपत्ति होने के कारण लोकसंस्कृति का दर्पण भी होता है। लोकसाहित्य में क्षेत्र विशेष की संस्कृति, सभ्यता, धर्म, रीति-रिवाज एवं कला का सूक्ष्म अवलोकन भी सुलभ होता है। लोकसाहित्य प्राचीन होते हुए भी युगीन समस्याओं एवं संभावनाओं को साथ लेकर चलता है। उसमें निरंतर नवीनता का समावेश होता है, होता रहता है।

संदर्भ सूची

1. शर्मा, डॉ. रामविलास, लोक-साहित्य और लोक- संस्कृति, पंकज बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 11
2. मिश्र, डॉ. शिव कुमार, भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2010, पृ. 300
3. शंभुनाथ, संस्कृति की उत्तरकथा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000, पृ. 124
4. प्रसाद, दिनेश, लोकसाहित्य और संस्कृति, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 119-120

बेथुन महाविद्यालय, प्राध्यापिका, हिंदी विभाग, कोलकाता, पश्चिम बंगाल

मो. : 6290818929

ई-मेल : namita2209@rediffmail.com

लोक : यानी सृष्टि के पहरेदार का सांस्कृतिक ज्ञान-कोष

- शशिभूषण द्विवेदी

चूँकि ज्ञान के अनुशासनों में विधाएँ तेजी से बदलते हुए समय के साथ उसी तेजी से बदल रही हैं, इसलिए बहुत कुछ में बहुत-कुछ खोजा जा रहा है, और कहीं-कहीं तो सब कुछ खोज लेने और उसे संसार को सौंप कर उसे प्रभावित करने की होड़ मची है। इसीलिए कहा जा सकता है कि “लोक” को भी एक खुला मंच देकर उसे प्रजातांत्रिक बनाया जा सकता है, और उसकी प्रजातांत्रिकता की व्याख्या भी की जा सकती है।

इस प्रजातांत्रिक माहौल में (राजनीतिक चिंतन में यह कहा जा रहा है कि दुनिया को प्रजा तंत्र के रूप में शासन की सामाजिकता का सबसे अच्छा तरीका मिल गया है) लोक अब इतना व्यापक हो गया है कि उसकी बाँहें संसार को घेर चुकी हैं, उसके पैर हिमालय जैसे हो गए हैं, उसकी सांसों से हवा की होड़ हो रही है और उसके इस विस्तृत वृत्त में संसार का बहुत कुछ खोजा जा सकता है। ज्ञान की विधाओं की रोशनी में लोक के माध्यम से जीवन की जड़ समेत अनेक आनुषांगिक पहलुओं पर बात आगे बढ़ सकती है, और इसे लोक की ताकत माना जा सकता है।

उपसर्ग और प्रत्यय की व्याकरणीय कसरत को अगर थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दिया जाए तब भी लोक “परलोक” तक फैला हुआ लगता है और “इहलोक” के पास आकर ठहर जाता है। माना जा सकता है कि यही “समय” का इसकी अनेक विधाओं में विलय है यानि- काल, अकाल, महाकाल, दुष्काल और न जाने और कितने पर्यायवाची इसमें पचे हुए हैं। इसीलिए समय एक बड़ा पाचक भी है; जो पचाता भी है और मुक्त भी करता है।

लोक सबसे पहले ठहरता है उस आदमी के पास जो गेहूँ, धान, फूल, फल और यहाँ तक कि विष भी (क्या अंग्रेजों ने इस देश को अफीम उपजाना चीनियों के साथ नहीं सिखा दिया था) उस सीधे-सादे आदमी से कहता है लोक, या वह आदमी कहता है लोक से-
सावन मास बहे पुरवाईया
बैलाऽ बेच किनऽ धेनु गईया...

यह सांस रोक देने वाली बात- जिसके कवि का हमें कोई पता नहीं है सिर्फ लोक-स्मृति में जीवित है जिसका सारांश है कि - अगर सावन के महीने में पुरब दिशा की हवा चलने लगे तो लोक का व्यक्ति, यानि अन्नदाता किसान अपने बैलों को बेचकर गाय खरीद ले। यह तो इस भोजपुरी कविता-अंश का शाब्दिक अर्थ हुआ। इसको डी-कोड या डी-कंस्ट्रक्ट करने पर जो अर्थ निकलता है वह एक शाश्वत-समस्या की तरफ ले जाता है; वह है भूख, अकाल, दुष्काल आदि-आदि। हमारा लोक इतना सजग पहरुआ है कि उसे अनहोनी का आभास है कि अकाल की स्थिति में अगर गाय पास होगी तो थोड़ा दूध तो मिल जाएगा : मतलब भूख आपको मारेगी नहीं और जीवन का स्पंदन नहीं रुकेगा; और जीवन बचा रहेगा तो फिर लहलहा उठेगा। इन दो पंक्तियों ने जीवन की जड़ को पहचान लिया है और भूख की आग से “इहलोक” यानि समय के वर्तमान के आदमी को आगाह कर दिया है। इस कविता का महामानव मनुष्य का भला चाहता है, उसे काल-कवलित होने देना नहीं चाहता और न जीवन के क्रम को बाधित करना चाहता है। वह चाहता है कि जीवन का पोषण करने वाली सभ्यताएँ मरे नहीं, उनमें मारा-मारी नहीं हो यानि सभ्यताओं में आज के

मुहावरे वाली मारामारी नहीं हो यानि - “क्लैश ऑफ सिवलाइजेशन” से दुनिया बची रहे।

हमारा लोक ज्ञान की विधाओं और उसके अनुशासनों का सखा है। उसके पास जंगल के फूल हैं, संघी बनी है उसके पहाड़ी जंगलों में, जो जीवन देती है, उसके पास फूल हैं जिनमें सुगंध हैं। फूल भले मुरझा जाएँ लेकिन खुशबू शाश्वत है और इसीलिए खुशबू को उदात्त-मानवीय मूल्यों के करीब माना जाता है। इसी से मनुष्य को शक्ति या उर्जा मिलती है और वह जंगल, पहाड़, नदी-झरने आदि को लोक की मदद से बचाता रहा है। ताकि हवाएँ, जंगल, फूल सब सृष्टि को बचाए रखें।

लोक के कमाल का दायरा बहुत बड़ा है क्योंकि उसके पास “रस” नाम की एक नायाब चीज है जो जीवन के चप्पे-चप्पे में मौजूद है और साहित्य में उसका यह उद्घोष जग-जाहिर है कि - “प्रेम रसों का राजा है।” लोक जब किसी नदी की कछार पर खड़ा होकर गाता है, यह पंक्ति- “हमरा गांव वाली गोरिया जब जवान होई/ भईया तबेऽ हमरा गंगा स्नान होई”, तब ऐसा लगता है कि यह पवित्र गंगा नदी को भी चुनौती है कि गंगा माँ! मेरे नहाने की प्रतीक्षा करो, क्योंकि अभी उसका समय नहीं आया, और मेरे लिए गंगा-स्नान कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं है। वह दबी जुबान से यह भी कहना चाहता है कि मेरे स्नान का ताना-बाना उस कंचुकी से बना है जो जवान हो रही है” यानि जिसका “काल” अभी उसका “समय” नहीं हुआ है, समय आने दो तभी मेरा प्रण पूरा होगा और मैं गंगा स्नान से एक मुक्ति का अनुभव करूँगा, क्योंकि प्रेम की पूर्ति एक बड़ी मुक्ति है, और मुक्ति के आर-पास सारा संसार है और संसार में सभ्यताओं के आगे बढ़ते रहने का एक शाश्वत क्रम है।

इस कवि का लोकनायक जब गंगा से ऐसी प्रार्थना करता है तो वह सिर्फ “प्रतीक्षा” की ही बात कर

रहा है; क्योंकि जर्मन लेखक-दार्शनिक-नोबेल पुरस्कार विजेता हरमन हेस का नायक भी हमारे सामने उदाहरण बनकर उनके उपन्यास “सिद्धार्थ” में खड़ा मिलता है जो “जीवन के अर्थ” यानि “Meaning of Life” को तीन सूत्रों से समझ लेता है- यानि चिंतन, प्रतीक्षा और उपवास। उसका कहना है : “I can think, I can wait, and I can fast”.

अर्थात् हमारे लोक-नायक की प्रतीक्षा जीवन के अर्थ से जुड़ी है और ‘सिद्धार्थ’ उपन्यास दुनिया की बड़ी किताबों में शुमार होता है। उस पर जर्मन और अंग्रेजी में एक अत्यंत सफल फिल्म ‘कॉनरेड रुक्स’ नाम के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के फिल्मकार ने बनाई है जिसमें स्व. शशि कपूर, सीमा ग्रेवाल, पिंचू कपूर, सोमेश शर्मा आदि सभी भारतीय कलाकारों ने काम किया है।

आगे बढ़ते हुए जब हम थोड़ी और गहराई में जाते हैं तो पाते हैं कि लोक धर्म के ताने-बाने के साथ जीवन से जुड़कर उसके अर्थ में बढ़ोतरी करता है; और जब दुनिया के सबसे बड़े कवि तुलसीदास कहते हैं कि “छुद्र नदी भरि चलीं तोराई/ जस थोरेहुँ धन खल इतराई”, तो उसी कालावधि में उनके मित्र और अकबर के दरबारी कवि का स्वर गूँजता है -

अति परिचय से होत है अरुचि अनादर भाई-
मलयागिरी की भिलनी चन्दन देत जराई।।

ये दोनों कवि मित्र, जिनमें से तुलसीदास को अकबर ने रहीम खानखाना के कहने पर अपने दरबार में आमंत्रित किया था और जिस आमंत्रण को तुलसीदास ने अपने परवर्ती कवि कुंभनदास का यह दोहा पढ़कर टुकरा दिया था कि- “संतन को कहाँ सिकरी सो काम/ आवत जात पनहिया टूटी, बिसर गयो हरि-नाम” - महान समाजशास्त्री हैं क्योंकि ओछे आदमी के चरित्र की अगर तुलसीदास सप्रसंग व्याख्या करते हैं तो रहीम का मानना है कि किसी से भी ज्यादा

नजदीकी खतरनाक हो सकती है; जैसा कि- चन्दन को उस इलाके में जला दिया जाता है जहाँ वह ज्यादा होता है। ये दोनों महान उदाहरण हमारे लोक से आए हैं और ज्ञान के अनुशासनों की वृद्धि में सहायक हैं। यहाँ संपर्क की एक सीमा तय कर दी गई है जो ऐतिहासिक होकर कालातीत हो गई है और इतिहास तथा साहित्य के उस अंतर्संबंध की व्याख्या करती है जिससे हिंदी साहित्य का समूचा कलेवर जुड़ा हुआ है। मैंने जो उदाहरण ऊपर दिए हैं, वे सब भोजपुरी, अवधी आदि के हैं। यानि चाहे इस देश के बारह करोड़ लोगों की भाषा भोजपुरी हो या अवधी या मैथिली, मगही, मालवी, बज्जिका, अंगिका आदि हो; हिंदी इन्हीं की जड़ और सहायता से हिन्दी बनी है और ब्रजभाषा, पाली, अपभ्रंश आदि को जोड़ने पर ही हिंदी का वह संपूर्ण रूप बनता है जो उसकी पहचान या अस्तित्व है और जिसका उत्स उस संस्कृत में है जो सभी भारतीय भाषाओं की जननी मानी जाती है। यह तो सर्वविदित है ही कि संस्कृत-साहित्य का पहला श्लोक आदि-कवि वाल्मीकि के उस दुःख से निकला था; जो उन्होंने एक क्रौंच पक्षी की एक बहेलिये द्वारा मौत पर बोला था-

**माँ निषाद् प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शाश्वती समाः
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ।।**

दुःख और लोक; यानी पक्षी का वासस्थान पेड़, का यह सोग हमारी संस्कृति से निकले क्रोध से बना अंतर्राष्ट्रीय स्तर का साहित्य हो गया है जो लोक को एक सांस्कृतिक विस्तार दे रहा है और अंग्रेजी साहित्य

के इतिहास से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। वहाँ कुछ चरवाहे एक नदी के किनारे एक दूसरे से कुछ गाने को कहते हैं तो एक ईश्वर के बारे में कुछ गाने लगता है जो कविता का मूल स्रोत होकर साहित्य में दर्ज हो गया है। अंग्रेजी साहित्य के एक अत्यंत प्रतिष्ठित इतिहासकार विलियम जे. जोंग अपनी किताब “इंग्लिश लिटरेचर” में लिखते हैं, “The aim is to show by a study of each successive period, how our literature developed from its first simple songs and stories to its present complexity in prose and poetry”. मतलब सामान्य गीतों, कहानियों से शुरुआत हुई आज के जटिल साहित्य की।

कहा जा सकता है कि हमारा लोक जीवन की जड़, सृष्टि का सूत्र, ज्ञान का विस्तार, संस्कृति की व्याख्या, जीवन को समझने का उत्स, मनुष्य के मनुष्य बने रहने की शर्त और सभ्यता के निरंतर आगे बढ़ते रहने का वह नायाब हीरा है जिसकी चमक सभ्यताओं के साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र, भूगोल, दर्शन, गणित, भौतिकी (आखिर न्यूटन के सेव को गिरते देखकर पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की खोज का सिद्धांत क्या है?) आदि के विकास के साथ निरंतर बढ़ती गई है। आवश्यकता है कि लोक बचे और हम इसे इस धन-पिशाची समय में धन-पिशाचों के हवाले (अपने गाँव, खेत, खलिहान, जंगल, पहाड़ आदि को देकर या बेच-खरीदकर) न करें। लोक अनंत विस्तार का क्षितिज है और सारी कायनात उसकी जड़ में ही है!!

31ए, के. सी. रोड
(होटल महावीर इन)
सिलीगुड़ी - 734001
पश्चिम बंगाल

लोक और नागर समाज एकमेव हो रहे हैं

- मृत्युंजय श्रीवास्तव

लोक का एक मतलब ज्ञान है और दूसरा मतलब है परंपरा।

परंपरा वह जो हल्के-हल्के बदलाव के साथ चलती रहे। बदलाव इतना धीमा-धीमा हो कि उसके बदलने का एहसास न हो। बदलाव चाहे जितना हो वह आमूलचूल न हो। ऐसी परंपरा से जो जीवन चलता है वह लोक जीवन कहलाता है।

आमचलन में लोकजीवन शहरी जीवन के विपरीत मान लिया जाता है। नागर जीवन अपना रहन-सहन अपनी परिस्थितियों के अनुसार जैसा रच ले, मगर वह लोक जीवन से बिलकुल विच्छिन्न नहीं होता। यहाँ तक कि नागर जीवन में लोक जीवन की सोच और चलन अनिवार्य रूप से जीवित रहते हैं, इसीलिए लोक जीवन कभी अंतिम रूप से मरता नहीं है।

नई परिस्थितियों में नागर जीवन लोक-जीवन को प्रभावित करता है। फलतः लोकजीवन में बदलाव भी उसी के अनुरूप आता रहता है। वही परंपराएँ जीवित रहती हैं जो बदलाव को सहज ही पचा लेती हैं। बदलाव से परंपराएँ जीवंत बनी रहती हैं। वे जीवंत परंपराएँ ही होती हैं जो किसी विशेष समुदाय की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती हैं बिना किसी लिखा-पढ़त के। इसे किसी भूगोल विशेष की जातीय संस्कृति कहते हैं।

एक आम धारणा यह है कि लोक का संबंध गाँव के अनपढ़ और गरीब समुदाय से है। कुल मिलाकर वंचित समुदाय से है। इसलिए, जब लोक संस्कृति की बात की जाती है तो उसमें अनगढ़पन अनिवार्य तत्व होता है। अनगढ़पन उसकी पहचान होती है। अनगढ़पन फूहड़ता का पर्याय नहीं है। अनगढ़पन का

अपना वह सौंदर्य होता है जो लोक-जीवन का सहज सौंदर्य होता है। आधुनिकता के दबाव में प्रायः लोव-जीवन का सौंदर्य घायल होता है। एक ओर आधुनिकता लोक-जीवन, लोक-संस्कृति और लोक-सौंदर्य को नष्ट करती है, दूसरी ओर उनकी रक्षा की जिम्मेदारी ले लेती है। लेकिन, रक्षा की जिम्मेदारी केवल शाब्दिक प्रहसन होती है।

आधुनिकता अपना चरण पूरा करके उत्तर आधुनिक दौर में पहुँचकर लोकजीवन, लोकसंस्कृति, लोक भाषा और लोक सौंदर्य को अंतिम रूप से मिटाने का अभियान तेज कर देती है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह अनपढ़ता और गरीबी को मिटाती है। वह नए सिरे से भयावह अनपढ़ता और नव दरिद्रता का नया साम्राज्य तैयार करती है। वह सौंदर्य की जगह फूहड़ता को अनिवार्य गुण की तरह स्थापित करती है। उत्तर आधुनिकता फूहड़ता को सरलता और सफलता का पर्याय बनाकर नगर से गाँव तक उसे बरतने के लिए उत्साहित करती है। मानसिक बदलाव का पहला असर भाषा और भाषा से भी पहले बोली-बानी पर होता है। बोली-बानी वह नब्ज है जिसे देखकर भविष्य बाँचा जा सकता है। 21वीं सदी में केवल नागर बोली-बानी नहीं बदलती है, लोक बोली-बानी कुरूप हुई है।

भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में फूहड़ता आज धमाल मचा रही है। फूहड़ता और तरह-तरह की अशिष्टता को प्रमोट करने के लिए स्मृतिहनन की प्रक्रिया तेज कर दी जाती है। जबकि, लोक-जीवन, लोक-संस्कृति और लोक-सौंदर्य की बुनियाद स्मृति पर टिकी होती है। उसका विनाश करना उस देश की संस्कृति को

मिटा देना है। भारत आज इसकी घनघोर चपेट में है। स्मृतिहनन को मूल्यहंता कहते हैं। यह लोक ज्ञान और लोक परंपरा को मिटा देने का हल्ला-बोल कार्यक्रम है।

सबसे खतरनाक होता है लोक विवेक पर आघात। लोक विवेक पर दीर्घकालीन आघात का परिणाम यह है कि लोक संवेदना और लोकवृत्त मृतप्राय है। लोकवृत्त वह जगह होती है जहाँ लोक विवेक से लोक विचार और लोक राय पैदा होती है। लोक विवेक का संबंध केवल ग्राम्य संवेदना से नहीं है। यह वह संवेदना है जो वंचित होने की पीड़ा और बोध से पैदा होती है। वंचितों का फैलाव गाँवों से शहरों और कस्बों से नगरों तक है। एक समय वह था जब जाल में चिड़ियाँ फँसा करती थीं, अब विकसित समय का नया जाल वह है जहाँ लोक विवेक फँस जाता है। अंतर यह है कि जब पक्षी फँस जाते थे तो उनमें इतना विवेक बचा होता था कि वे सब मिलकर जाल लेकर उड़ जाया करते थे। अपने मूषक मित्र से जाल कटवा लिया करते थे। अब शिकारी सीधे माथा पर धावा बोलता है। अपने अनुकूल अवाम का माथा मथ देता है।

लोक काल किसी विशेष कालखंड का संकेत नहीं करता है। हर समय में लोक संवेदना का नया झरना फूटता है। ग्रामीण लोक और नागर लोक में संघर्ष या तनाव नहीं है। बल्कि, इनका संबंध एकाउंट्स के डबल इंटी सिस्टम की तरह का है। दोनों लोकों में उपजी संवेदनाओं का प्रभाव एक दूसरे को सींचता है। लेकिन, चूँकि बाजार में तनाव से भौकाल पैदा होता है, वह बिकता है, और लाभ देता है, इसलिए सत्ता के सौदागर इनकी संवेदनाओं के पाक में उस केमिकल की दो बूँदें टपका देते हैं, जिससे तनाव का फॉर्मेशन होता है। तनाव से बनाम के द्वंद्व के दृश्य पैदा होते हैं। मगर यह द्वंद्व का फेक फोम होता है। भले ही यह फेक फोम होता हो, मगर जो दीवारें खड़ी

होती हैं, वे फेक नहीं होती हैं। संवेदनाओं में दरार पैदा करती हैं।

आज लोक संवेदना की जगह लोक उन्माद का माहौल है। उन्माद संवेदना, सहानुभूति और विवेक का हत्यारा होता है। यह संवेदना और सहानुभूति की जगह बँटवारे और घृणा का मानस तैयार करता है। अविश्वास का वातावरण तैयार करता है। ऐसा करने के लिए धार्मिक मनोभाव का इस्तेमाल सहज ही कर लिया जाता है। आज भारत के लोकवृत्त को नष्ट करके एक ऐसी हवा तैयार की गई है कि लोकतंत्र की जगह केवल तंत्र बचा है।

तंत्र लोक को लोकतंत्र से बाहर खदेड़ कर सर्वशक्तिमान बन बैठता है और उस पर अपना शिकंजा कसता जाता है। इतना कि लोक का जीना मुहाल हो जाता है, क्योंकि लोक-परंपरा और लोव-ज्ञान के लिए जगह नहीं रहने दी जाती। भारतीय ज्ञान परंपरा की खोज करते हुए यह याद नहीं रखा जाता कि ज्ञान की राष्ट्रीयता नहीं होती और न ही ज्ञान की एक परंपरा होती है। अजस्र धारा से बहते और फैलते हुए ज्ञान से ज्ञान परंपरा और उन्नति की परंपरा बनती है। आज जिस भारतीय ज्ञान परंपरा की खोज की जा रही है यकीनन वह ज्ञान की बहुत सारी धाराओं को ज्ञान की परंपरा से निकालने की कवायद है। यह लोक-चिंता का विषय है, जबकि सच यह है कि लोक विविधताओं की समुच्चय है। कई बार विविधता विरोधाभासों से गुँथी-गुँथी होती है। मगर यह समावेशी विविधता होती है। भारत का लोक मन और लोकमत उसी समावेशी संस्कृति से बनता है।

आज का लोक कृषक और श्रमजीवी तक सीमित नहीं है। मसिजीवी भी इसमें शामिल हैं। शामिल वे भी हैं जिन्हें नई परिस्थितियों ने न किसान रहने दिया है और न ही संगठित मजदूर। मगर वे अपने स्तर पर अपने श्रम से जीवन यापन की मशक्कत कर रहे हैं,

जिन्हें श्रम करने के मानव अधिकार से वंचित किया जा रहा है, वे भी लोक के अनिवार्य हिस्से हैं। नागरिक समाज और लोक समाज की दूरी मिट रही है, यह एकमेव हो रहा है। यह एकमेव लोक अपने अधिकारों से अनभिज्ञ नहीं है। इसमें उन्नत जीवन की अभिलाषा और आकांक्षा है। अपने स्तर पर निजी पहल भी है। अभाव केवल संगठित और सामूहिक रूप से संघर्ष करने के जज्बा का है। पारस्परिकता का अभाव है।

पारस्परिकता के अभाव का संकट सर्वसत्तावादी व्यवस्था की उपज है। सर्वसत्तावादी व्यवस्था लोक को उलझाए रखने के लिए तरह-तरह की नई व्यवस्था पैदा करती है। आज का लोक बड़े पैमाने पर नॉनसेंस मनोरंजन उत्पाद का उपभोक्ता बना हुआ है तो दूसरी ओर व्यवस्था लोक की धार्मिक आस्था और भावना की नॉनसेंस उपभोक्ता है। दोनों स्थितियाँ ऐसी हैं कि सर्वसम्मति और समभाव की कोई स्थिति लोक में नहीं बनने देती। लोक शिकार है। लोक पीड़ित है। शिकार और पीड़ित होने का एहसास भी है उसे, मगर उसने हमसफर और हमदर्द होने का बोध हेरा दिया है। अब लोक हमदम और हमकदम नहीं बन रहा।

लोक की रचनात्मकता का क्षरण बड़े पैमाने पर हुआ है। रचनात्मकता की यात्रा हमदम और हमकदम

बनने की ऊर्जा पैदा करती है। लोक साहित्य और लोककलाओं-लोकगीतों को सहेजने भर की ललक काफी नहीं है। रचनात्मकता की कोख में भविष्य के अंकुर होते हैं। रचनात्मकता की लहर सदैव समकाल से संवाद और संगति से बनती है। संवाद और संगति की ललक तो नहीं ही है, ए आई की मार एक नई भयावह स्थिति है। ए आई केवल श्रम करने के मौलिक अधिकार का हरण ही नहीं कर रहा है, लोक की रचनात्मक मिट्टी में कोई अंकुर नहीं फूटने देगा। ए आई लोक के साथ-साथ वंचितों का सब कुछ हर लेने वाली सर्वसत्तावादी व्यवस्था की एक खूँखार एजेंट है। लोक के सामने ये दो गहरी चुनौतियाँ हैं।

चिंता का विषय यह भी है कि लोक की राजनीतिक चेतना धूमिल होती जा रही है। जिस देश के लोक की राजनीतिक चेतना मंद हो जाती है, उस देश की राजनीतिक शक्तियाँ पंगु हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में देश की प्रशासनिक व्यवस्था मनमौजी होती जाती है। आवारगी उसके स्वभाव का स्थायी हिस्सा बनने लगती है। यह किसी पार्टी विशेष के कार्य व्यवहार का मसला नहीं रह जाता, देश में एक नई प्रशानिक संस्कृति पैदा हो जाती है, जो लोक-हित की परवाह नहीं करती। आज लोक इस संस्कृति से पीड़ित है।

एनबीसीसी, विबग्योर टावर,
फ्लैट नं. : सी11.3, न्यू टाउन
कोलकाता - 700 156
मो. : 9433076174

लोक विमर्श के अंतर्विरोध

- डॉ. ऋषि भूषण चौबे

हिंदी के लगभग सभी महत्वपूर्ण लेखकों ने लोक साहित्य, लोक भाषा और लोक चेतना से जुड़े विविध पक्षों पर विचार किया है। हाल के वर्षों में लोक साहित्य पाठ्यक्रमों का अनिवार्य हिस्सा बन चुका है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिंदी में लोक साहित्य पर बहुत लिखा-पढ़ा जाने लगा है। लेकिन इन लेखों एवं विमर्शों में नवीनता का अभाव भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। 'लोक तत्त्व' और लोक साहित्य की 'कसौटियों' पर तार्किक विवेचना का अभाव भी सहज ही महसूस किया जा सकता है। लोक साहित्य संबंधी समूचा विमर्श कुछ मुद्दों के दोहराव और वैचारिक अंतर्विरोधों में उलझा हुआ दिखाई देता है। कई बार एक ही लेखक एक ही लेख में लोक साहित्य के स्वरूप और संरक्षण संबंधी चिंताओं में अस्पष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। इस तरह की अस्पष्टताओं और अंतर्विरोधों पर विचार करने पर, इसके कई कारण सामने आते हैं। पहली बात तो यह लगती है कि जैसे-जैसे आधुनिकता का प्रसार हुआ है लोक की अवधारणा में भी जटिलता बढ़ी है। गाँव और शहर के बीच के भेदों का धीरे-धीरे सिमटना भी इस विमर्श को कठिन बनाता चला गया है। पिछले दो दशकों में जो डिजिटल क्रांति आई है उसने चीजों को अवधारणा के स्तर पर समझने की कोशिश को मुश्किल ही किया है।

हिंदी साहित्य इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ही यदि 'लोक' को समझें तो आदिकाल का लोक बोध, भक्तिकाल और रीतिकाल के लोक बोध से अलग है। और इन दोनों कालों के लोक बोध से आधुनिक काल और समकालीन दौर का लोक बोध कहीं अधिक भिन्नता लिए हुए मिलता है। दूसरे शब्दों में, कबीर या तुलसी का लोक, भारतेंदु और प्रेमचंद के लोक से

काल के संदर्भ में भी भिन्न है और ज्ञानात्मक भाव बोध की दृष्टि से भी। इस संदर्भ में विचार करते हुए हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि एक ही काल खंड में कई स्तर की जीवन सरणियाँ उपस्थित एवं विकसित होती हैं। यानी हिंदी के मशहूर कथाकार प्रेमचंद के लिए 'लोक' और हिंदी के चर्चित कवि अज्ञेय के 'लोक' में पर्याप्त भिन्नता देखी जा सकती है। जीवन और अवधारणा— दोनों धरातलों पर।

अब अंतर्विरोध और अवधारणा संबंधी अस्पष्टता तथा जटिलता को इस कथन के संदर्भ में देखें— “लोक जीवन के दुख-दर्द, हर्ष-उल्लास और वैचारिक प्रतिक्रियाओं का स्वर प्रायः पारंपरिक अधिक होता है जो समकालीन अर्थ व्यवस्था के ठोस दबाव का परिणाम न होकर नियति के क्रूर विधान का परिणाम होता है। जिनकी वैचारिकता सामाजिक विषमताओं की बेचैनियों से पैदा न होकर बने बनाये रूप में चलती आती है किंतु आधुनिक काल में आकर लोक साहित्य अपने समय की बेचैनियों से जुड़ जाता है।”¹ कहना न होगा कि यहाँ वैचारिक स्पष्टता का अभाव दिखाई देता है। साहित्य मात्र अपने समय से अछूता नहीं रह सकता। हर काल का लोक साहित्य अपने युग के राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिवर्तनों से प्रभावित होता रहा है।

लोक की प्रासंगिकता व महत्ता के संदर्भ में यह कथन देखें— “लोक का अमृत निस्पंद जिस शास्त्र में नहीं मिला, वह कितना भी पंडिताऊ हो, निष्प्राण रहता है। जो ज्ञान लोकहित के लिए नहीं वह अधूरा है, वह मानवीय चिंतन का छूँछा फल है। जो शास्त्र लोक के साथ नहीं जुड़ा, वह बुद्धि का

छलावा है।”² इस कथन में ‘लोक’ की जो व्याप्ति है वह गौरतलब है। यहाँ ‘लोकहित’ और ‘लोकसंपर्क’ पदबंध का भी प्रयोग हुआ है। यह भी विचारणीय है। यदि हम इस कथन के आलोक में साहित्य और लोक साहित्य की अवधारणा को उसके तत्वों की पहचान और तदजनित कसौटियों के आधार पर कहना चाहें तो निश्चित रूप से कठिनाई होगी। भला कोई साहित्य ‘लोकहित’ और ‘लोक संपर्क’ से कटा हुआ रह कर साहित्य कैसे बना रह सकता है।

लोक साहित्य और लोक संस्कृति का संबंध पूँजीवादी समाज व्यवस्था से भी है। यह संबंध कैसा और क्यों है— इस पर भी गंभीरता से विचार हुआ है। सभी विद्वानों ने पूँजीवाद को लोक साहित्य और लोक संस्कृति के लिए खतरे के रूप में देखा है। कवि अरुण कमल लिखते हैं— “पूँजीवाद लोक या सामूहिकता की भावना को नष्ट करता है। ...और पूँजीवादी समाज की समाप्ति के बाद एक दिन लोक संस्कृति को समाजवाद में नया संस्कार मिलेगा... लोक कला पूँजीवादी समाज में विकसित हो ही नहीं सकती। वह एक खास बिंदु पर आकर रुक जाती है। इसलिए पूँजीवादी समाज में समस्या लोक कला को अक्षत रखने की होती है।”³ सवाल है कि क्या पूँजीवाद के खत्म होने और समाजवाद के आने की कोई संभावना है? इस तरह यह भी विचारणीय है कि किसी भी रूप में क्या पीछे लौटना संभव है? बैलगाड़ी वाली जीवन शैली चाहे जितनी मोहक क्यों न लगे हम उस दौर को न तो वापस पा सकते हैं और न पाना चाहेंगे। ऐसे में लोक कलाओं में परंपरागत रूप संरक्षित तो किया जा सकता है पर उसका स्वाभाविक विकास नहीं। इस बात को स्वयं कवि अरुण कमल भी स्वीकार करते हैं— “अब लोकगीतों का स्वतः सृजन, लोक कथा का स्वतः विकास संभव नहीं। नये-नये कला रूप तथा माध्यम आएंगे। इन परिवर्तनों से संस्कृति नष्ट होगी, ऐसा

में नहीं मानता। हाँ, लोक संस्कृति अवश्य अवरुद्ध हो जायेगी।”⁴

इसी ‘पूँजीवाद’ ने डिजिटल क्रांति को जन्म दिया। आज डिजिटल मीडिया हमारे जीवन व्यवहार का पर्याय बन चुका है। सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श भी सोशल मीडिया के प्लेटफार्मों पर खूब हो रहे हैं। जन-चेतना और जन-रुचि के निर्माण में भी इन माध्यमों और प्रस्तुत विषयों की अहम भूमिका है। अतीत के जीवन और अपनी जड़ों से सिंचित लोक कथा रूपों का आनंद भी व्यापक लोक-समाज से लेकर सीमित अभिजात्य समाज द्वारा उठाए जा रहे हैं। ऐसे में पूँजीवाद की एकहरी आलोचना भी तर्कसंगत नहीं लगती— “लेकिन पूँजीवाद लोक कला को भी व्यवसाय बना देता है। ...जब तक प्रसार माध्यम पूँजीपतियों और उनके समर्थकों के हाथ में है तब तक इसी उपभोक्ता संस्कृति का प्रसार चलेगा। लोक संस्कृति जन जीवन का जीवित अंग न रहकर स्वाधीनता दिवस की झाँकी बन जाती है।”⁵ यहाँ यह भी गौरतलब है कि कलाओं के विकास में पूँजी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः पूँजी और लोक में विरोध का ही नहीं सहयोग का भी नाता है।

लोक साहित्य की महत्ता पर सबसे अधिक विचार हुआ है। अलग-अलग लेखकों, विचारकों, कलाकारों ने अपने समय और दृष्टिकोण के हिसाब से लोक की महत्ता को स्पष्ट करने की पुरजोर कोशिशें की हैं। इसमें दो मत नहीं कि लोक साहित्य और लोक संस्कृति की पूरी सामग्री किसी भी भाषिक समाज और राष्ट्र के लिए धरोहर के समान होती है। लेकिन इस दृष्टि से विचार करते हुए भी हमें अति भावुकता से बचते हुए ठोस यथार्थ के धरातल पर रहकर ही विचार करना चाहिए। कुछ उदाहरण देखा जाए— “किसी देश की वास्तविक संस्कृति उस देश के लोक साहित्य में उपलब्ध होती है। अतः इस संस्कृति

को सुरक्षित रखने के लिए लोक साहित्य का संरक्षण और अध्ययन नितांत आवश्यक है।”⁶ “भारतीय आजादी का संघर्ष जो आधुनिक भारत के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है, उसकी अनेक छवियाँ लोक साहित्य में मौजूद हैं। भोजपुरी लोक संस्कृति में 1857 ई. के समर की व्यापक अनुगूँज विद्यमान है।.... इन सब में राष्ट्रीय चेतना के स्वर हैं।”⁷ उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में ‘राष्ट्र’ की परिकल्पना के परिप्रेक्ष्य में विचार किया गया है। राष्ट्र का वास्तविक चरित्र और राष्ट्रीय चेतना... ये दोनों तत्व महत्वपूर्ण हैं। लेकिन लोक साहित्य, लोक कला और लोक संस्कृति के संदर्भ में... ये पक्ष प्रमुखता से देखे जाने वाले नहीं हैं। इस संदर्भ में निम्नलिखित कथन लोक साहित्य के मर्म को अधिक सटीकता के साथ व्यक्त करता दिखाई देता है— “लोक मानस की सहज और स्वभाविक अभिव्यक्ति का नाम लोक साहित्य है। संभवतः यही लोक संस्कृति का वास्तविक प्रतिबिंब भी होता है।”⁸ यानी कहना यह है कि लोक में ‘राष्ट्रीय चेतना’ की अभिव्यक्ति का पक्ष न्यूनतम रूप में ही होता है।

‘साहित्य’ और ‘लोक साहित्य’ के बीच के अंतर को भी स्पष्ट करने में काफी अस्पष्टता दिखाई देती है। गांव और शहर के जीवन बोध में अंतर और निरंतर हो रहे बदलाव ने भी इस अंतर को सुलझा कर प्रस्तुत करने में कठिनाई पैदा की है। ‘लोक’ की अवधारणा को भी अतिशय मोहकता से देखने, महसूस करने एवं परिभाषित करने की चेष्टाएँ बहुत पहले से चलती आ रही हैं। इस संदर्भ में भी अधिकांश लेखक शुरुआती यूरोपीय विद्वानों के मतों को, जो कि यूरोपीय जीवन-जगत और परंपराबोध से निर्मित है, ध्यान में रखकर ही अपनी राय प्रस्तुत करते हैं। जाहिर है भारतीय और इसके विविध भाषिक क्षेत्रों की विशिष्टता को ध्यान में रखे बिना लोक, लोक जीवन और लोक साहित्य की जो समझ बनेगी वह

अधूरापन लिए होगी ही। लोक साहित्य और साहित्य को ‘शिष्ट’ साहित्य की आधार पर भूमि या कहें प्रेरणा भूमि के तौर पर दिखाने की कोशिशें हुई हैं... “लोक जीवन ऐसी शक्ति है, जो सामाजिक गतिरोधों को तोड़ने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी समाप्त करती है। कविता की दुनिया में जब कवियों को नया मार्ग नहीं सूझता, नई दिशाएँ मेघाच्छन्न दिखाई पड़ती हैं और पुरानी चाहरदीवारी से निकलने का उपाय नहीं सूझता तो लोक शक्ति ही मशाल लेकर आगे बढ़ती है। ... नया कवि इस प्राणदायिनी लोक शक्ति के ऋण को स्वीकार करने में गौरव का अनुभव करता है और इस स्वीकृति से उसे बार-बार पुनर्जीवन मिलता है।”⁹ एक और उदाहरण देखें— ‘जो चीजें लोकचित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आंदोलित, चालित और प्रभावित करती हैं, वे ही लोक साहित्य, लोक शिल्प, लोक नाट्य, लोक कथानक आदि नामों से पुकारी जाती हैं।’ उपर्युक्त दोनों कथनों में लोक साहित्य की जमीन और इसके महत्व को बहुत सुंदर तरीके से व्यक्त किया गया है। लेकिन इन दोनों कथनों को जब हम साहित्य और लोक साहित्य के बीच के अंतर के परिप्रेक्ष्य में, समझने की दृष्टि से विचारणीय बनाते हैं, तो मामला उलझता ही है, सुलझता नहीं है। “लोक शक्ति मशाल लेकर आगे बढ़ती है।” और “जो चीजें लोकचित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आंदोलित” ... इन दोनों पदबंधों में भाषिक चमत्कार और कहन की कलात्मक चेष्टा ही अधिक दिखाई देती है, वैचारिकी, जो कि ठोस सैद्धांतिकी से उत्पन्न हुई है, नहीं। इस संदर्भ में एक और कथन द्रष्टव्य है... “माना वे सर्वथा दूषित और कविता के गुणों से वंचित हैं, पर उनमें सच्ची कविता का लसरा पाया है। अर्थात्, उनमें चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तासीर खींची हुई पायी जाती है और आपकी

क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का जहर इसमें कहीं नहीं पाया जाता।”¹⁰ इस संदर्भ में यह कथन भी द्रष्टव्य है— “फिर भी नागर संस्कृति या संस्कृत साहित्य और लोक संस्कृति या हिंदी साहित्य का मूलभूत अंतर यह है कि पहला ऋतु मूलक है जो लौकिक अव्यवस्था के परे एक भूमाजन्य प्राकृतिक व्यवस्था में पर्यवेक्षित होता है। यह उसकी वैश्विक दृष्टि है। दूसरा लौकिक अव्यवस्था जो व्यवस्था की ओर ले जाने में संलग्न है।”¹¹

लोक साहित्य के महत्व के बाद इसके संरक्षण की जरूरत पर भी लेखकों ने गंभीरता से विचार किया है। संरक्षण की कोशिशों की पुरजोर सराहना भी की गई है। अलग-अलग समयों में संग्रह और संरक्षण के उद्देश्य और तरीके भी बदले। प्रिंट, रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट और इस पर आधारित सोशल मीडिया आदि माध्यमों के विकास और इनकी लोकप्रियता को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। गौरतलब है कि लोक साहित्य के संकलन, संरक्षण और प्रसार के महत्व को तो सभी ने स्वीकार किया है किंतु इस कार्य में जीवन खपाने वाले लोक साहित्य के प्रेमियों और अध्येताओं का अपेक्षित सम्मान और सामाजिक सुरक्षा की चिंता अपेक्षानुरूप नहीं की गई है। यूरोपीय विद्वानों और ईसाई मिशनरियों से जुड़े लोगों ने अपने धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक हितों को ध्यान में रखकर इस कार्य को स्थानीय भारतीय समूहों, व्यक्तियों एवं संस्थाओं के साथ मिलकर आगे बढ़ाया। उस समय भी इस महत्त्वपूर्ण कार्य की सारी प्रसिद्धि ऊँचे अधिकारियों और प्रभावशाली लोगों ने ही अपने लिए सुनिश्चित कर ली। बाकी लोग ‘आभार’ के भी मोहताज रखे गए। अंग्रेजी सत्ता के जाने के बाद भी जो काम इस दिशा में चलते रहे हैं उन्हें अपेक्षित सम्मान नहीं मिला। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों ने भी लोक साहित्य, लोक जीवन और लोक संस्कृति की महिमा बखान तो की, पर महत्वपूर्ण संकलनकर्ताओं और संरक्षणकर्ताओं

के नाम तक नहीं गिनाये। इसी तरह हिंदी के बड़े कवियों, लेखकों ने भी काव्य की नवीनता, सम्प्रेषणीयता, जीवंतता और दीर्घजीविता के परिप्रेक्ष्य में लोक कला और संस्कृति के महत्व को अनिवार्य बताया पर लोक कलाकारों और इस क्षेत्र में कार्य करने वालों से अनचाही किस्म की दूरी बनाए रखने की कोशिश की है। कहना यह है कि लोक साहित्य में रुचि और इसका अध्ययन एक ‘स्मार्ट’ और ‘गंभीर’ काम नहीं माना गया। इसका परिणाम यह हुआ है कि धीरे-धीरे नयी पीढ़ियाँ इससे और दूर होती चली गईं। कविगुरु टैगोर लिखते हैं— “लोरियों में एक आदिम सुकुमारता है जिनकी मधुरता को बाल्य रस नाम दिया जा सकता है। यह तीव्र नहीं है, गाढ़ नहीं है, वह बहुत ही स्निग्ध-सरस और मुक्ति तथा संगीत से हीन है। इसी रस के द्वारा आकृष्ट होकर मैं बंगाल के लोक साहित्य को संग्रह करने में लगा था।.... यह हमारी राष्ट्रीय संपत्ति है।”¹²

लोक साहित्य में व्यक्त नारी जीवन को ज्यादातर ‘स्त्री वेदना’ की दृष्टि से ही देखा गया है। जहाँ ‘स्त्री उल्लास’ का जिक्र है वहाँ ‘कुंठा’, ‘अश्लीलता’, ‘दमित आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति’ आदि दृष्टियों से भी इस ‘उल्लास’ को समझने की चेष्टा की गई है। स्वाभाविक स्त्री जीवन का चित्रण भी हमारे समाज के लिए ‘विचार’ का मुद्दा है। देखें... “लोक मानस के अध्येताओं का स्पष्ट मत है कि प्रत्येक मनुष्य में यौन-संबंधी कुंठा विद्यमान होती है और इन कुंठाओं का किसी-न-किसी माध्यम से निवारण आवश्यक है। अतः लोक में इन्हीं कुंठाओं से मुक्त होने के लिए ऐसे अवसर (होली, खोड़िया, जलुआ, राम आदि) चुने गए हैं, क्योंकि यौन-कुंठा विकृत होकर समाज के लिए घातक बन जाती है।”¹³

ग्रामीण स्त्री-जीवन की पीड़ा को विभिन्न भाषिक, सामाजिक संदर्भों में अलग लोक कला विधाओं से विश्लेषित करने की कोशिशें हुई हैं। ‘जँतसार’ गीत

विधा, जो कि भोजपुरी अंचल की एक प्रमुख लोकगीत विधा है, के संदर्भ में स्त्री जीवन की दुखभरी विडम्बनाओं पर लेखक की टिप्पणी है— “जँतसार में नारी जीवन ही दुःख और रुदन का पर्याय है। इन गीतों में स्त्री के जन्म से लेकर मृत्यु तक का समस्त चित्र उपस्थित है। वह एक पुत्री के रूप में जन्म लेती है, पत्नी, माता, बहन बनकर अपने सारे दायित्वों का निर्वहन कर अंत में चिरनिद्रा में सो जाती है। जँतसार उसके भोगे गये कष्टों का दस्तावेज है। यही कारण है कि इस गीत में करुण रस हिलोरे मार रहा है।”¹⁴ कहना यह है कि स्त्री जीवन को एक सीमा तक ही विशिष्ट मानना उचित है। विशिष्टता भी प्राकृतिक स्त्रीत्व व मातृत्व क्षमता के ही संदर्भ में देखना सही होगा। बाकी दुख-सुख के विवेचन को सहज मानवीय धरातल पर यानी स्त्री-पुरुष भेद को अलग रखते हुए प्रस्तुत करना ही ठोस जान पड़ता है। स्त्री देह, स्त्री मन और स्त्री विवेक को पुरुष देह, पुरुष मन और पुरुष विवेक से अलगाकर बहुत दूर तक ठीक-ठीक समझा भी नहीं जा सकता।

‘स्थानीयता’ और ‘वैश्विकता’ के संदर्भ में लोक साहित्य पर विशेष उदारता के साथ विचार किया गया है। लोक साहित्य के अध्ययताओं ने ‘विश्व संस्कृति’ की झलक ही नहीं, बल्कि इसे आधार भूमि की तरह देखा है। यह जरूर है कि आमतौर पर अपने-अपने भाषा-बोली क्षेत्र के अध्येता, अपने-अपने लोक साहित्य को विशिष्ट, प्राचीन और महान बताने की इच्छा के वशीभूत रहते हैं। इसे सहज मानवीय प्रवृत्ति कह सकते हैं। लेकिन जब हम दुनिया भर की लोक कलाओं, साहित्यिक एवं रचनात्मक क्रिया-कलापों का आस्वाद लेते हैं तो स्वतः यह ख्याल आता है कि मानव-मानव और धरती का हर कोना व टुकड़ा, दूसरे कोने और टुकड़े से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।..... “इसलिए लोक कलाएँ हमारी संस्कृति की सर्वोत्तम दर्पण

कहलाती हैं। किसी अंतरराष्ट्रीय समारोह में जब हमें विश्व के अधिकांश उन्नत भू-भागों की लोक कलाओं को देखने का अवसर मिलता है, तो ध्यान से देखने पर यही स्पष्ट होता है, कि सर्वत्र एक ही तत्व प्रधान है। स्वतंत्र नृत्य से या किसी कहानी से गुथे संपूर्ण दृश्य विशुद्ध प्रेम, क्रोध, करुणा निर्वेद आदि भावों का प्रदर्शन करते हैं।”¹⁵

इसमें कोई दो मत नहीं कि मानवीय भावनाएँ पूरी दुनिया में एक तरह की ही होती हैं। लेकिन मूल मानवीय भावों की अभिव्यक्ति का स्वरूप कभी एक नहीं रहा है। काव्य-सौंदर्य और आस्वाद की अवधारणाएँ भी भौगोलिक व सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार अलग व विशिष्ट स्वरूप निर्मित करती आयी हैं। लोक रुचियाँ और जीवन मूल्यों में अंतर के कारण भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। विश्व शांति और सौहार्द की चाहना मानव मात्र की चाहना है। पर यह चाहना ‘चाहना’ बनकर ही क्यों रहने को अभिशप्त है। यह भी विचारणीय है।.... “लोक जीवन का यह शिवत्व स्वरूप ही युगों से विश्व के लिए अपरिहार्य रहा है। इसीलिए बीते हुए कल की अपेक्षा आने वाले कल में इसकी आवश्यकता अधिक हो गई है।”¹⁶

संक्षेप में, लोक साहित्य और इससे संबंधित लोक विमर्श के बुनियादी पक्षों पर समकालीन परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सर्वथा नवीनता और स्पष्टता के साथ अध्ययन, शोध एवं अध्यापन की आवश्यकता है। इस संबंध में लगभग तीन दशक पहले आलोचक कमला प्रसाद के लिखे इन शब्दों को ध्यान में रखना उचित जान पड़ता है—

“परिवर्तन और लोक संस्कृति संबंधों को लेकर काफ़ी काम हुआ है। यह काम अभी प्राथमिक है। उलझनें इतनी ज़्यादा है तथा अनुसंधान के उद्देश्यों में इतनी बदनीयतें हैं कि नतीजों का भ्रमात्मक होना स्वाभाविक है।”¹⁷

संदर्भ सूची

1. मिश्र, रामदरश, परिप्रेक्ष्य से, लोक संस्कृति: आयाम एवं परिप्रेक्ष्य, संपादक - महावीर अग्रवाल, श्री प्रकाशन, दुर्ग, 1993, पृष्ठ-17
2. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक
3. कमल, अरुण, परिचर्चा से, लोक संस्कृति: आयाम एवं परिप्रेक्ष्य, संपादक - महावीर अग्रवाल, श्री प्रकाशन, दुर्ग, 1993, पृष्ठ- 157-158
4. वही, पृष्ठ - 158
5. वही, पृष्ठ - 158
6. उपाध्याय, कृष्ण देव, वक्तव्य अंश से, भोजपुरी लोक साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2008
7. नारायण, बट्टी, लोक संस्कृति और इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994, पृष्ठ-44
8. भ्रमर, डॉ. रविन्द्र, हिंदी भक्ति साहित्य में लोक तत्त्व, पृष्ठ 4-5
9. सिंह, नामवर, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ - 10
10. हिंदी की प्रगतिशील आलोचना, हिंदी प्रदीप, अक्टूबर 1886, पृष्ठ - 15
11. सिंह, वच्चन, “लोक संस्कृति का परिप्रेक्ष्य और हिंदी साहित्य”, लोक संस्कृति : आयाम एवं परिप्रेक्ष्य, संपादक - महावीर अग्रवाल, श्री प्रकाशन, दुर्ग, 1993, पृष्ठ - 74
12. टैगोर, लोक संस्कृति: आयाम एवं परिप्रेक्ष्य, संपादक - महावीर अग्रवाल, श्री प्रकाशन, दुर्ग, 1993, पृष्ठ-165
13. कांति, डॉ. विमलेश, भारतेन्दु युगीन हिंदी काव्य में लोक तत्त्व, पृष्ठ-66
14. तिवारी, रामनारायण, जैतसार, प्रतिश्रुति प्रकाशन, पृष्ठ-84
15. सिंह, त्रिभुवन, ‘लोक संस्कृति : मानवीय मूल्यों के शिव का संदेश’, लोक संस्कृति : आयाम एवं परिप्रेक्ष्य, संपादक - महावीर अग्रवाल, श्री प्रकाशन, दुर्ग, 1993, पृष्ठ - 108
16. वही, पृष्ठ - 108
17. प्रसाद, सं.- कमला, भूमिका, लोक साहित्य और संस्कृति, साहित्यवाणी, इलाहाबाद, 1994, पृष्ठ-7

सहायक प्राध्यापक
प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय, कोलकाता
मोबाईल : 8334956052
E-mail : rishi.hindi@presiuniv.ac.in

भोजपुरी लोकगीतों में 'गारी'

- प्रो. (डॉ.) शिवनाथ पाण्डेय

भोजपुरी एक लोकभाषा है। 'लोक' एक बहुअर्थी शब्द है। इसका एक विशेष अर्थ 'शास्त्र विरोधी' है। हजारों प्रसाद द्विवेदी का कहना है, 'लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं है, बल्कि नगरों एवं गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।' यही वजह है कि लोक हृदय को व्यंजित करनेवाले 'लोकगीत' शास्त्र-सम्मत ग्रंथों में न होकर लोककंठों में सुरक्षित हैं। संगीत शास्त्र के नियमों से मुक्त ये गीत वाचिक परंपरा की निधि हैं। ये गीत जगत द्वारा जनता के लिए रचित ऐसी रचनाएँ हैं, जिनके रचना-काल एवं रचनाकार की पहचान का कोई महत्व नहीं होता। इनमें समूह का महत्व है, व्यक्ति का नहीं। आज नगर केंद्रित जीवन एवं बाजारवाद के दबाव में लोकगीतों की परंपरा दम लोड़ती नजर आ रही है। इसके बावजूद, तथाकथित अनपढ़-गाँवार स्त्री-पुरुषों के मुँह से बाग-बगीचा, खेत-खलिहान, पगडंडियों जैसे ग्रामीण परिवेश एवं पर्व-त्योहार, तिलक-विवाह जैसे मांगलिक अवसरों पर ऐसे लोकगीत सुनाई पड़ जाते हैं। ये आभिजात्य जीवन के विपरीत लोकमन की संवेदना को व्यक्त करते हैं।

भोजपुरी में लोकगीतों का विपुल भंडार है। भाषा एवं संस्कृति की सुगंध बिखेरने वाले इन गीतों को विभाजित कर कई रूपों में देखा गया है। जैसे संस्कारों के गीत, त्यौहारों के गीत, बच्चों के गीत, श्रमिकों के गीत, स्त्रियों के गीत, पुरुषों के गीत, जातियों के गीत, ऋतुओं के गीत आदि-आदि। इस विभाजन के भी कई उपविभाजन संभव हैं। जैसे संस्कार गीत के अंतर्गत पुत्र-जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, तिलक, विवाह, गौना जैसे विभिन्न मांगलिक अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीत हैं। इनकी अंतर्वस्तु में ही नहीं भाषा एवं भाव-भंगिमाओं में भी काफी भिन्नता होती है। लोक

भाव के ही एक विशिष्ट स्वरूप को व्यंजित करनेवाला एक लोकगीत-रूप है, 'गारी'। यह मूलतः तिलक-विवाह जैसे अवसरों पर गाया जाता है।

'गारी' सामान्यतः 'गाली' का पर्यायवाची रूप है। समानार्थक होते हुए भी 'गारी' और 'गाली' में उद्देश्य परक भिन्नता है। कुछ उसी तरह जैसे 'उलाहना' उपालंभ में। तिलक-विवाह के अवसर पर गायी जाने वाली 'गारी' में क्रोध, अवमानना या अपमान का छिपा हुआ उद्देश्य नहीं होता। 'गारी' गाकर स्त्रियाँ आत्मसुख की अनुभूति करती हैं। इस अनुभूति का साधारणीकरण सुनने एवं सुनाने वाले दोनों में होता है। यही वजह है कि कोई बुरा नहीं मानता। 'गारी' के लिए उचित समय पहले से तय होता है। इसलिए अवसर पर 'गारी' फीकी होकर भी नीकी लगती है। प्राचीन कवि 'वृंद' ने लिखा है :

फीकी मै नीकी लगे, कहिये समय विचारि।

सबका मन हरषित करे, ज्यों विवाह में गारि।

मनुष्य की गहरी रागात्मक भावनाओं से जुड़ कर गायी जाने वाली 'गारी' और घृणापूर्वक गुस्से में दी जानेवाली 'गाली' में फर्क है। गारी को 'मंगल गारी' और 'दंगल गारी' के नाम से अलगाया जा सकता है।

'मंगलगारी' वह गारी है, जो तिलक-विवाह जैसे मांगलिक अवसरों पर गायी जाती है और 'दंगल गारी' वह है, जो झगड़ा-फसाद की जड़ होती है। पहली गारी सामाजिक मर्यादा की सर्जना है तो दूसरी में असामाजिकता की व्यंजना है। एक समाज में सामान्य है और वैध है, जबकि दूसरी अमान्य है और अवैध है। यह वैधता-अवैधता ही जीवन में उसके संग्रह और त्याग की कसौटी है। तुलसीदास के अनुसार 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'। इस संदर्भ में आचार्य हजारों

प्रसाद द्विवेदी का मानना है, 'लोकगीतों की सहायता से हम एक पुराने संस्कार को प्राप्त कर लेंगे, जिन बातों को हम भूल चुके हैं या जिन्हें गलत समझ बैठे हैं।'

भोजपुरी अंचल और समाज में तिलक-विवाह के अवसर पर प्रायः हर कर्मकांड में संस्कार गीत गाए जाते हैं और ये शोभा हैं। ये गीत पौराणिक संदर्भ एवं ग्राम्य-संवेदना से सराबोर होते हैं और सामाजिक समरसता के प्रतीक हैं। विवाह के शुभ-मुहूर्त की शुरुआत 'सगुन' से होती है। वर-कन्या दोनों पक्षों के परिवारों में पाँच सुहागन स्त्रियाँ तिलकोत्सव से आये धान की गठरी खोलकर सगुन की शुरुआत करती हैं। इस अवसर पर गाये जानेवाले गीतों में दर्जी से जामा-जोड़ा, माली से मउर, बढई से पीढ़ा, कुम्हार से कलश, कोइरिन से हरदी आदि की मांग की जाती है। ये संस्कार गीत इस तथ्य के प्रमाण हैं कि भारतीय समाज में विवाह जैसे मांगलिक अवसर पर सभी वर्णों के सहयोग एवं आशीर्वाद का कितना महत्व है। हमारे ऐसे कई सांस्कृतिक रूप हैं, जिनसे हम आज की आधुनिकता के तौर में दूर होते जा रहे हैं। सगुन के शुभ अवसर पर गौर करने की बात यह है कि आखिरकार 'धान' से ही सगुन की शुरुआत क्यों होती है? लावा तो मकई, बाजर, जोन्हरी जैसे अनाज के भी भुँजाए जा सकते हैं। 'धान' ही क्यों? इसका रहस्य यह है कि धान ही वह अन्न है जिसे उपजाने के लिए क्रमशः 'बोअनी' एवं 'रोपनी' प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। धान का सुकुमार पौधा जिस स्थान पर रोपा जाता है, उसी स्थान पर फूलता है, फलता है और उसी जगह से जुड़कर उसकी पहचान बनती है। ठीक इसी प्रकार माता-पिता के लिए परिवार में जन्मी एवं पली बेटा का जीवन तब बनता है, जब वह सास-ससुर के घर जाती है और माता-पिता से दूर पति के साथ अपना परिवार बनाती है। हमारे सामाजिक संस्कार में ऐसे अनेक मार्मिक कर्मकांड हैं, जिन्हें हम महत्वहीन या अंधविश्वास समझकर आज उपेक्षित

दृष्टि से देखते हैं। यह उपेक्षा हमें अपने सांस्कृतिक जीवन के सौंदर्य से दूर करती है।

सगुन के बाद एक रस्म है 'लावा भुँजाई' का। घर-परिवार एवं पास-पड़ोस की स्त्रियाँ एक खास मुहूर्त में सगुन का धान लेकर भड़भूँजा के घर जाती हैं और लावा भुँजाते समय ननद-भोजाई जैसे मधुर संबंधों की आड़ में भड़भूँजावाले से लगाकर 'गारी' गाती हैं :

**मोर लउवा तोर लउवा एक में मिलाय देव
मोर भइया तोर भउजी एके में मिलाय देव
मोर भइया तोर बहिनी एके में मिलाय देव**

इसी प्रकार का एक रस्म है 'सील पोहना'। वर-पक्ष में विवाह से एक दिन पहले एवं कन्या-पक्ष में विवाह के दिन दो सुहागन स्त्रियाँ सील के दोनों छोरों पर बैठकर दाल पीसते हुए एक-दूसरे का नाम लगाकर निम्नलिखित गारी गाती हैं :

**के हउवे घोड़िया रे के ह असवार दिलजनिया ना।
अब घसर-घसर पीस ढालि आहो दिलजनिया ना।
लुढ़केले घोड़िया गिरेला असवार दिलजनिया ना,
अब घसर-घसर पीस ढालि आहो दिलजनिया ना।**

इन रस्म-रिवाजों के अलावा कुछ ऐसे अवसर भी आते हैं, जब स्त्रियाँ पुरुष विशेष का नाम लेकर उनकी माँ, बहन एवं बुआ आदि के संदर्भ में गारी गाती हैं। जैसे वर का जोड़ा-जामा पहनाते समय या मउर बाँधते समय (यह कार्य जीजा या फूफा द्वारा संपादित होता है)। इस अवसर पर स्त्रियाँ वर की माँ, फुआ, बहन एवं भाभी आदि को लगाकर गारी गाती हुई मउर के सौंदर्य का बखान करती हैं। इसी प्रकार घोटाने के रस्म में कन्या एवं वर के मामा अपनी बहन को लोटा से पानी पिलाते हैं और वहाँ उपस्थित स्त्रियाँ उनको लगाकर गारी गाती हैं। गारी-गीत का सबसे खुला और ऊँचा स्वर सुनाई देता है, बारात आगमन पर। कन्या-पक्ष के दरवाजे पर बारात आने के साथ ही इस गारी-गीत से बारातियों का स्वागत किया जाता है—

**हथिया-हथिया शोर कइके गदहो ना ले अइले रे,
तोरा बहिन के सोटा मारो गँउवा हँसवले रे।**

भारतीय लोक मानस में हाथी वैभव एवं मंगल का प्रतीक है। जिस बारात में जितने हाथी, घोड़े, ऊँट आते हैं, वर-पक्ष उतना ही समृद्धिशाली समझा जाता है। द्वारपूजा के समय हाथी की उपस्थिति मांगलिक मानी जाती है। हाथी गणेश का प्रतीक है। आज भी यह पूजा प्रतीकात्मक स्तर पर की जाती है। बारात में हाथी न आने पर गाँव-हँसाई का बहाना बनाकर गारी गाने की एक परंपरा बन गई। यह गारी बारात के प्रतिनिधि समधी को संबोधित कर गायी जाती है।

समधी या ससुर के बाद एक प्रमुख रिश्ता होता है ‘भसुर’ का। वे ‘गुरहत्थी’ की रस्म में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। इस रस्म में वर-पक्ष द्वारा लाये गये आभूषणों से कन्या की पूजा की जाती है। कन्या-पक्ष के सभी आगंतुकों की दृष्टि लाये गए गहनों पर होती है, पर स्त्रियों की दृष्टि में होते हैं आदरणीय भसुर जी भी। इनको केन्द्रित कर वे तरह-तरह की गारी गाती है-

टिकवा ले आइल भसुर डिबिया में मून के...
खोलि के देखाव ना त गारी देबि चून के...

स्त्रियाँ जब मंगटीका या झुमका देखती हैं, तो उनका स्वर अचानक बदल जाता है-

मंगनी के झुमका से मड़उवा झमकवले रे...
धत्ते री के भसुर तोरा लजियो ना लागे रे...
बहिनी के बेचि के त टीकवा ले अइले...
धत्ते री के भसुर तोरा लजियो ना लागे रे...

वर-पक्ष से गहना चाहे जितना आए, पर भसुर जी को गारी सुनाये बिना रस्म पूरी नहीं होती। इस रस्म की गारी सुनते ही बनती है, जब समधी संग बराती-जन भोजन पर बैठते हैं। इस गारी-गीत की पहचान ‘जेवनार’ के नाम से प्रचलित है। इधर बारातियों के साथ समधी जी भोजन कर रहे होते हैं, उधर स्त्रियाँ रसीले गीतों की बौछार से उनका स्वागत कर रही होती हैं। इसी अनुराग की ओर संकेत करते हुए गोसांई तुलसीदास ने लिखा है-

पंच कवल करि जेवन लागे।
गारि गान सुनि अति अनुरागे।।

राम-विवाह के अवसर पर जनकपुर की स्त्रियाँ जब समधी राजा दशरथ को खाते समय नाम ले लेकर गारी गाने लगती हैं, तो वह समय इतना सुहावना बन जाता है कि वे सभी बारातियों के साथ हँसने लगते हैं :

जेंवँत देहिं मधुर धुनि गारी।

लै लै नाम पुरुष अरु नारी।।

समय सुहावनि गारि बिराजा।

हँसत राउ सुनि सहित समाजा।।

‘जेवनार’ के रूप में गायी जानेवाली यह गारी इतनी प्रसिद्ध है कि तुलसी बाबा को कौन कहे, उनके समकालीन माने जाने वाले कठिनकाव्य के प्रेत आचार्य केशवदास भी इस रसीली प्रथा से वंचित नहीं रह पाये हैं। उन्होंने ‘रामचंद्रिका’ के कुल सात छंदों में ‘जेवनार’ गारी का वर्णन किया है-

अब गारि तुम कहँ देबि, हम कहि कहा दूलह
राम जू।

कछु बाप प्रिय परदार सुनियत, करी कहत
कुबान जू।।

कहना न होगा कि ‘गारी-गीत’ की यह परंपरा अति प्राचीन है। आज से करीब चार सौ साल पहले तुलसी एवं केशव के रचनाकाल में भी यह प्रथा थी और आज उपभोक्तावादी संस्कृति के दबाव में भी कहीं न कहीं बीज रूप में बची हुई। वस्तुतः उत्तर-आधुनिकता की चकाचौंध आज लोक को अंधकार के गर्त में धकेल दिया है। हमारे सारे रागात्मक संबंध नष्ट-भ्रष्ट होते जा रहे हैं। बनावटीपन एवं दिखावेपन की दुनिया में हम जीवन-रस से दूर होते जा रहे हैं। इसके विपरीत ‘जेवनार’ गीतों में अपनेपन की इतनी प्रगाढ़ता है कि नवयुवकों को कौन कहे, बूढ़े समधी और बारातियों के हृदय में भी रस का संचार हो जाता है। इस गीतपरंपरा के मंगलाचरण में सबसे पहले एक निवेदन होता है-

एह गारी के गारी जनि मानबि

ई गारी ह प्रेम पियारी जी...

प्रेम एवं प्यार के प्रतीक ‘जेवनार’ में रस की कैसी

फुहार है, यह देखें इस गारी में—

बाग लगायो बगइचा लगायो,
बीचो-बीच फुलवारी जी...
जोबाना के उमड़ल चलेली समधिनिया छिनरी,
चोली अँटकी गयो डारी जी
चोली छोड़वान चलेले कवन समधी,
धई बहिया झकझोरी जी...
छोड़-छोड़ समधी जी मोरी बँहिया हो,
हम हई तोहरी मेहरिया जी...
जो छिनरो हऊ तू हमरो मेहरिया हो,
त चलना हमरो सेजरिया जी...

मधुर रिश्ते की आड़ में ऐसे प्रणय प्रसंगों से लोकरस का जो साधारणीकरण होता है, उसे रीतिकालीन शृंगार वर्णन एवं आधुनिक अश्लील गीतों से नहीं समझा जा सकता है। दरअसल इन दोनों संदर्भों में स्त्री-पुरुष संबंध शारीरिकता की सीमा से आगे नहीं बढ़ पाते, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है, ‘इनकी एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होने पर भी निष्प्राण हैं।’ इन गीतों में मस्तिष्क का तनाव नहीं, हृदय का भाव है। वासना का विकार नहीं, प्रेम का परिमल है। यह परिमल समधी समधिन को ही नहीं, दूल्हे-दुल्हन के साथ-साथ सबको रसलीन करता है। एक लोकगीत के अनुसार विवाह के लिए मंडप में विराजमान दूल्हे राम से ‘नाउन’ यह प्रश्न करती है, छोटे भाई लक्ष्मण इतने गोरे हैं, तो आप साँवले कैसे हो गये? यही नहीं, बल्कि आपके सूर्यवंशी पिता राजा दशरथ और माता कौशल्या रानी भी गोरी हैं, फिर आपके साँवलेपन का रहस्य क्या है? यहाँ बरबस याद हो जाता है कवि सूरदास का वह पद, जिसमें ग्वाल-बाल चुटकी बजा-बजाकर बालक कृष्ण से पूछते हैं—

‘गोरे नंद यशोदा गोरी, तू कत स्यामल गात’।
यह तो बाललीला है, जहाँ ग्वाल-बाल कृष्ण को नंद-

यशोदा का पुत्र न मानते हुए खरीदा हुआ चरवाहा साबित कर चिढ़ाना चाहते हैं। दूल्हे राम से पूछे गये प्रश्न में दूसरी बात है। इस गारी गीत में समधिन कौशल्या रानी के प्रति कितनी रोचक उक्ति है, यह इस गीत की व्यंजना से पता चलता है—

रामजी से पूछे नउनिया हो छोटका बबुआ गोर...

तू काहें साँवर भइल हो छोटका बबुआ गोर...
सूरज वंश के पिता राजा दशरथ कौशल्या माता..

तू कइसे साँवर भइल हो सब केहू बा गोर...
हिन्दू विवाह गीतों की यह विशेषता है कि दूल्हे के रूप में राम होते हैं और दुल्हन के रूप में सीता। इन पौराणिक पात्रों के परिजन एवं पुरजन को भी प्रतीक बनाकर रागात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति की गई है। एक गारी गीत में रामचंद्र को संबोधित कर कहा गया है कि आपके घर से तीन सौ साठ माताएँ राजा जनक के महल में आकर सोती हैं—

गरिआ एक हम दीहीं राजा रामचंद्र, जउं रउवा सुनी मन लाईजी,
तीन सौ साठ मतारी घरे रउरा, सोवत जनक अटारी जी।

दूल्हे की मां और बुआ को दूल्हे के होने वाले ससुर (समधी) की ओर से ही गारी नहीं दी जाती, बल्कि शादी में पुरोहित बने ब्राह्मण और नाई को लगाकर भी गाने की परंपरा है। नाई दूल्हे का नख काटता है। कहीं असावधानी में ऊँगली न कट जाए, इसके लिए उसे सावधान करनेवाला एक मधुर गीत है—

नोह काटू ए नउवा नोह काटू, अंगूरी जनि काटहू रे...

देबों में बरवा के माई, तोके बुकवा लगाई रे...
बुकवा लगाई, झिल्ली छोड़ाई, तोरे संग सुती जाई रे..

इस प्रकार की गारियों से सत्कार सुननेवाला यही दूल्हा जब ससुराल से अपने आंगन में पहुँचता है, तो

गारी-गीतों का निशाना दुल्हन बन जाती है। इस अवसर पर एक रस्म है, 'दउरा में डग लगाई' का। यानी डोली से निकलने के बाद वर-कन्या के सम्मिलित पाँव पहले सीधे धरती की जगह दउरा में पड़ते हैं। इस रस्म का एक गीत है—

धीरे-धीरे मोर बाबू चलसु, राजवइया के जनमल रे..

हड़र-बड़र कनियावा चले, हरजोता के जनमल रे...

वस्तुतः उत्तर भारत की किसानी संस्कृति में आज भी यह एक तथ्य है कि हल जोतने वाले व्यक्ति को नीची निगाह से देखा जाता है। इसका उदाहरण है यह गीत, जिसमें दुल्हन को हरजोता की बेटी कहकर गारी गायी जाती है।

इस प्रकार गारी-गीतों की परंपरा वर-कन्या दोनों पक्षों में समान रूप से चली आ रही है। सांस्कृतिक सामुदायिकता की यह ऐसी मधुर अभिव्यक्ति है, जिसमें प्रायः सभी लोग हिस्सा लेते हैं। इसमें लोकजीवन को सींचने वाला अमृत रस है, जो निष्प्राण में भी प्राण का संचार कर देता है। आज पश्चिम की रसहीन संस्कृति से आहत जन-जीवन में आत्मीयता की छटपटाहट है। नगर केंद्रित व्यक्ति अपनेपन की भाषा में बोलने-बतियाने को लालायित है, पर संवेदनशील आधुनिकता उसे निराश करती है। हिंदी के आधुनिक कवि केदारनाथ सिंह की कविता है—

मैं खुद को समझाया/यार, दुखी क्यों होते हो/इतने कट गये/बाकी भी कट ही जायेंगे दिन/क्योंकि शहर में लोग तो हैं/फिर एक दिन/जब किसी तरह नहीं कटा दिन/तो मैं निकल पड़ा/लोगों की तलाश में/मैं एक-एक से मिला/मैंने एक-एक से बात की/मुझे

आश्चर्य हुआ/लोगों को तो लोग/जानते तक नहीं थे। यह अजनबीपन उपभोक्तावादी संस्कृति की देन है। आधुनिकता की सबसे बड़ी घातक प्रवृत्ति यह है कि यह जन-जीवन को सरसता एवं समरसता से अलग करती है। कहना न होगा कि समाज और संस्कृति पर आज उपभोक्तावाद का जबर्दस्त प्रहार जारी है। हम तथाकथित विकास की उस ऊँचाई पर पहुँचते जा रहे हैं, जहाँ कोई अपना नहीं दिखाई देता। आज सारा विश्व विश्वग्राम की परिकल्पना में सिमटकर चल रहा है। लोगों में गाँव जैसी आत्मीयता नदारत है। यह एक चिंतनीय मामला है। भूमण्डलीकरण के दबाव में सांस्कृतिक मूल्यों का बज़ारीकरण आम बात हो गयी है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने लोकगीतों को भी बिकाऊ माल में बदल दिया है। शृंगारिकता को अश्लीलता के आधुनिक रंग में रंगकर बिकाऊ बनाने की होड़ लगी है। पारंपरिक लोकगीतों को भी फिल्मी धुनों में गाकर हम अपने को आधुनिक साबित करना चाहते हैं। ऐसी आधुनिकता हमारी सांस्कृतिक अस्मिता पर सवालिया निशान लगाती है। लोक-संस्कृतियां समाज की जड़ें हैं। इन जड़ों की रक्षा करनी होगी, भले कुछ नये प्रयोग भी हों। जड़विहीनता से रक्षा के संदर्भ में हमारे लोकगीतों की प्रासंगिकता बढ़ जाती है। यह अलग बात है कि अपसंस्कृति के अंधड़ में 'माटी के दीयों' को बचाना एक चुनौती भरा काम है। आज पॉपकल्चर के तूफानी दौर में लोक-संस्कृति की बात करना, बुलेट ट्रेन के सामने बैलगाड़ी खड़ा करना है पर इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि इन लोकगीतों को अपनाकर ही हम अपनी सांस्कृतिक पहचान एवं माटी की मिठास को बचाये रखने में सफल हो सकते हैं।

9, वाटकिंग्स लेन, हावड़ा - 711101

मो. : 9123878225

नागालैंड का लोक साहित्य

- डॉ. वीरेन्द्र परमार

प्रकृति की सुकुमार गोद में बसा नागालैंड पूर्वोत्तर भारत का एक छोटा प्रदेश है। यहाँ की शस्य-श्यामला धरती के गर्भ में अनेक रहस्य, कहानियाँ, पौराणिक आख्यान, रोमांचकारी किस्से और मिथक छिपे हुए हैं। प्रकृति यहाँ के निर्दोष और निष्पाप लोगों की सहचरी है। नागालैंड अपने अद्भुत और अनिर्वचनीय सौन्दर्य के मोहपाश में बाँध लेता है, अपने निष्कपट हाव-भाव से सम्मोहित करता है, अपने अकृत्रिम आचरण से बार-बार आने के लिए आमंत्रित करता है। भीम भार्या हिडिम्बा की यह लीला भूमि अद्भुत और रोमांचक किस्से-कहानियाँ सुनाती है। यहाँ के निवासी भविष्य की चिंता में दुबले नहीं होते, बैंक बैलेंस के व्यामोह में तनाव नहीं पालते और आधुनिक की अंधी दौड़ में अपनी परम्पराओं को तिलांजलि नहीं देते। वे वर्तमान में जीते हैं, जो मिल गया उसी में संतुष्ट हो लेते हैं। नागालैंडवासियों का पाखंडहीन जीवन और निष्पाप आचरण किसी भी समाज के लिए वरेण्य है। यहाँ की हरियाली, खूबसूरत घाटी, मनमोहक सूर्योदय और सूर्यास्त किसी कवि की कल्पना से भी अधिक चित्रात्मक, भावपूर्ण और अर्थगर्भित है। अगर कोई व्यक्ति प्रकृति के आँचल पर अपनी कल्पना के रंग भरना चाहता है तो उसके लिए नागालैंड से बेहतर कोई जगह नहीं हो सकती। यहाँ की मनमोहक जलवायु किसी श्रान्त-क्तांत और तनावग्रस्त पथिक को चंदन का अवलेप लगाती है। उबली हुई सब्जियाँ, माँस से बने व्यंजन और चावल नागा लोगों के नियमित भोजन हैं और चावल से बनी मदिरा नियमित पेय। नृत्य और गीत इनके जीवन का अभिन्न अंग हैं। यह कहा जा सकता है कि नागा लोगों के लिए जीवन एक उत्सव है। जो लोग यहाँ के लोकजीवन से परिचित नहीं हैं उनके लिए अब भी यह एक रहस्य लोक बना हुआ है। पुराने समय में नागा लोग योद्धा होते थे। दुश्मनों की गर्दन काटना यहाँ की परंपरा थी। अपने दुश्मनों की गर्दन काटकर विजय प्रतीक के रूप में उसे अपने घर में सजा देते थे।

विभिन्न विद्वानों, समाजशास्त्रियों एवं नृविज्ञानियों ने 'नागा' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि 'नोक' (NOK) शब्द से 'नागा' शब्द की उत्पत्ति हुई है जिसका अर्थ 'लोग' है। कुछ विद्वानों का मानना है कि नागा शब्द कछारी भाषा के शब्द 'नांगरा' से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ 'योद्धा' है। कुछ विद्वान मानते हैं कि संस्कृत में 'नाग' का अर्थ 'पर्वत' होता है और नागा का अर्थ पर्वत पर निवास करनेवाला मानव है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि नागा शब्द बर्मा भाषा (म्यांमार) के 'नाका' से आया है जिसका अर्थ 'कान की बाली'। नागालैंड के लोग कानों में बाली धारण करते हैं। इसलिए इन्हें नागा कहा गया। नागालैंड का समाज अनेक आदिवासी समूहों एवं उपजातियों में विभक्त है। यहाँ की 16 प्रमुख जनजातियाँ हैं— चाकेसांग, अंगामी, कछारी, जेलियांगरोंग, आओ, संगतम, सुमी, यिमंगचुर, चांग, लोथा, फोम, पोचुरी, रेंगमा, कोन्यक, कुकी और ख्रिअमनीअंगन। प्रत्येक समुदाय वेशभूषा, भाषा-बोली, रीति-रिवाज और अपनी जीवन शैली की दृष्टि से पृथक है, लेकिन इतनी भिन्नता के बावजूद नागा समाज में परस्पर भाईचारे और एकता की सुदृढ़ भावना है तथा वे एक-दूसरे की जीवन-शैली का पूरा सम्मान करते हैं। नागालैंड की एक समृद्ध भाषिक परंपरा है। नागालैंड की प्रत्येक जनजाति की अलग-अलग भाषा है और इन भाषाओं के भीतर भी अनेक बोलियाँ हैं जो एक-दूसरे के लिए अबूझ हैं। उदाहरण के लिए, अंगामी जनजाति की भाषा अंगामी है और अंगामी भाषा की भी अनेक बोलियाँ हैं। इन बोलियों में भी अंतर है। किसी गाँव में एक बोली के भीतर भी भिन्नता है। भौगोलिक परिवर्तन के साथ यह भिन्नता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। भाषाओं-बोलियों का यह अंतर अन्य समुदायों और जनजातियों के बीच के संचार को बहुत कठिन बना देता है। नागालैंड की कोई भी स्थानीय भाषा सम्पूर्ण प्रदेश में नहीं बोली

जाती है। अतः अंग्रेजी को नागालैंड की राजभाषा बनाया गया है जबकि नागामीज बोलचाल की भाषा बन गई है। नागालैंड में लगभग 16 भाषाएं बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त इन भाषाओं की भी अनेक बोलियाँ हैं। जितनी जनजातियाँ उससे अधिक भाषाएँ। इस भाषाई परिदृश्य में परस्पर विचार-विनियम कठिन हो जाता है। एक गांव की भाषा पड़ोसी गांव के लिए अबूझ है। इसलिए नागालैंड के निवासियों ने एक संपर्क भाषा विकसित कर ली है जिसका नाम नागामीज है। यह असमिया, नागा, बांग्ला, हिंदी और नेपाली का मिश्रण है। नागालैंड में नागामीज का उपयोग शिक्षित-अशिक्षित सभी लोगों द्वारा किया जाता है। प्रारंभ में यह मुख्य रूप से बाज़ार और व्यापार-संचार की माध्यम भाषा के रूप में विकसित हुई। राज्य की आधिकारिक भाषा अंग्रेजी होने के बावजूद नागामीज संपर्क भाषा का कार्य करती है।

नागालैंड की भूमि लोकसाहित्य की दृष्टि से अत्यंत उर्वर है नागालैंड के आदिवासी पर्वतशिखरों एवं सुदूर जंगलों में प्राकृतिक जीवन व्यतीत करते हैं जहाँ गीत गाते झरनों, बलखाती नदियों, वन्य-जीवों और नयनाभिराम पक्षियों का उन्मुक्त संसार है। यहाँ का जीवन सरल और स्वच्छंद है यहाँ जीवन की आपाधापी नहीं, समय की व्यस्तता नहीं, कोई महत्वाकांक्षा नहीं, भविष्य की कोई चिंता नहीं, कोई कोलाहल नहीं। इन परिस्थितियों में इनके उर्वर मस्तिष्क में कल्पना की ऊंची उड़ान उठती है फलतः लोकगीतों, लोककथाओं, मिथकों, कहावतों, पहेलियों का सृजन होता है नागालैंड की पुरानी पीढ़ी को लोकसाहित्य का जीवंत भंडार गृह कहा जा सकता है। लोकसाहित्य वाचिक परंपरा में पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता है। नागालैंड के लोकसाहित्य को मुख्यतः पांच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— **लोकगीत, नोकनृत्य, लोककथा, मिथक और कहावतें व लोकोक्तियाँ।**

1. लोकगीत : वर्षा हो या धूप, वसंत हो या शरद, सुख हो या दुख नागा लोग सभी स्थितियों में गीतों द्वारा अपनी भावनाएँ संप्रेषित करते हैं। वे समूह में भी गाते हैं और अकेले भी। नागा समाज के अधिकांश लोकगीत अभी भी मौखिक परंपरा में ही विद्यमान है जो पुरानी

पीढ़ी के पास सुरक्षित हैं। कहानियाँ सुनाना और गीत गुनगुनाना नागा समाज के लिए मनोरंजन और समय व्यतीत करने के साधन हैं। यहाँ उपलब्ध गीतों को मुख्यतः निम्नलिखित आठ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

1. **राई ला** – युद्ध गीत
2. **मेइसुमला** – युवागृह में गाए जाने वाले गीत
3. **लुइशाव ला** – फसल गीत
4. **यर्रा ला** – वसंत ऋतु के गीत
5. **चापचत ला** – मृत्यु गीत
6. **नावखोट ला** – लोरी गीत
7. **मारन ला** – गृह निर्माण संबंधी गीत
8. **यंग यिल्ला** – शरद ऋतु के गीत

वीरता का प्रदर्शन, प्रेम, उपासना, धार्मिक विश्वास आदि नागालैंड के लोकगीतों की केंद्रीय विषयवस्तु होती है। ‘हेलिअमलेऊ’ नागालैंड का सर्वाधिक लोकप्रिय गीत है जो प्रेम की भावभूमि पर आधारित होता है। ‘हेरिलेऊ’ युद्धगीत है। ‘हेरिलेऊ’ समाज के बुजुर्ग सदस्यों द्वारा गाए जाते हैं। इन गीतों के माध्यम से अतीत में हुए युद्धों एवं पूर्वपुरुषों की उपलब्धिपूर्ण शौर्य-गाथाओं का बयान किया जाता है। इन गीतों का उद्देश्य पूर्वजों के पराक्रम की गौरव गाथा द्वारा नई पीढ़ी को प्रेरित करना व उनमें साहस का संचार करना है। ‘नेउलेऊ’ प्रदेश की एक विशिष्ट गीत शैली है। इसे आख्यान गीत भी कहा जाता है। इन गीतों में वर्षों पूर्व किसी व्यक्ति द्वारा जीवन के किसी भी क्षेत्र में किये गए उत्कृष्ट व उपलब्धिपूर्ण कार्यों का वर्णन होता है। इन गीतों में नागा समाज की रचनाशीलता झलकती है। ‘हेकियालेऊ’ नागा समाज का गाथा गीत है। इसके दो रूप हैं— पहला, जिसे समाज के वरिष्ठ सदस्य गाते हैं और इनमें उनके यौवन काल की गौरव गाथा होती है। दूसरा, जिसे बुजुर्ग एवं युवा सभी गाते हैं। बुजुर्ग लोग इन गीतों के द्वारा अपने जीवन-वृत्तांत से नई पीढ़ी को अवगत कराते हैं तथा इस प्रकार उनके आख्यान और अनुभव वाचिक परंपरा में भावी पीढ़ी को हस्तांतरित होते रहते हैं। युवागृह में गाए जानेवाले गीतों में प्रेम गीतों की संख्या सर्वाधिक है। नृत्यों और त्योहारों के दौरान लड़के-लड़कियों में प्रेम संबंध विकसित होते हैं और वे अपनी भावनाओं को

प्रकट करने के लिए गीतों का सहारा लेते हैं। खेतों में काम करते समय नागा लोग गीत गाते हैं जो उनकी थकावट को दूर करने का काम करते हैं। लोरी गीतों में मां की ममता होती है। मृत्यु गीतों की पंक्तियां दुःख, पीड़ा और आंसुओं से भीगी होती हैं। नागा लोकगीत रोमांटिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार के हैं जिसमें प्रसिद्ध पूर्वजों और घटनाओं की पूरी कहानी बयान की जाती है। लोकगीतों में कृषि संबंधी गतिविधियों का वर्णन भी मिलता है संगीत और नृत्य नागा संस्कृति के प्राण तत्व हैं जिनका नागा समाज के जातीय जीवन में बहुत महत्व है -

एक नागा प्रेम गीत (हिंदी अनुवाद)

मैं इस सुन्दर पृथ्वी पर अनेक वर्षों तक रहना चाहता था, परंतु ईश्वर को यह मंजूर नहीं था। मैं इतना अमीर नहीं था कि वधू मूल्य का भुगतान कर विवाह कर पाता। इसलिए मेरी प्रेयसी ने एक अजनबी से विवाह कर लिया। अब उसका पति उसे इतनी दूर ले जाएगा जहाँ तक मैं पहुँच नहीं सकता। अब मेरी लाचारी देखो, मैंने परंपरा के अनुसार अपनी प्रेमिका को गाँव के बाहर तक जाकर विदा किया। मेरी आँखें नम थीं और हृदय में तूफान उठ रहा था जब 'नाउमंगबो' (एक रिवाज जिसके अनुसार शादी के बाद लड़की अपने पति के साथ अपने माता-पिता से मिलने जाती है) के समय तुम गाँव में आयी तो मुझसे मिलने के लिए भी तुम्हारे पास वक्त नहीं था। तुमको मालूम था कि उस समय मुझे तुम्हारी जरूरत थी, फिर भी तुम मिलने नहीं आयी। मैं जानता हूँ, तुम हमेशा वही करती हो जो उचित होता है। तुम प्रेम की आवाज को नहीं सुनोगी। मैं अब भी उस स्थान पर जाता हूँ जहाँ हम मिले थे, तो मेरी आँखें आंसुओं से भींग जाती हैं, हृदय में एक हूक-सी उठती है। मैं मनुष्य हूँ, देवता नहीं हूँ, इसलिए मर जाऊंगा और पृथ्वी पर पुनः वापस नहीं आऊँगा, लेकिन मैं तुम्हारी कुशलता के लिए हमेशा ईश्वर से प्रार्थना करता रहूँगा। जिस पथ पर तुमने अपने कोमल पैर रखे थे वहाँ अब भी तुम्हारे सौन्दर्य के अमिट निशान बिखरे पड़े हैं। मैं तुमसे सच्चा प्रेम करता हूँ। अतः तुम्हारे सगे-संबंधियों को कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकता। मैं जब तक जीवित हूँ तब तक मात्र यह

उदास गीत गा सकता हूँ। मैं हमेशा तुम्हारे सुखद समाचार की प्रतीक्षा करता रहूँगा, लेकिन कभी तुम्हारी ससुराल में अपने कदम नहीं रखूँगा।

2. लोकनृत्य : नागालैंड का प्रत्येक समुदाय वेशभूषा, भाषा-बोली, रीति-रिवाज और अपनी जीवन शैली की दृष्टि से पृथक है, लेकिन इतनी भिन्नता के बावजूद नागा समाज में परस्पर भाईचारे और एकता की भावना सुदृढ़ है तथा वे एक-दूसरे की जीवनशैली का सम्मान करते हैं। नागालैंड के युवागृह को मोरंग के नाम से जाना जाता है। यहाँ अविवाहित युवक-युवतियाँ रात्रि विश्राम करते हैं तथा पारंपरिक नृत्य-गीत का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इस तरह नागा लोकसाहित्य मौखिक परंपरा में आगे बढ़ता है। यहाँ के पारंपरिक नृत्य और गीत विविधताओं से परिपूर्ण हैं। लोककथाओं और गीतों के माध्यम से मौखिक परंपराओं को जीवित रखा जाता है। इनका कोई भी कार्यक्रम लोक नृत्य के बिना संपन्न नहीं होता है। सामूहिकता बोध नागा समाज की विशेषता है इसलिए इनके सभी नृत्य समूह में प्रस्तुत किए जाते हैं। नागालैंड की सभी जनजातियों की अपनी विशिष्टता, नृत्य रूप, संस्कृति, भाषा और परंपरा है। नागालैंड के प्रमुख लोक नृत्यों में मोदसे, अगुरसीकुकुला, बटरफ्लाई नृत्य, आलूअत्तु, सदल केकई, चंगाई नृत्य, कूकी नृत्य, लेशालपतु, खंबा लिम, मयूर नृत्य, मोन्योअसो, रेंग्मा, सीचा और कुकुई कुचो, शंकई शामिल हैं। युद्ध नृत्य और ज़ेलियांग नृत्य नागा समाज का सबसे प्रमुख नृत्य है। नागालैंड में युद्ध नृत्य पुरुषों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यह नृत्य अतीत के खतरनाक युद्ध और युद्ध परिदृश्य को जीवंत कर देता है। युद्ध नृत्य में सावधानीपूर्वक पद संचालन करना पड़ता है क्योंकि एक भी गलत कदम पूरी नृत्य रचना को बर्बाद कर सकता है। कलाकारों द्वारा पहने जानेवाले पारंपरिक परिधान अनोखे होते हैं। चांग लो या सुआ लुआ चांग जनजाति का पारंपरिक नृत्य है। नागालैंड के लोक नृत्यों का प्रदर्शन अधिकांशतः पुरुषों द्वारा किया जाता है, लेकिन ज़ेलियांग जनजाति अपनी महिलाओं को पुरुषों के साथ लोक नृत्यों में भाग लेने की अनुमति देती है। प्रदर्शन के दौरान प्रतिभागी नर्तक कुछ विशिष्ट पद संचालन के साथ धीरे-धीरे मंच

में प्रवेश करते हैं और एक वृत्त या अन्य ज्यामितीय आकृति बनाते हैं। उसके बाद नर्तक ताल के अनुसार सतत गति से पद संचालन व नृत्य शुरू करते हैं। नर्तकों द्वारा कोरस में कुछ शब्दों का गायन किया जाता है और हाथों से ताली बजाई जाती है। चिल्लाने से नर्तक समूह के प्रत्येक सदस्य को प्रेरणा मिलती है। एक वृत्त बनाने के बाद नर्तक अपने हाथ में लिए भाले से विपरीत पार्टी या काल्पनिक दुश्मन पर हमला करते हैं। वे नृत्य की ताल के अनुसार अपने हथियारों को घुमाते हैं, जिससे पृष्ठभूमि में सुंदर संगीत उत्पन्न होता है। नागा नर्तक युद्ध का वातावरण सृजित करने के लिए अपने आपको पारंपरिक परिधानों, युद्धक पोशाक, पीतल-चांदी के गहने और लोहे से बने अन्य आभूषण से सजाते हैं। विभिन्न स्थानों में युद्ध नृत्य के पैटर्न में कुछ परिवर्तन देखे जाते हैं। चरम पर पहुँचने से बाद जोश को नीचे लाया जाता है। इस प्रकार चिल्लाने और रोने के आरोह-अवरोह में कमी-वृद्धि होती रहती है। यहाँ के नृत्य-गीत उत्साह, ऊर्जा, मस्ती और यौवन से भरपूर होते हैं जो प्रदेश की जीवंत सांस्कृतिक चेतना को प्रतिबिंबित करते हैं। कोई भी नृत्य संगीतरहित नहीं है। संगीत नागा नृत्य का अभिन्न अंग है। पर्व-त्योहार, शादी-विवाह अथवा उत्साह के अन्य अवसरों पर नृत्य के माध्यम से हर्ष प्रकट किया जाता है। झांझ, ढोलक, पेटु इत्यादि पारंपरिक वाद्ययंत्रों के उपयोग से नृत्य का प्रभाव दुगुना हो जाता है। नागालैंड में मुर्गा नृत्य, झिंगुर नृत्य, भालू नृत्य आदि खूब लोकप्रिय हैं। इन नृत्यों में पशु-पक्षियों जैसा हाव-भाव और अंग संचालन होता है। 'हेतातेउली' अथवा भालू नृत्य यहाँ का युद्ध नृत्य है जो योद्धाओं में उत्साह व पराक्रम का संचार करता है। नागा समाज अपने हर्ष-विषाद को प्रकट करने के लिए नृत्य की अलग-अलग शैलियों का प्रयोग करता है। जब गांव में किसी विशिष्ट अतिथि का आगमन होता है तो उसका मनोरंजन करने के लिए रात्रि में ग्राम प्रधान के आवास के सामने अथवा मुक्ताकाश में नर्कतकगण नृत्य प्रस्तुत करते हैं। नागालैंड के सभी समुदायों की अलग-अलग नृत्य शैलियाँ हैं। लोकनृत्य के बिना नागालैंड का कोई भी धार्मिक या सामाजिक उत्सव पूरा नहीं होता है।

3. लोककथा : नागालैंड की वाचिक परंपरा में असंख्य लोककथाएँ विद्यमान हैं। लोककथाओं का फलक बहुत विस्तृत है। यहाँ सभी प्रकार की लोककथाएँ हैं। जानवर, पेड़-पौधे, पारिवारिक जीवन, प्रेम संबंध, हँसी-मजाक, ईर्ष्या, क्रूरता, धूर्तता, मूर्खता, जादू-टोना, भाग्य, लोक परंपरा आदि जीवन से जुड़े सभी पहलुओं से संबंधित कथाएँ मिलती हैं। कुछ नागा लोककथाएँ मिथक और किंवदंती का मिश्रण हैं। बंगाल और त्रिपुरा की तरह नागालैंड में मुस्लिम पीर-फकीर से संबंधित कोई कथा नहीं मिलती है। रोचकता और जिज्ञासा नागा लोककथा के प्रमुख गुण हैं। नागा लोककथाएँ प्राकृतिक जीवन पर आधारित होती हैं। पशु-पक्षियों, भूत-प्रेतों, देवी-देवताओं के साथ-साथ जड़ वस्तुओं को भी इन कथाओं में नायक-नायिका बनाया गया है। यहाँ आत्मा का पृथक संसार है, स्वर्ग-नरक की परिकल्पना है, पशु-पक्षियों की प्रणय लीला है, बोलती हुई चिड़िया है, अनाथ बच्चे का पालन-पोषण करनेवाला बाघ है, धूर्त लोमड़ी, उदार हाथी, मायावी जंगल, दयालु बाघ, चतुर बन्दर आदि की रोचक कथाएँ हैं। नागालैंड की लोककथाओं को तर्क और विज्ञान की कसौटी पर नहीं कसा जाना चाहिए क्योंकि इनका सृजन लोगों का मनोरंजन और बच्चों के मनबहलाव के लिए किया गया है। ये लोककथाएँ लोगों का केवल मनोरंजन ही नहीं करतीं, बल्कि समाज को नियंत्रित व अनुशासित करने में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। धूर्त, मक्कार, लालची और धोखेबाज लोगों को किस प्रकार दंड मिलता है और सच्चाई व ईमानदारी की विजय होती है यह इन लोककथाओं में रेखांकित किया जाता है। इन लोककथाओं में प्रेम, बलिदान, साहस, सेवा की विजय दिखाई जाती है।

4. मिथक : मिथक की दृष्टि से नागालैंड अत्यंत समृद्ध है। यहाँ की वाचिक परंपरा में असंख्य मिथक विद्यमान हैं। संसार की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति से संबंधित कोई न कोई मिथक उपलब्ध है। इन मिथकों में आदिवासी समाज के पूर्वजों के आख्यान हैं। मिथकों के विश्लेषण से इन समुदायों के देशांतरगमन, मूल निवास, अतीत की घटनाओं, गाँव की बसावट आदि पर कुछ रोशनी पड़ती है। प्रायः सभी समुदायों में सृष्टि

की उत्पत्ति संबंधी मिथकों में समानता है। सभी मिथकों में वर्णित है कि सृष्टि के आरम्भ में सर्वत्र जल और अंधकार था। इसी प्रकार सभी समुदायों में जल, सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण, आकाशगंगा, इन्द्रधनुष, बंदर, भालू, पर्वत, वन इत्यादि की उत्पत्ति के संबंध में मिथक मौजूद हैं। प्रदेश के सभी समुदायों में अपने देशंतरगमन, पूर्व पुरुषों तथा ईश्वरीय प्रतीकों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मिथक प्रचलित हैं। यहाँ वन एवं वन्य-प्राणियों से सम्बंधित लोककथाओं और मिथकों का बाहुल्य है। पूर्वोत्तर के अन्य आदिवासी समूहों की तरह नागा मिथकों में भी सृष्टि, पेड़, पर्वत, जल, मानव, पशु-पक्षी, जीव-जंतु आदि की उत्पत्ति की कथा है।

5. लोकोक्ति अथवा कहावत: लोकोक्तियाँ और कहावतें किसी भी समाज और संस्कृति के भाव-बोध का दर्पण होती हैं, किसी समाज के सदियों के जीवन निष्कर्षों को कुछ शब्दों अथवा एक वाक्य में व्यक्त कर देती हैं, सदियों के जीवन अनुभवों को चंद शब्दों में आकार देती हैं। नागा लोग बातचीत में नित्य लोकोक्तियों का प्रयोग करते हैं। लोकोक्तियों से उनकी बातें प्रमाणपुष्ट होती हैं। शिक्षित समाज की अपेक्षा अशिक्षित ग्रामीण जनता अपने दैनिक जीवन में कहावतों का अधिक प्रयोग करती है। कम शब्दों में अधिक भाव राशि समेटे ये लोकोक्तियाँ लोगों को दिशा दिखाती हैं तथा दिग्भ्रमित होने से बचाती हैं इनमें पूर्वजों के ज्ञानानुभव निहित होते हैं। नागालैंड की रेंगमा जनजाति की कुछ कहावतें द्रष्टव्य हैं—

1. निदाले केसु पु हुन्यो,
भावार्थ : बड़े गाँव के लोग घमंडी होते हैं।

2. निशे ले अन्यु गोनलोम्यू।
भावार्थ : छोटे गाँव के लोग निर्भीक नहीं होते हैं।
3. लोगवा स्वारही गुले ग्वा या सेलो, थू हिले ग्वा बिन न्ले,
भावार्थ : नेता को शिकारी कुत्ते की तरह होना चाहिए।
4. फोहू फोहू,
भावार्थ : चमकनेवाला भ्रामक होता है।
5. एन फु एन सन्या,
भावार्थ : खुद से झूठ मत बोलो।
6. मे जोकेला न्यूले मे खिन हुन्यो,
भावार्थ : दूसरों का उपकार नहीं करनेवाला दूसरों की निंदा करता रहता है।
7. एन फु एन जोल एन सेन ला हुन्यो,
भावार्थ : आप जो भी कहते हैं वह हमेशा आपके साथ घटित होता है।
8. दा रन दि न्या दमवुदा,
भावार्थ : जो काम करने में सक्षम नहीं हों वह काम कदापि न करें।
9. सेंटसोन न्यू ले खेनो कलो हु एन ने.
भावार्थ : एक छोटा पक्षी गरुड़ को जन्म दे सकता है।
10. न्यू केलो नती तेनयेन न्यालो,
भावार्थ : सुनी-सुनायी बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए।
11. कैत्यु होंसे दा थाईलो यून चवू लोती,
भावार्थ : चींटियों की तरह काम करें, आपके पास एक सुखी और समृद्ध पीढ़ी होगी।

भोजपुरी लोककथा : भारतीय लोक संस्कृति की जीवंत धाती

- भगवती प्रसाद द्विवेदी

साहित्य की दो धाराएँ साथ-साथ बहती रहती हैं- 'लोक' और 'शिष्ट'। लोक-साहित्य लोक अथवा जन, यानी धरती से रचे-बसे मेहनकशों, कृषकों व मजदूरों को केन्द्र में रखकर रचा जाता रहा और दूसरे किस्म का साहित्य प्रबुद्ध वर्ग के लिए। मगर 'लोक' से उपजे लोग ही जब अपनी जड़ों को भूलने लगे और स्वयं को 'शिष्ट-विशिष्ट' के विभूषणों से अलंकृत करने लगे, तब से क्रमशः 'लोक' का लोप होता चला गया। फलतः अधिकांश लोक-साहित्य के रचयिताओं ने अपना नाम गुप्त ही रखा और यह परंपरा ही चल निकली। मगर लोकभाषा के अमर कवियों- कबीर, तुलसी आदि के काव्य की जन-जन में व्यापकता व अमरत्व को निरखकर तथाकथित बुद्धिजीवियों की बोलती बंद हो गयी। भोजपुरी के भिखारी ठाकुर भी उसी परंपरा के रचनाकार थे जिन्होंने खुद को छिपाया नहीं, बल्कि कबीर की तरह ही डंके की चोट पर कहा कि वह अक्षर-ज्ञान से अधिक कुछ भी लिखना-पढ़ना नहीं जानते। मगर आज उनकी कृतियों की गूँज न सिर्फ भोजपुरी भाषी क्षेत्र में, वरन् पूरे उत्तर भारत में जन-जन की जुबान पर है।

मगर यह भी सच है कि लोकभाषा का हर साहित्य लोक-साहित्य नहीं हो सकता। लोक-साहित्य लोक को ध्यान में रखकर लोक की जुबान में लोक के समूह के द्वारा रचा जाता है। प्रख्यात निबन्धकार डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने 'लोक-साहित्य की मर्यादा' शीर्षक निबन्ध ('अनछुए बिंदु' में संकलित) में लोक-साहित्य को परिभाषित करते हुए लिखा है- 'लोक-साहित्य की अलग मर्यादा पहले शायद स्वीकृत न भी रही हो, परन्तु आज किसी-न-किसी रूप में इसका विशिष्ट स्वरूप सर्वमान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है।

संक्षेप में हम कहने को तो कह सकते हैं कि जैसे लोकतंत्र की परिभाषा इस रूप में की जा सकती है कि ऐसा शासन-तंत्र जो लोक के द्वारा, लोक के लिए और लोक का होकर परिचालित हो उसे लोकतंत्र कह सकते हैं। उसी प्रकार लोक-साहित्य की परिभाषा यों की जा सकती है- कि वह साहित्य जो लोक के द्वारा, लोक के लिए और लोक का अर्थात् लोक की भाषा का साहित्य हो उसे लोक-साहित्य कहा जा सकता है।'

हालाँकि लोक-साहित्य शुद्ध रूप से मौखिक या वाचिक परंपरा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता है और न तो इसके रचयिता का अता-पता होता है, न यह लिपिबद्ध ही हुआ करता है, फिर भी सर्वप्रथम इसको किसी ने रचा होगा जरूर और लोक-मित्रों के अपेक्षित संशोधनों के बाद इसे लोक-स्वीकृति मिली होगी तथा समय-संदर्भ के मद्देनजर छोटे-मोटे परिवर्तनों-परिवर्धनों के साथ लोक-साहित्य की वह रचना समूह की रचना होकर फैलती-पसरती चली गयी होगी। इस संबंध में पं. विद्यानिवासजी की ये पंक्तियाँ गौरतलब हैं- 'जब तक व्यक्तित्व बिलकुल विगलित न हो जाए तब तक लोक- साहित्य की रचना संभव नहीं होती; और यह व्यक्तित्व सबसे अधिक छाया रहता है रचना के कर्तृत्व पर। अपनी रचना के कर्तृत्व के साथ व्यक्ति का बहुत विशिष्ट मोह होता है। इसे छोड़ सकना उसके लिए संभव नहीं होता। इसलिए जो व्यक्ति इस मोह को छोड़कर लोक के लिए अपना कर्तृत्व अर्पित करता है, वह लोक से किसी भी माने में अभिन्न नहीं कहा जा सकता। उसकी कृति इसीलिए लोक-कृति बन जाती है।'

वैसे तो लोक-साहित्य के अंतर्गत लोकगीत,

संस्कारगीत, ऋतुगीत, क्रीड़ा-गीत, श्रमगीत (यथा: जंतसार, रोपनी, सोहनी, कटनी के गीत), लोकगाथा, लोकोक्तियाँ, लोककथाएँ आदि आते हैं, मगर मैं सीधे लोककथा पर ही आता हूँ, जो लोक-साहित्य की अमूल्य धरोहर है। लोककथा में एक ओर व्रत-त्योहार संबंधी कथाएँ आती हैं तो दूसरी तरफ़ वैसी कथाएँ, जो दादी-नानी के मुँह से अगली पीढ़ी को सौगात के रूप में मिलती रही हैं। लोकजीवन के विविध पक्षों को उद्घाटित करनेवाली लोकभाषा की ऐसी कथा, जो अपनी सरसता, रोचकता, कौतूहल और मनोरंजन के गुणों से श्रोता के मन में अपनी अमिट छाप छोड़े, लोककथा कहलाती है।

भारत के विभिन्न अंचलों और विश्व के कई देशों में बोलने वालों की अच्छी-खासी तादाद रखनेवाली लोकभाषा भोजपुरी में लोककथा की मौखिक परंपरा सदियों से चली आ रही है। लोक-साहित्य के अध्येता डॉ. रसिकबिहारी ओझा ‘निर्भीक’ ने ‘भोजपुरी नीति-कथा’ की भूमिका में लिखा है— ‘मेरे विचार से लोककथा मानव-मन की अनुभूति और मस्तिष्क की सर्जना है। इनमें दिलचस्पी और उत्सुकता बरकरार रखने की अद्भुत क्षमता होती है। लोक-साहित्य में इनकी अपनी खासियत है। यह लोककथा जीवन के हरेक क्षेत्र को छूती नाना ढंग और व्यापक रूप से हमारे सामने आती है। इनकी परंपरा मौखिक ही है।’ [भोजपुरी से अनूदित]

भोजपुरी में कथा को ‘कहनी’ कहा जाता है, जो कथन का पर्याय है। हर लोककथा का सोद्देश्य होना भले ही अनिवार्य न हो, पर इनमें भोजपुरी संस्कृति की झाँकी तो मिलती ही है। इन कथाओं के पात्र एक तरफ़ राजा-रानी, भूत-प्रेत, परियाँ और विभिन्न जाति-सम्प्रदाय के लोग, तो दूसरी ओर पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, नदी-नाले, चाँद-सूर्य : यानी पूरी प्रकृति हुआ करती है। ‘एक थे राजा’ (एगो रहले राजा) से शुरू हुई कथा में राजा की चाटुकारिता नहीं मिलती, वरन्

भटके हुए बादशाह को सही राह पर लाने और दंडित रहने की कथा होती है। अधिकांश कथाएँ सुखान्त होती हैं और कहीं-कहीं जहाँ कथा का अंत होता है, वहीं सोच की प्रक्रिया भी शुरू होती है। कहीं-कहीं तो कथा की आखिरी पंक्ति ही होती है— ‘कथा गइल वन में, सोच अपना मन में!’

तुकबंदी लोककथा की रोचकता में चार चाँद लगा देती है। किसी-किसी कथा में तो लोकगीत की संदर्भित पंक्तियाँ बार-बार दोहराई जाती हैं और वे सुननेवालों को सहज ही कंठस्थ हो जाती हैं। कथा-सरितसागर, वृहत कथामंजरी, पंचतंत्र, हितोपदेश, जातककथाएँ, सिंहासन बत्तीसी, वैताल पचीसी आदि लिपिबद्ध कथाओं की परंपरा में ये लोककथाएँ इस मायने में भिन्न हैं कि सीधे-सादे गंवई नर-नारी के मुँह से निकलीं ये कथाएँ सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखने में काफी हद तक कामयाब रही हैं।

लोककथा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना मनुष्य का। संभवतः आदिकाल से ही ये कही-सुनी जाती रही होंगी और इनके मार्फ़त मानव की आशा-निराशा, जय-पराजय, सुख-दुःख, जिजीविषा, परदुःखकातरता, कल्पनाशीलता आदि की कथात्मक अभिव्यक्ति होती रही होगी। डॉ. ‘निर्भीक’ के शब्दों में— ‘लोककथा में मानव-मन का सुकोमल इतिहास अंकित रहता है। आदमी ने जो कुछ किया इसका लेखा-जोखा तो इतिहास में आ जाता है, लेकिन अपने मन के मानसरोवर के तट पर उसने जो कुछ सोचा-गुना, रंगीन और मधुर कल्पनाएँ कीं और सुन्दर सपने संजोये, इनके विवरण लोककथा में या लोक-साहित्य की दूसरी विधा— लोकगीत, लोकोक्ति वगैरह में संजोए गए हैं। इतिहास आदमी के बाहरी कारनामों का दस्तेवज है, तो लोक-साहित्य उसके भीतरी मन का मानचित्र। सदियों से ये लोककथाएँ मानव का मनोरंजन करती आ रही हैं। इनमें कुछ भी असंभव नहीं होता। इनमें बाघ और साँप की यारी होती है, पंछी संदेश पहुँचाते

हैं और जरूरत पड़ने पर दीवार भी बोलने लगती है। इच्छा होते ही आदमी सात समंदर पार लौंघ जाता है, घनघोर जंगल एक ही कुलांच में फांद जाता है, धरती के नवों खण्ड की परिक्रमा कर लेता है और किसी टापू पर रहनेवाली सुन्दर युवती से शादी रचा लेता है। थकान मिटाने और समय बिताने के क्षण में लोककथा हम सबका मनोरंजन करती है और घोर निराशा के क्षण में अमित आसरा का संचार करती है। यह लोककथा सामाजिक धरोहर है।

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने ‘लोक-साहित्य की भूमिका’ में भोजपुरी लोककथाओं को आधार बनाकर लोककथा को छह भागों में बांटा है— उपदेशात्मक कथा, व्रतकथा, प्रेमकथा, मनोरंजक कथा, सामाजिक कथा और पौराणिक कथा। उपदेशात्मक कथा के अंतर्गत नीति परक कथाएं आती हैं, जिनमें दृष्टांतों के माध्यम से सीख दी गई है। भोजपुरी क्षेत्र के व्रत-त्योहारों में पीड़िया, जिउतिया, बहुरा, गोधन, अनंत चतुर्दशी, सत्यनारायण आदि की कथाएं आती हैं। प्रेम, मनोरंजन और सामाजिक संदर्भों से जुड़ी कथाओं का तो विशाल भंडार है। पौराणिक कथा के तहत विष्णु, शिव-पार्वती, श्रवण कुमार आदि से जुड़ी कथाएं रखी जा सकती हैं। इनके अलावा ऐतिहासिक व पारंपरिक कथाएं भी आती हैं, जिनमें भरथरी, गोपीचंद, विक्रमादित्य, सोरठी, विजयमल, लोरकी आदि की कथाएं रखी जा सकती हैं।

भोजपुरी लोककथा की कुछ रूढ़ियां भी लोकप्रिय रही हैं। पशुओं में सियार, लोमड़ी, चिड़ियों में कौआ और मानव में नाई, भूमिहार की चालाकी इन कथाओं में देखने को मिलती हैं। ब्राह्मण की गरीबी, यादवों की मूर्खता (भोलेपन) की कथाएं भी भरी पड़ी हैं। किसी दानव के द्वारा मानव-पुत्री का अपहरण, परी की किसी राजकुमार से सशर्त शादी, मगर शर्त टूटते ही स्वर्गारोहण। हर कथा का सुखद अंत।

लोककथा और आधुनिक कहानी में मूलभूत फर्क

सिर्फ मौखिक परंपरा और लिपिबद्धता का ही नहीं होता। हर लोककथा सोद्देश्य ही हो, यह आवश्यक नहीं होता, जबकि कहानी की उद्देश्यपरकता असंदिग्ध हुआ करती है। लोककथा कथा कभी भाग्यवादी दृष्टिकोण पर, तो कभी हैरतअंगेज कारनामों पर आधारित होती है, मगर कहानी यथार्थ की खुरदुरी जमीन पर अपने पांव जमाती है। एक में राजा-रानी, भूत-प्रेत, परी, पशु-पक्षी, सूर्य-चांद आदि पात्र के रूप में मौजूद रहते हैं, तो दूसरी में संघर्षशील स्त्री-पुरुष और बच्चे। लोककथा में कथानक की प्रधानता होती है और इसका कोई निश्चित ढांचा या शिल्प नहीं होता, जबकि कहानी के लिए यह आवश्यक शर्त है। लोककथा में घटनाओं की भरमार होती है, जबकि कहानी में भाव व विचारों की प्रधानता होती है। यह जरूरी नहीं है कि कहानी सुखांत हो। मगर यह सच है कि आज की कहानी की जननी है लोककथा।

लोककथा कथा-कहन की कला से लैस होती है और इसकी प्रभावोत्पादकता कथा कहनेवाले की शैली पर निर्भर रहती है। इसमें कुदरत का मानवीकरण देखते ही बनता है। कथानक ऐसा तरतीबवार होता है कि एक बार सुन लेने पर ही कथा कंठस्थ हो जाती है। लोककथा इसीलिए कही जाती रही है कि उसे एक कान से सुनकर दूसरे कान से उड़ा देने की बजाय उस पर कान दिया जाय और ‘सोचें अपने मन में’ से चिन्तन की प्रक्रिया आरंभ कर सबक लिया जाय। लोककथाओं का सुखद अंत मंगलकामनाओं से ओतप्रोत हुआ करता है और बुरे कर्म की सजा के साथ ही हृदय-परिवर्तन तथा दुश्मनों की सुख-सम्पन्नता की भी कामना इनकी खासियत होती है। मनोवैज्ञानिक चित्र उकेरनेवाली लोककथाएं सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, नैतिक, दार्शनिक व आर्थिक पक्षों को भी बखूबी उजागर करती हैं तथा इस बाजारवादी अर्थलोलुपता, स्वार्थान्धता के दौर में ‘सर्वे भवन्तु सुखिनः’ का उद्घोषकर शाश्वत सत्य का

अहसास कराती हैं।

पहले लोककथाएं अलाव के इर्द-गिर्द बैठकर, खेत-खलिहान, बाग-बगीचों की रखवाली करते हुए, जांता चलाते हुए, खेतों में रोपनी-सोहनी-कटनी करते हुए, रात में बच्चों को सुलाते हुए निश्चिन्त होकर कही-सुनी जाती थीं। तब न तो शिक्षा का प्रचार-प्रसार था, न जीवन की आपाधापी, भाग-दौड़ और न मनोरंजन के लिए इतने अधिक संचार-माध्यम की। आज किसे फुरसत है कहने और सुनने की। अतः अधिकांश लोककथा कहने वाली पीढ़ियां गुजर गयीं और उनके साथ ही मर-बिला गयीं अस्सी फीसदी लोककथाएं भी। अब भी यदि इन्हें संकलित न किया गया तो लोक-साहित्य की यह विरासत हम सदा-सदा के लिए गंवा बैठेंगे।

इस दिशा में भोजपुरी में छोटे स्तर पर ही सही; कुछ काम हुआ है जिसकी चर्चा करना मैं अपना दायित्व समझता हूं। भोजपुरी अकादमी, पटना ने डॉ. रसिकबिहारी ओझा 'निर्भीक' की 'भोजपुरी नीति-कथा' सन् 1983 में प्रकाशित की थी। इसके पूर्व श्रीमती रामदुलारी की 'एगो राजा रहले' और श्रीमती सुशीला पाण्डेय की 'बेलवन्ती रानी' शीर्षक लोककथा की पुस्तिकाएं भोजपुरी संस्थान, पटना ने प्रकाशित की थीं। इस क्रम में रार्बट्सगंज (सोनभद्र) से प्रकाशित डॉ. अर्जुनदास केसरी की पुस्तिका 'एगो रहले राजा' भी गौरतलब है, जिसमें भोजपुरी की कुछ लोककथाएं हिन्दी अनुवाद के साथ संग्रहीत हैं। मगर ये प्रयास नाकाफी हैं। हां, 'निर्भीक'जी और स्व. परमेश्वर दूबे 'शाहाबादी' द्वारा संकलित लगभग दो हजार लोककथाओं का संग्रह विश्व भोजपुरी सम्मेलन के द्वारा प्रकाशित होने वाला है। अगर वह प्रकाशन संभव हो पाए तो वह एक बड़ी उपलब्धि होगी। इस सिलसिले में प्रकाशन विभाग से प्रकाशित डॉ. राजेन्द्र परदेसी की पुस्तिका 'भोजपुरी लोककथाएं' भी द्रष्टव्य है। कथाकार मिथिलेश्वर की 'भोजपुरी लोककथाएं' के बगैर भी

चर्चा अधूरी रहेगी। इन पंक्तियों के लेखक ने भी 'भोजपुरी कथाएं' शीर्षक से इस अंचल की लोककथाओं को संकलित किया है जो मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल की 'आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी' से प्रकाशित है। संकलित लोककथाओं के चयन में यह सतर्कता बरती गई है कि भोजपुरी अंचल की वैसी लोककथाएं प्रस्तुत की जाएं जिनका व्यापक ज़नाधार हो, साथ ही कुछ ठोस मकसद भी हो। फलतः जातीय दुर्भावना, धर्मोन्माद और अश्लील भावबोध वाली रचनाओं से परहेज किया गया है और उन्हें हिन्दी में प्रस्तुत करने के पीछे भी यह लक्ष्य रहा है कि उनकी पहुंच व्यापक पाठकवर्ग तक हो और बच्चे से बूढ़े तक भोजपुरी अंचल की जीवटता, जद्दोजहद, सुख-दुःख, परदुख कातरता, सांस्कृतिकबोध से उन कथाओं के माध्यम से रू-ब-रू हो सकें। अपनी विरासत को पहचानने की विनम्र पहलकदमी भर हैं ऐसी कोशिशें।

अब बतौर बानगी प्रस्तुत हैं चंद लोककथाओं के कथानक। एक मशहूर लोककथा है 'हक की लड़ाई', जिसमें एक छोटी-सी चिड़िया की जीवटता और संघर्षशीलता देखने ही बनती है। बड़ी मेहनत-मशक्कत से भूखी गौरैया को दाल का एक दाना मिलता है, पर ज्योंही वह एक खूंटे पर बैठकर खाने की तैयारी करती है कि दाल का वह टुकड़ा खूंटे के अन्दर चला जाता है। गौरैया फुर्र से उड़कर जा पहुँचती है बढ़ाई के पास। हाथ जोड़कर कहती है— बढ़ाई दादा! उस खूंटे को चीर दो, जिसमें दाल का मेरा एक दाना अटका हुआ है। उसके बिना मैं क्या खाऊँ और क्या लेकर अपने बच्चे के पास परदेश जाऊँ?

बढ़ाई-बढ़ाई! खूंटा चीरऽ,

खूंटा में मोर दाल बा,

का खाई, का पीहीं,

का ले परदेस जाई?

मगर बूढ़े बढ़ाई को गौरैया पर जरा भी दया नहीं

आती। वह डांटकर भगा देता है- हुंह! भला एक दाल के लिए मैं खूँटा चीरने जाऊँ ?

इस बढ़ाई की ऐसी मजाल! इसे राजा से कहकर दंडित करवाना ही होगा। गौरैया राजा के दरबार में जाकर गुहार लगाती है, मगर राजा भी साफ इन्कार कर देता है। अगर बढ़ाई अपनी मरजी से खूँटा चीरना नहीं चाहता तो जोर-जबरदस्ती कैसे कर सकता है वह ? दंडित करने का तो सवाल ही नहीं उठता। गुस्से से लाल-पीली गौरैया राजा को डंसवाने के लिए साँप के पास, साँप के डंसने से मना कर देने पर साँप को जान से मारने के लिए लाठी के पास, फिर लाठी के ध्यान न देने पर उसे जलाने के लिए आग के पास जा पहुंचती है। आग उसकी आपबीती सुन, उस नन्हीं-सी जान की बहादुरी पर फूली नहीं समाती और उसकी मदद के लिए चल पड़ती है। ज्योंही लाठी की, गौरैया के साथ आग पर नजर पड़ती है, वह थर-थर कांपती हुई साँप को मारने के लिए तैयार हो जाती है। फिर तो लाठी को देखते ही साँप राजा को डंसने के लिए, साँप पर नजर पड़ते ही राजा बढ़ाई को दंडित करने के लिए और दंडित होने के भय से बढ़ाई खूँटा चीरने के लिए चल पड़ता है। पर खूँटा अपने-आप फट जाता है, यह कहते हुए :

हमरा के चीरो-उरो मत कोई,
हम अपने से फाटब लोई!

अंततः खूँटा फटता है, गौरैया को दाल का दाना वापिस मिल जाता है। सभी उसके साहस की तारीफ करते हैं, मगर गौरैया मुस्कराकर कहती है- ‘अपने वाजिब हक के लिए निडर होकर लड़ने वाले को सफलता जरूर मिलती है।’

कठिन परिस्थिति में किसी को देखकर उसकी हरसम्भव मदद करना ही प्रत्येक जीवधारी का दायित्व होना चाहिए। ऐसी परदुःखकातरता से लैस एक लोककथा है ‘चिड़िया और चींटी,’ जिसमें नदी के किनारे के पेड़ पर बैठी हुई चिड़िया ने जब देखा कि

नदी की लहर एक चींटी को बहाए जा रही हैं, तो वह यह सोचकर बेचैन हो गयी कि थोड़ी देर में ही चींटी बेचारी मर जाएगी। चोंच से पेड़ का एक पत्ता तोड़कर पानी की ऊपरी सतह पर उसने चींटी के आगे गिरा दिया। तत्काल चींटी पत्ते पर चढ़ गयी और पत्ता बहता हुआ नदी के किनारे जा लगा। जमीन पर पहुंचकर चींटी ने मन-ही-मन चिड़िया को धन्यवाद दिया। तभी अचानक चींटी ने देखा कि एक आदमी बन्दूक में गोली भरकर उसी चिड़िया पर निशाना साधने जा रहा है। दौड़ती हुई चींटी उसके हाथ पर पहुंचकर लगी जोर-जोर से काटने। शिकारी का हाथ हिलने से निशाना चूक गया। गोली आवाज सुनते ही चिड़िया फुर्र-से उड़ गयी। चींटी अपना काम निपटाकर तुरंत जमीन पर पहुंच चुकी थी। उसे चिड़िया की जान बचाने की बेहद खुशी थी।

एक लोककथा है ‘चिरैया बाबा’ की, जिसमें बाबा बीवी की साड़ी खरीदने के पैसे लगाकर बहेलिए की जाल में कैद आदमी, हंस, कौवे और बाघ को मुक्त कराते हैं। एहसान के बोझ से दबे पशु-पक्षी जहां बाबा की हरसम्भव सहायता करने को तत्पर रहते हैं, वहीं आदमी अपने मुक्तिदाता को ही मुसीबत में डाल देता है। आखिरकार पशु-पक्षी ही उन्हें उबारते हैं और बाबा को बाग-बगीचे, पशु-पक्षी से बेहद लगाव हो जाता है।

‘सोने का गुच्छा’ एक ऐसी लोककथा है, जिसमें धन का लोभ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र- चार दोस्तों को एक-दूसरे की जान का दुश्मन बना देता है और अंततः चारों को ही अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है।

एक बड़ी ही रोचक लोककथा है ‘चूहे की चतुराई,’ जिसमें खुद को बहुत चालाक समझने वाला चूहा जंगल से लकड़ी लाकर उसके एवज में बहुत कुछ हासिल करते हुए एक लड़की को भी पाने में कामयाब हो जाता है और वही लड़की उसकी मौत का कारण

॥ आलेख ॥

भी बनती है। इसका सार-तत्व यह है कि अपनों से अलग होने और खुद को ज्यादा चालाक समझनेवालों का बहुत बुरा हथ्र होता है। पूरी कथा सरस तुकबंदियों से भरी हुई है। लड़की हासिल करने के लिए वह लकड़ी से पगड़ी तक की पूरी कथा कह सुनाता है। फिर शरमाकर कहता है—

‘क्या मैं एक लड़की से भी गया?’

‘वन गइलीं, वन-काठी से अइलीं,

ऊ काठी हम व्यापारी के दिहलीं,

व्यापारी एगो लिट्टी दिहलस,

ऊ लिट्टी हम कानू के दिहलीं,

कानू हमके दाना दिहलस

ऊ दाना हम कोंहरा के दिहलीं,

कोंहरा एगो घूँचा दिहलस

ऊ घूँचा हम ग्वाला के दिहलीं,

ग्वाला एगो पगड़ी दिहलस

ऊ पगड़ी हम तहनी के दिहलीं,

ए मूस, ए मूस, जा ना!

का हम एगो लइकियों से गइलीं?’

सभ्यता जहां हमारे रहन-सहन, वेशभूषा, जीवन-स्तर और बाहरी विकास को संचालित करती है, वहीं संस्कृति हमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी परम्परा से संपोषित होकर संस्कारवान बनाती है और अंतर्मन के सुख-दुःख, संवेदनशीलता, दया, करुणा, नैतिकता समेत सभी जीवन-मूल्यों को अभिनव आयाम देती है। आज के वैश्वीकरण व बाजारवाद के गलाकाट दौर में, जब आस-आसरा की कौन कहे, सपने तक मरते जा रहे हैं, हमें मनुष्यता की कसौटी पर कसकर सांस्कृतिक बोध का एहसास करानेवाली जीवंत लोककथाओं की

बहुत जरूरत है। इस संदर्भ में डॉ. रोज केरकेट्टा की पंक्तियां गौरतलब हैं— ‘लोककथाओं में सांस्कृतिक समन्वय की ताकत सबसे अधिक है। संसार भर में जो भी आदान-प्रदान जिस ढंग से इसके सहारे हुआ है, उसको जानना जरूरी है, क्योंकि लोककथाओं में संस्कृति के अवशेष छिपे हुए हैं। इन छिपे तत्वों को खोजकर आधुनिक जनजीवन में इनके योगदान को पहचानने की कोशिश करनी है। इन तत्वों की लोकप्रियता की वजह जाने बगैर संस्कृति की सही जानकारी सम्भव नहीं है। लोककथाओं के मुख्य तत्व ज़िन्दगी के प्रमुख मनोभाव सुख-दुख, आशा-निराशा, काम, लोभ, ईर्ष्या हैं। इन्हें सही दिशा की ओर मोड़कर संसार का कल्याण इनका मकसद है। इससे निराशा आशा में बदलती है, हानि लाभ में तब्दील हो जाती है। सबसे बड़ी बात होती है पात्रों का अदम्य उल्लास। इसी उल्लास के सहारे ज़िन्दगी के घात-प्रतिघात से लड़ते-भिड़ते पात्र आगे बढ़ते हैं। यह आगे बढ़ना ही इन लोगों की उपलब्धि होती है... कहा जा सकता है कि संस्कृति और लोककथाओं के बीच एक अदृश्य मजबूत सूत्र-धागा हमेशा मौजूद रहता है।’

आज जरूरत इस बात की है कि भारतीय लोक संस्कृति की इस जीवंत थाती लोक-साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा लोककथा की अस्मिता को बचाने और लिपिबद्ध कर विशाल पाठक वर्ग तक पहुंचाने की हरसम्भव पहल की जाये, ताकि संचार माध्यमों के खतरों से उन्हें उबारा जा सके। अगर ऐसा नहीं हो पाया तो लोककथा सुनाने वाली पीढ़ी के पूरी तरह गुजर जाने के बाद यह धरोहर सदा-सदा के लिए मिट जाएगी।

सर्जना, बिस्कुट फैक्ट्री रोड, निकट मगध आईटीआई,

नासरीगंज, दानापुर, पटना - 801503 (बिहार)

चलभाष : 9304693031

ई-मेल : dubeybhagwati123@gmail.com

अंगिका लोकनाट्य

-डॉ. अमरेन्द्र

अंगिका अंग महाजनपद की भाषा और इसके लोकनाट्य का सबसे प्राचीनतम रूप स्वांग है, जिसका प्राचीनतम उल्लेख अंग जनपद के विक्रमशील विश्वविद्यालय के सिद्ध साहित्य में मिलता है। ‘हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास’ (पृ. 50) में डॉ. दशरथ ओझा लिखते हैं कि जननाटक की प्रस्तुत शैलियों में स्वांग नाटक हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के साथ-साथ ही जनता के सामने आ गए होंगे। हिन्दी साहित्य में स्वांग से प्राचीनतर नाटक का उल्लेख शायद ही कहीं मिले। सिद्ध कण्हापा विक्रम की नवीं शताब्दी में विद्यमान थे। उन्होंने डोमिनी के आह्वान-गीत में स्वांग का उल्लेख इस प्रकार किया है—

नगर बाहिरे डोंगी तोहारि कुड़िया छड़ छोड़ जाइ
सो ब्राह्म नाड़िया।।

आलो डोबि! तोए कसम करिबय सांग निधिण कणह
कपाली जोड़ लाग।।

एक सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ि तेहि चढ़ि नाचअ
डोंगी वापुड़ी।।

यह उद्धरण वज्रयानियों की योगतंत्र-साधना से सम्बन्ध रखता है। इस साधना में डोमिनी आदि का अबाध सेवन एक आवश्यक अंग माना जाता है। डोमिनी के साथ स्वांग करने का आह्वान उस काल की स्वांग-शैली को प्रमाणित करता है। डोमिनियों के स्वांग का प्रचार आज भी उत्तर भारत में प्रचलित है। यह डोमिनियों का नाटक स्त्रियों के मध्य होता है। इस नाटक में डोमिनियाँ ही पुरुष-वेश में पुरुष-पात्र का अभिनय करती हैं।

कण्हापा के जन्मस्थान में मतैक्य की भिन्नता के बावजूद, इतनी बात तो तय है कि इस सिद्ध कवि का साधना-स्थल विक्रमशीला बौद्धविहार ही था, जो उपरोक्त पद की काव्यभाषा से भी स्पष्ट है। कण्हापा

के इस पद में आधुनिक अंगिका की भाषा-संरचना साफ-साफ पहचानी जा सकती है और इस सिद्ध कवि की उक्ति से ही स्पष्ट है कि अंग महाजनपद में लोकनाट्य ‘स्वांग’ का नवीं शताब्दी के पूर्व से ही प्रचलन था।

स्वांग स्त्री-प्रधान नाटक है, अंग प्रदेश में ‘सामा-चकेवा’ लोकनाट्य को इसी स्वांग का विकास माना जा सकता है। ‘सामा चकेवा’ भी पूर्णतः स्त्री-प्रधान नाटक है। ई. 2002 में खगड़िया जिला के खरैता ग्राम में इसे देखने का मुझे मौका मिला था। पासवान जाति के लगभग ढाई सौ से ऊपर घरों के इस गाँव के प्रख्यात अंगिका लेखक चन्द्रप्रकाश ‘जगप्रिय’ ने मुझे बताया था कि सामा-चकेवा हमारी जाति का प्रमुख पर्व है, जिसका समापन इस जाति में बड़ी निष्ठा के साथ होता है। सामा-चकेवा भाई-बहन का पर्व है, पर्व से जुड़ी कथा का अभिनय स्त्रियों द्वारा इस अवसर पर प्रस्तुत किया जाता है। चूँकि ऐसे अभिनय को पुरुष नहीं देख पाते, इसी से उस अभिनय के संबंध में कुछ विशेष बता सकना संभव नहीं। पासवान जाति में सामा-चकेवा का अभिनय आनुष्ठानिक है, जो छठ पर्व के समापन के दूसरे दिन होता है, लेकिन यह भी सही है कि सामा-चकेवा लोक नाटक उत्तर अंग जनपद के अतिरिक्त दरभंगा, मधुबनी के अंचलों की दूसरी जातियों में भी प्रचलित है।

अंग जनपद में स्वांग की परम्परा की ही एक और शाखा है— ‘जट-जाटिन’। जट-जाटिन अंग जनपद की अति लोकप्रिय लोक नाट्य-शैली है, जिसमें स्त्री ही पुरुष पात्र की भी भूमिका निभाती है। वैसे जट-जाटिन भी आनुष्ठानिक लोक नाटक ही है, लेकिन अब इसका मंचन विभिन्न अवसरों पर होता मिलता है। मैंने मिर्जापुर-चंगेरी (बाँका) में प्रसिद्ध नर्तक विश्वेश्वर

मंडल को स्त्री-पुरुष का मुखौटा पहने जट-जटिन प्रस्तुत करते वर्षों पूर्व देखा था। अभिनय इस क्षिप्र गति से हो रहा था कि इसका आभास भी नहीं हुआ कि एक ही व्यक्ति जट भी है और जटिन भी। यह लघु नाट्य है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

जाटिन- टिकवा जब-जब कहलियो रे जटवा टिकवा काहे न लानले रे

बालि उमरिया रे जटवा टिकवा काहे न लानले रे।

जाट- टिकवा जब-जब लानलियो जटिनिया टिकवा काहे न पिन्हले रे।

बालि उमरिया जटिनिया टिकवा काहे न पिन्हले रे।

जाटिन- नथिया जब-जब कहलियो रे जटवा नथिया काहे न लानले रे।

बालि उमरिया रे जटवा नथिया काहे न लानले रे।

जाट- नथिया जब-जब लानलियो जटिनिया नथिया काहे न पिन्हले रे।

बालि उमरिया जटिनिया टिकवा काहे न पिन्हले रे।

(“रे जाट, मैंने जब-जब भी टीके (माथे से पहना जानेवाला आभूषण) की माँग की, तुमने मुझे टीका ला कर नहीं दिया। मेरी तो बाली उमर है, तुमने टीका ला कर क्यों नहीं दिया?”)

99री जटिन, मैंने जब-जब भी टीका ला कर तुम्हें दिया, तुमने उसे पहना ही नहीं। तुम्हारी तो बाली उमर है, तुमने उसे पहना क्यों नहीं?”

99रे जाट, जब-जब भी मैंने नथिये की माँग की, तब-तब तुमने उसे नहीं लाया। मेरी तो बाली उमर है, तुमने नथिया क्यों नहीं लाई?”

99री जाटिन, मैंने जब-जब भी नथिया लाई, तब-तब तुमने उसे नहीं पहना। तुम्हारी तो बाली उमर है, तुमने उसे क्यों नहीं पहना?”)

यह बहुत आश्चर्य की बात नहीं कि अंग जनपद के आधे से अधिक लोकनाट्य स्त्रियों द्वारा अभिनीत नाटक हैं। वह चाहे ‘डोमकच’ ही क्यों न हो या एक और आनुष्ठानिक लोकनाटक ‘झिझिया’। अंग प्रदेश स्त्रीदेश भी कहाने के कारण यह स्वाभाविक भी है।

अंगिका का सम्पूर्ण लोकनाट्य साहित्य दो भागों में विभाजित होता है— नृत्यप्रधान नाटक और प्रहसन प्रधान। झिझिया नृत्यप्रधान आनुष्ठानिक अभिनय है, जो शरद नवरात्र की प्रथम पूजा से लेकर नवीं पूजा तक स्त्रियों द्वारा ही सम्पादित होता है। छिद्रयुक्त घड़े में जलते दीपक को माथे पर रखे नृत्यरत स्त्रियाँ, जिसमें अभिनय का भी संयोग होता है, मध्य रात्रि में किसी सूने स्थान में जाकर पूजा करती हैं। जैसा कि पूर्व में भी संकेत किया गया है अंग जनपद में झिझिया जैसे लोकनृत्य में विक्रमशील विश्वविद्यालय के सिद्ध महाज्ञानियों का ही योगदान हो सकता है, जो विभिन्न तांत्रिक अनुष्ठानों को गुप्त रूप से एकान्त स्थानों में सिद्धि के लिए करते रहे होंगे और वे ही तांत्रिक अनुष्ठान उत्तर अंग जनपद को बौद्ध सिद्धों का प्रमुख स्थल भी बन गया था। यहाँ की कई प्रसिद्ध मूर्तियाँ बौद्ध तांत्रिकों से ही संबंधित हैं। इनमें उग्रतारा की मूर्ति अति प्रसिद्ध है।

‘डोमकच’ अंग प्रदेश का अति लोकप्रिय लोक नाट्य है, जो समाज की दलित स्त्रियों द्वारा दलित स्त्रियों की पीड़ाओं की अभिव्यक्ति के लिए ही विवाह जैसे सामाजिक उत्सव पर प्रस्तुत होता है, पत्नी की अवहेलना कर पति का परदेश गमन और परस्त्री के साथ उसके संबंध हो जाने से तिरस्कृता की करुण-स्थिति आदि का चित्रण डोमकच में होता है।

लेकिन बिदापत नाच अन्य अंगिका लोकनाट्य काव्य से भिन्न है। यह स्त्रियों पर आधारित नृत्य-गान का अभिनय नहीं है। कुछ दशक पूर्व यह नाच अंगप्रदेश के दक्षिण भाग से लेकर उत्तरी भूभाग तक बहुत लोकप्रिय था। इसकी लोकप्रियता का अंदाजा तो इसी

से लगाया जा सकता है कि कथाकार रेणु ने इस लोकनाट्य पर 'बिदापत नाच' के नाम से एक रिपोतार्ज ही लिख डाला है, जिसमें फणीश्वरनाथ रेणु ने लिखा है कि, 'इस नाच की उत्पत्ति दरभंगा जिले में हुई, ऐसा अनुमान किया जाता है। पता नहीं, अपनी जन्मभूमि में इसकी क्या अवस्था है, किंतु उत्तरी बिहार के कुछ जिलों तथा भागलपुर, पूर्णिया आदि के गाँवों में आज भी इसकी 'कद्र' है। यह निम्न स्तर के लोगों की ही चीज रह गई है। तथाकथित भद्र समाज के लोग इस नाच को देखने में अपनी हेठी समझते हैं, लेकिन मुसहर, धांगड़, दुसाध के यहाँ विवाह, मुंडन तथा अन्य अवसरों पर इसकी धूम मची रहती है। रेणु के भाषा प्रयोग में जो व्यंजना है, उसे समझने की जरूरत है।

पुनः इस अंगिका लोकनाट्य की संरचना के संबंध में ये लिखते हैं, 'बिदापत नाच' में साधारणतः सात-आठ कलाकार रहते हैं। दो ही वाद्य यंत्र-मृदंग और मंजीरा। एक या दो नाचने वाले, एक विकटा (विदूषक) और दो-तीन सहायक गवैये। लाल सालू की घांघरी और पीतल-कांसे के गहनों को साज के लिए पर्पाप्त समझा जाता है। घुंघरू अथवा पैजनी की कोई आवश्यकता नहीं। चेहरे पर कालिख पोत कर, घुटने तक तंग पतलून और हाथ में एक 'थुथनीदार' छड़ी लेकर कोई भी 'विकटा' बन जा सकता है। काने, कुब्जे अथवा अंग-भंग व्यक्तियों को तो सफल विकटे की सर्टिफिकेट मिली ही रहती है। इस नाच की सफलता एक सफल 'विकटे' पर ही निर्भर करती है। नर्तकों में, वयस्क नर्तक को ही पार्टी वाले तरजीह देते हैं।"

भागलपुर, पूर्णिया से निकल कर यह नाच अन्य जनपदों में भी लोकप्रिय हुआ, इसी कारण जिस जनपद के लोकप्रिय गीत मिले, उन्हें स्वीकार कर इस नाच में डाल दिया।

अंग महाजनपद के लोकनाट्य की परम्परा को

पुनर्जीवन प्रदान करने के लिए इसे मंच पर पुरुषों द्वारा भी अभिनीत किया जाने लगा है, जैसाकि बिहुला गाथा पर आधारित नाटक को। इस दिशा में भागलपुर के कृष्ण क्लब, बरारी की भूमिकाएं अत्यधिक सराहनीय हैं, जिसके कारण मंदार-मंथन लोकनाट्य काफी लोकप्रियता प्राप्त कर सका है। ध्यातव्य हो कि जिस पर्वत से समुद्र-मंथन की पुराकथा जुड़ी है, वह पर्वत अंग जनपद के दक्षिणी हिस्से में अपने अद्भुत प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ अब भी खड़ा है। समुद्र-मंथन नाटक को मैंने पहली बार मंदार महोत्सव के अवसर पर देखा था और बिहुला नाटक को बिहार सरकार के पर्यटन विभाग की ओर से आयोजित 'अंग महोत्सव' में। कृष्ण क्लब, बरारी के निर्देशक और नाटककार शीतांशु अरुण अंगिका लोकनाटकों को जनपद के विभिन्न हिस्सों में मंचित करते रहे हैं, ऐसे ही नाटकों में एक प्रमुख लोकनाटक है— 'कौआ हकनी'।

'कौआ हकनी' एक पारम्परिक सामाजिक नाटक है, जो दहेज की समस्या से जुड़ा है, गीति प्रधान इस लोकनाट्य को देखने का पहला अवसर मुझे अखिल भारतीय अंगिका साहित्य-कला-मंच के गोड्डा-महाधिवेशन के अवसर पर मिला था।

अगर इस भाषा के दो लोकनाट्य 'बोलवै' और 'देवलो' पर विस्तार से विचार न भी करें तो कोई बात नहीं, लेकिन लेढ़ियारी, नारदी, रमखेलिया और नन्ही-बिन्ही जैसे अति लोकप्रिय और महत्वपूर्ण लोकनाट्यों को किसी भी तरह विवेचन से बाहर नहीं किया जा सकता। 'लोढ़ियारी' लोकनाट्य में बोलबै से अधिक अभिनेयता है। 'बोलबै' में एक व्यक्ति लाल वस्त्र में मंच पर लाठी लिए उपस्थित होता है, जिसके हाथ की लाठी कौड़ियों से सज्जित लाल कपड़े में लिपटी होती है और वह संवाद रूप में प्रचलित गीतों को कुछ-कुछ अभिनय के साथ गाता रहता है, जबकि 'लोढ़ियारी' में पात्र पुरुष होता है, जो स्त्री भेष में नृत्य-संवाद करता है, संवाद में सहायक पात्र को 'लभार'

के नाम से भी अंग के लोग जानते हैं। संवाद गद्य में ही होते हैं, भले ही पद्य की छौंक भी इसमें कहीं-कहीं मिलती है। श्री सच्चिदानंद श्रीस्नेही से प्राप्त बोलबै की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार से हैं—

झाड़ी लेहू केशिया, सम्हारी लेहू मंगिया
से साटी रे लेहू ना, रतनारी रे बिन्दुलिया से साटी
रे लेहू ना।

(अपने केश झाड़ लो, माँग संवार लो, लाल बिन्दी के साथ टिकुली भी साट लो)

बोलवै आरो लोढ़ियारी की तरह अंग जनपद में अन्य कई छोटे-छोटे लोकनाट्य भी प्रचलित हैं जो या तो विवाह के अवसर पर या फिर विशेष पर्व के अवसर पर संपादित होते हैं। ऐसे ही कुछ लघु लोक नाटक एक साथ अंगजनपद के एक विशिष्ट लोकपर्व ‘घांटो-घटेसर’ के अवसर पर संपादित होते हैं। स्मिता शिप्रा ने अपने लेख ‘घांटो-घटेसर’ के अवसर पर खेले जानेवाले ऐसे प्रहसनों की जो सूची प्रस्तुत की है, वे हैं— 1. दही बेचने वाली का प्रहसन, 2. साग बूननेवाली का प्रहसन, 3. साग बेचने वाली का प्रहसन, 4. चीना बूनने वाली का प्रहसन, 5. चूड़ी बेचनेवाली का प्रहसन, 6. विष उतारने वाली का प्रहसन, 7. मेंहदी लगाने वाली का प्रहसन, 8. जंतकुट्टी का प्रहसन।

अंगिका के ये सभी लोकनाट्य स्त्रियों द्वारा ही अभिनीत होते हैं, जैसा कि विवाह के अवसर पर अभिनीत होने वाले नारगी, देवलो और गोड़िन नृत्यप्रधान प्रहसन। स्वांग कोटि के इन लोकनाटकों में नारगी और देवलो सास-बहू के उपालम्भों के लोकनाट्य हैं, जिनमें गीतों की जगह गद्य का प्रयोग मिलता है। और यह भी कि इनके संवाद मौखिक रूप में होने के कारण एकरूप नहीं मिलते। देवलो और नारगी के संवाद अवसरानुकूल स्त्री पात्रों के विवेक के परिणाम होते हैं, नारगी और देवलों में अगर कुछ फर्क है तो यह है कि नारगी-स्वांग में जहाँ-सास-बहू

का संवाद होता है, वहाँ देवलो में सास के द्वारा अज्ञानी बहू को उपालम्भ और उपदेश देने के अभिनय की प्रमुखता। अंगिका में देवलो अज्ञानी और अव्यावहारिक स्त्री के लिए ही प्रयुक्त होता है।

जैसा कि इसका पहले उल्लेख हुआ है— अंगजनपद में रमखेलिया, नारदी, जातरा और नन्ही-बिन्ही— ये चार प्रमुख लोकनाट्य हैं, वैसे तो इस भाषा में जितनी लोकगाथाएँ हैं, उनकी प्रस्तुति में कहीं-न-कहीं अभिनय का भी सहारा लिया ही जाता है, और इस तरह ये लोकगाथाएँ भी लोकनाट्य का रूप धारण कर लेती हैं, पर इन लोकगाथाओं की ऐसी प्रस्तुति को लोकनाट्य की सीमा में रखना उचित नहीं लगता। लोकनाट्य का जो रूप हमें रमखेलिया, नारदी और नन्ही-बिन्ही में मिलता है, यह लोकगाथाओं की प्रस्तुति में नहीं।

‘रमखेलिया’ अंगजनपद में रामलीला का ही लोकनाट्य रूप है, जो प्रचलित रामलीला से बिल्कुल भिन्न है। इस लोकनाट्य में खुले आकाश के रंगमंच पर दो दल होते हैं, जिनके पात्र विभिन्न मुखौटों में होते हैं, लेकिन राम-लक्ष्मण और सीता के चेहरे पर कोई मुखौटा नहीं होता। इस लोकनाट्य के बारे में साहित्यकार त्रिलोकी नाथ ‘दिवाकर’ ने मुझे बताया कि यह लोकनाट्य भागलपुर के नौगछिया प्रमंडल में अब भी बड़े उत्साह के साथ अभिनीत होता है।

‘रमखेलिया’ की तरह ‘नारदी’ जो कृष्ण-लीला या रास की अंगिका लोकनाट्य शैली है, इस जनपद में बहुत लोकप्रिय है। यह आनुष्ठानिक नाटक है, क्योंकि इसका आयोजन श्राद्ध के अवसर पर ही होता है। नारदी पुरुष-पात्र प्रधान लोकनाट्य है, इसमें पुरुष ही राधा का रूप धारण करता है और कृष्ण-राधा संवाद के साथ अभिनय भी चलते रहते हैं। संवाद पूर्णतः गीत प्रधान होते हैं। इसका एक अंश द्रष्टव्य है—
कृष्ण— कहाँ केरी छेकी तोहें गोपी हे गवालिन
कहाँ में दहिया बेचे जाय, गुजरिया हे, कहाँ
में दहिया बेचे जाय

राधा- अरे गोकुल के अहो कृष्ण हो, गोप हे ग्वालिन
मथुरा दहिया बेचै जाय।
कृष्ण- जो तोहें जैभौ हे ग्वालिन दहिया के बेचै
देहो दहिया मोर दान, गुजरिया दे देहो, दहिया
मोर दान
राधा- जो तोहें अहो कृष्ण हो दहिया के भूखल,
आन्हों कदम रो पात
अहो कृष्ण हो, आन्हों कदम के पात।
कृष्ण- कदमों के पात फाटी जैतै ग्वालिन, तोहरे
अँचरा दही खाय
गुजरिया तोहरे अँचरा दही खाय।
राधा- हमरा अँचरा कान्हा हो जूठी रे सखरिया
केना तोहें नारी-अँचरा दही खाय
अहो कृष्ण हो, केना तोहें अँचरा दही खाय।
("री गोपी" तुम कहाँ की हो और तुम कहाँ दही
बेचने जा रही है?"
"हे कृष्ण, मैं तो गोकुल की ग्वालिन हूँ; मथुरा दही
बेचने जा रही हूँ।"
"तुम दही बेचने के लिए जाओगी, इससे बेहतर है
कि तुम मुझे ही दे दो।"
"हे कृष्ण, अगर दही के भूखे हो तो कदम्ब के पात
लाओ, जिस पर दही दे सकूँ।"
"कदम्ब का पात तो दही रखते फट जायेगा। मैं तो
तुम्हारे आँचल पर दही रखकर खाना चाहता हूँ।"
"हे कृष्ण, मेरा आँचल तो जूठा है, तुम आँचल पर
दही रख कैसे खाओगे।")

नारदी की तरह रमखेलिया में भी गीतों के ही संवाद
होते हैं, जैसा कि जातरा में।

कुछ लोगों में यह भ्रान्ति अब भी है कि जातरा
बंगाल की लोक नाट्य-शैली है, जबकि जातरा,
जिसका जन्म धार्मिक-जुलूस से हुआ है, किसी-न-
किसी रूप में सारे देश में प्रचलित है। 'द इंडियन
थियेटर' में E. P. Harwitz ने जातरा को वैदिक युग
से प्रचलित माना है। यह अलग बात है कि बंगला

नाटककार गिरीशचन्द्र घोष ने यात्रा-मंडली के सहयोग
से जिन बंगला नाटकों का सृजन किया, वे बंगाल के
साथ अंग में भी काफी लोकप्रिय हुए। भागलपुर के
चम्पानगर में बंगला जातरा को लोकप्रिय बनाने में
अगर शारदा जातरा पार्टी के विशेष हाथ था, तो
खड़ी बोली मिश्रित अंगिका के जातरा को लोकप्रिय
बनाने में भागलपुर के प्रसिद्ध रंगकर्मी और लेखक
हरिकुंज का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इनकी अपनी
एक जातरा पार्टी ही थी जो ई. 1944 से ई. 1983
तक अत्यधिक सक्रिय रही, इसी तरह वर्तमान के
बाँका जिला में अंगिका-हिन्दी जातरा को अत्यधिक
लोकप्रिय बनाने में दुर्गा ऑपेरा पार्टी की भूमिका विशेष
उल्लेखनीय रही। यह ऑपेरा पार्टी रजौन थाना के
रूपसा ग्राम में केन्द्रित थी, जिसके निर्देशक थे भवेश
चन्द्र दास। रूपसा में जातरा ई. उन्नीस सौ छयालीस-
सैंतालीस से लेकर उन्नीस सौ पचपन तक विधिवत
होता रहा, जो माघी पूर्णिमा में रूपसा के समीपवर्ती
गाँव डुमरामा और सरस्वती पूजा के वसंतोत्सव पर
रूपसा में ही अभिनीत होता था। इस जातरा में सक्रिय
रहे रूपसा ग्राम के ही रंगकर्मी श्री सच्चिनानंद स्नेही
ने जिन अन्य प्रमुख रंगकर्मियों की सूची मुझे दी,
उनमें प्रमुख नाम हैं- रूपसा के ही रुद्रेश्वरी मंडल,
आनन्दी मंडल, गोरे लाल सिन्हा, गंगा नारायण सिन्हा,
सुधीर चक्रवर्ती, अमरेश दास, सुबोध सिन्हा, गोपाल
तिवारी, डुमरामा के कटकी दा, सिंहनान के रमणी
मोहन घोष और रूपसा के ही भोला दास। इसी ग्राम
के शिक्षक नरसिंह प्रसाद सिन्हा जातरा नाटकों को
अभिनय योग्य बनाते थे। इनके द्वारा 'निराश प्रेमी'
जातरा का संक्षिप्त नाट्य-रूप बहुत ही लोकप्रिय हुआ
था। उन्नीस सौ पचपन में श्री दुर्गा ऑपेरा पार्टी के
टूट जाने से अंग जनपद में जातरा लोकनाट्य की
परम्परा ही जैसे थम गई। अगर यह हाल तक जीवित
रहा तो हरिकुंज जी के ही रंगकर्म के कारण, लेकिन
ई. 1984 में इनके निधन के बाद जातरा की साँसों

॥ आलेख ॥

पर जैसे प्रलय का ही पहरा लग गया है।

रूपसा ग्राम में ही भत्तृहरि नाच जो लोकनाट्य का एक रूप है, दशकों अपने उत्कर्ष पर रहा। चैत माह में अब भी चम्पानगर के कर्णगढ़ पर भत्तृहरि नाटक अपने नृत्य, संगीत और अभिनय के साथ पूरे उमंग में जाग उठता है।

और अंगिका 'नन्ही-बिन्ही' लोक नाटक सम्पूर्ण रूप से एक सामाजिक नाटक है। यह भी गीत प्रधान ही है, जो यह 'नन्ही-बिन्ही' दो बहनों की कथा पर आधारित है, बिन्ही नाटक की नायिका है। अईचा इस नाटक का नायक है, जो कम उम्र के बावजूद बिन्ही के सामने विवाह का प्रस्ताव रख देता है। बिन्ही प्रश्न करती है कि विवाह के बाद वह मुझे कहाँ रखेगा, कहाँ ले जायेगा, तब अईचा गीत में उसके उन प्रश्नों का उत्तर देता है। बिन्ही इस घटना को भाभी के समक्ष रखती है और फिर अईचा-भाभी का संवाद भी होता है। नाटक का अंत भाभी के करुण विलाप के साथ होता है, जिसके जीवन में सौतन का प्रवेश हो गया है। 'नन्ही-बिन्ही' का एक अंश प्रस्तुत है, अईचा: लै जैबौ तोरा एकचारी गे छोटकी!

लै जैबौ तोरा एकचारी! साहेबगंज से टिकस कटैबौ

लै जैबौ एकचारी, संग-संग तोरा अइसें डोलैबौ राधा संग बनवारी गे छोटकी!

ले जैबौ तोरा एकचारी!

छिब्वन दरजी से अंगिया सिलैबौ,

बजजबा सें लहंगा-पोटरी,

सज-धज के जब पनघट जैभैं सम्मन ऐतौ सरकारी गे छोटकी!

लै जैबौ तोरा एकचारी!

चैती दुरगा के दरसन करैबौ गरमों जिलेबी खिलैबौ,

बहियाँ के झुलुआ पर झुलुआ झुलैबौ

आरो चभैबौ के तारी गे छोटकी

ले जैबौ तोरा एकचारी!

(छोटकी, मैं तुम्हें एकचारी (स्थान) ले जाऊँगा। साहेबगंज (स्थान) से टिकट कटाऊँगा, तुम्हें एकचारी ले जाऊँगा। मैं तुम्हें अपने संग वैसा ही लिए रहूँगा, जिस तरह कृष्ण अपने संग राधा। छिब्वन दर्जी से तुम्हारी अंगिया (चोली) सिलवाऊँगा और बजाज से लहंगा-पोटरी। और जब तुम सज-धजकर निकलोगी तो सरकार की ओर से सम्मन आयेगा। तुम्हें चैती दुर्गा का दर्शन भी कराऊँगा और जिलेबी भी खिलाऊँगा। (एकचारी में) तुम्हें झूले पर झुलाऊँगा। तुम्हें गन्ना भी चुसाऊँगा।)

यह सही है कि आज अंगिका के लोकनाटक उस प्रमुखता के साथ नहीं अभिनीत होते, लेकिन इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि इन लोकनाटकों ने अंगिका भाषा में लिखे जा रहे नये नाटकों पर अपनी शैली और संरचना का काफी प्रभाव छोड़ा है। अनिरुद्ध प्रसाद विमल कृत 'साँप' और श्रीकांत व्यास का 'समाज सुधार' तथा 'बेजुबान मसीहा' इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

लाल खां दरगाह लेन, सराय
भागलपुर, बिहार - 812002, मो. : 8340650679
ई-मेल : dramendra.ang@gmail.com

अवधी लोकगीतों में स्त्री पक्ष

- डॉ. गीता दूबे

लोकगीत किसी भी भाषा में क्यों न गाए जाते हों, उनका स्त्रियों के साथ बड़ा गहरा रिश्ता होता है। कुछ एक अपवादों को छोड़ दें तो लोकगीत पीढ़ी दर पीढ़ी स्त्री कंठों द्वारा विस्तार पाते हैं और स्त्रियों की स्मृति में सुरक्षित रहते हैं। मैं उस जमाने की बात कर रही हूँ जब स्त्री तो क्या कुछ खास वर्ग के पुरुषों को छोड़कर बाकियों को स्कूल की चौखट तक लांगने का अवसर भी नहीं मिलता था। उस दौर में लोक का तमाम ज्ञान और कलाएँ लोक स्मृति या लोक कंठ में ही सुरक्षित रहती थीं। इन लोकगीतों को गाने वाली अधिकांश स्त्रियों ने न केवल समय-समय पर उनमें अपनी ओर से कुछ कड़ियाँ जोड़ीं बल्कि बदलते जमाने के अनुसार नये तर्ज पर उदाहरणस्वरूप फिल्मी धुनों पर उन गीतों को सफलतापूर्वक पिरोया। उन्हें कलम की सहायता से पन्नों पर उतारने का सलीका तो बहुत बाद में लड़कियों, स्त्रियों ने सीखा अन्यथा उन्हें गा-गा कर अपने अनवरत अभ्यास से इस तरह अपनी जिह्वा पर बसा लिया कि उनके पास हर अवसर पर गाए जाने वाले गीतों का एक बड़ा जखीरा होता था जो उनकी स्मृति या कंठ में सुरक्षित रहता था। इसके पीछे एक वजह तो इन गीतों के प्रति उनका अनुराग हुआ करता था दूसरे गाए जाने की निरंतरता। गाँव के विस्तृत सामूहिक समाज में इन गीतों को गाने, दोहराने और उनसे अपने जीवन को जीवंत करने के अवसरों की कोई कमी नहीं थी। ऐसा नहीं कि गाते-गाते कोई शब्द या कड़ी विस्मृत नहीं हो जाते थे लेकिन या तो समूह की किसी दूसरी स्त्री को वह भूली कड़ी याद आ जाती थी या मुख्य गायिका अपनी त्वरित बुद्धि का परिचय देती हुई इतनी तत्परता से उस भूली कड़ी की पुनर्रचना कर लेती थी कि बहुधा सुनने वालों को कुछ पता ही नहीं चलता था। इस तरह गाँव की ये

स्त्रियाँ गायिका ही नहीं आशुकवि भी हुआ करती थीं और कभी कभार प्रचलित धुनों के आधार पर नये गीतों की रचना भी किया करती थीं। यह बात और है कि इन गंवई लेकिन बुद्धिमती स्त्रियों की रचनात्मकता का ऐतिहासिक मूल्यांकन कहीं नहीं हुआ है लेकिन इससे इनका रचनात्मक अवदान कम नहीं हो जाता। लोकगीतों के संरक्षण का काम भी परवर्ती युग की स्त्रियों ने किया है जो अपनी कापी में उन्हें दर्ज करके खोने या विस्मृत होने से बचा लेती हैं। लेकिन तकलीफ इस बात की है कि वर्तमान पीढ़ी इन गीतों को भुलाकर डीजे के संगीत में मत्त हो रही है। इन गीतों की एक खास बात थी, इनकी सामूहिकता, किसी कार्य या विशेष अवसर पर स्त्रियाँ इन गीतों को गाते समय प्रायः दो समूहों में विभाजित हो जाती थीं। पहला समूह प्रमुख होता है जिसमें सबसे अच्छा गाने वाली गायिका अपनी साथियों के साथ गीत कढ़ाती या उठाती थी अर्थात् गीत की शुरुआत करती थी और दूसरे समूह की स्त्रियाँ उसे पुरवाती थी अर्थात् गीत की पंक्तियों को दोहराती थीं। इससे दोनों ही समूह की स्त्रियों को सांस लेने या आराम करने का अवसर मिल जाता था, जब कढ़ाने वाला समूह गाता तो पुरवाने वाली स्त्रियाँ चुप रहती थीं और जब वे दोहरातीं तो पहले समूह की स्त्रियाँ अपने गले को विश्राम दे पाती थीं। एक साथ कई स्त्रियों के गाने की वजह से एक तो सामूहिकता का बोध होता था दूसरे सब इसमें आनंदपूर्वक शामिल हो जाती थीं। एक समूह के थक जाने पर अन्य स्त्रियाँ स्वेच्छा से यह दायित्व ले लेती थीं। हाँ कुछ स्वनामधन्य सुरीली गायिकाओं को कभी-कभी मनाना भी पड़ता था। मसलन “ए दीदी, ए भौजी, ए चाची... कढ़ावा न... हमलोग पुरवाइब।” समूह में गाने का एक बड़ा कारण रहा होगा कि उस

समय माइक वगैरह तो हुआ नहीं करते थे इसलिए एक साथ कई आवाजें मिलकर दूर तक गूँजती थीं। इसके साथ ही स्त्रियों को सामूहिकता या बहनापे का पाठ भी यहीं मिलता था। उन्हें आसानी से समझ में आता था कि समूह में ही वे सुरक्षित हैं, सफल है, स्वीकार्य हैं। इसलिए स्त्रियों के तकरीबन सभी काम समूह में होते थे, वह चाहे कुएं पर पानी भरने जाना हो, नदी पर नहाना या कपड़े धोना हो, खेतों में साग खोंटना, मटर तोड़ना हो या सुबह शाम खेतों की ओर टहलने जाना। यही वह समय भी होता था जब वे अपना दुख-सुख एक दूसरे से बाँट लेती थीं, रो-गा लेती थीं। सामूहिकता का यह बोध गीतों में भी घुल गया और एक साथ रोने और गाने की कला को इन साधारण सी स्त्रियों ने इतनी असाधारणता से साधा कि साधारण व्यक्ति अचंभित हो जाएगा। अभी तक तो हमने फिल्मों में नायक-नायिकाओं को रोते हुए भी सुर में गाते और गाते-गाते रोते देखा है क्योंकि उनके लिए पार्श्वगायन कोई और करता था लेकिन गाँव जवार की साधारण स्त्रियों ने इस कला को बड़ी सहजता से साध लिया था। जब वे रोती थीं तो उसमें भी लयात्मकता होती थी और जब गाते हुए किसी कारुणिक प्रसंग पर आँखें भर आती थीं तो भी गीत की लय और ताल बिगड़ने नहीं पाती थी बल्कि आवाज की भर्राहट से गीत की कारुणिकता और भी बढ़ जाती है। सिर्फ रोना ही नहीं किसी हास्यपरक गीत को गाते हुए वे बरबस खिलखिला भी पड़ती थीं। गानेवाला जब अपनी कला में रससिक्त होगा तो सुनने वाला स्वयं ही रस में सराबोर हो जाएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्रियों ने गीतों को सीखा, गाया और संजोया ही नहीं उनसे आनंद भी पाया और प्रदान किया।

इन गीतों को गाने वाली स्त्रियों के जीवन के विभिन्न अनुभवों से ये गीत भरे पड़े हैं। इस आलेख में मैंने अवधी अर्थात् अवध प्रांत में गाए जानेवाले लोकगीतों के माध्यम से स्त्री जीवन की विभिन्न अनुभूतियों को समेटने की कोशिश की है। इसका एक कारण यह है

कि मेरी मातृभाषा अवधी है और वर्षों से शहरी परिवेश का हिस्सा होने के बावजूद भाषा से यह रिश्ता अभी भी बरकरार है। दूसरी वजह है कि मैंने बचपन के कई वर्ष गाँव में गुजारे हैं और विभिन्न काज परोजन के समय इन गीतों को गाया है। गाये जानेवाले इन गीतों में से कुछ मेरी स्मृति में सुरक्षित हैं तो कुछ डायरी के पन्नों में सहेज लिए गए हैं। अवधी का प्रारूप भी स्थानानुसार बदलता रहता है। बस्ती या गोंडा में जो अवधी बोली जाती है, वह सुल्तानपुर में पहुँचकर जरा सी बदल जाती है तो जौनपुर पहुँचते हुए जरा और बदल जाती है।

अब अपने मूल विषय पर आती हूँ। स्त्रियों द्वारा गये जानेवाले इन गीतों में स्त्रियों के जीवन के विभिन्न काल खण्डों के साथ ही बहुतेरे भाव चित्र भी बिखरे हुए हैं। मेरा जिन गीतों से व्यक्तिगत रूप से परिचय हुआ उनमें तीन तरह के गीत आते हैं, पहला ऋतु गीत अर्थात् फगुआ, सावन, कजरी आदि, दूसरा धार्मिक गीत अर्थात् भजन और हवन गीत एवं तीसरा संस्कार गीत अर्थात् सोहर (बालक जन्म), जनेऊ गीत, ब्याह के गीत आदि। स्त्रियों द्वारा गाये जानेवाले इन गीतों में स्त्री जीवन का हास-हुलास तो प्रकट हुआ ही है, उसके दुख तकलीफों को भी पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली है। साथ ही उसकी आकांक्षाओं को भी आकाश की उड़ान मिली है।

स्त्री को जन्म से ही सिखाया जाता है कि वह परायी संपत्ति है, उसका जन्म दूसरों के घर को सजाने के लिए हुआ है, मौके बे मौके उसे यह बात कोंच-कोंच कर याद दिलाई जाती है कि अच्छा घर वर ही उसके जीवन का लक्ष्य है। उसी के लिए वह सोलह सोमवार के व्रत करती है और देवताओं की आराधना करती है। फगुआ गाती हुई अनब्याही लड़की के मन में अच्छा ससुराल पाने की आकांक्षा तो है ही वह नैहर की कल्याण कामना से भरी नजर आती है। गीत की कड़ियाँ देखिए—

“उमड़ी घुमड़ी गौरा सिव जी के पूजै

हे हो सिउ बाबा हो
हे हो सिउ बाबा हंसेले ठठाय
महीनवा फागुन के।
नैहरे में मांगे गौरा, भाई से भतीजा
हे हो नयहरे में मांगे गौरा भाई से भतीजा
ससुरे में हो, हे हो ससुरे में सब परिवार
महीनवा फागुन के”

सारी अविवाहित कन्याएँ गौरा अर्थात् पार्वती हैं और वे उसी समर्पण और तन्मयता के साथ शिव की आराधना कर रही हैं जैसे पार्वती ने शिव को प्राप्त करने के लिए की थी। फगुआ गीतों में ननद भौजाई या देवर ननद के बीच की नौक-झोंक की खनक भी सुनाई देती है।

फगुआ के बाद जो ऋतु गीत सबसे ज्यादा गाया जाता है, वह सावन या कजरी है। पुरानी अनुभवी महिलाएँ सावन की लय को साध लेती हैं क्योंकि उसकी धुन थोड़ी कठिन होती है लेकिन नयी उम्र की लड़कियों को तो कजरी प्रिय है। सावन गीतों में भाई-बहन के भावनात्मक संबंधों का सुंदर निदर्शन मिलता है। ससुराल में रहकर पीहर को याद करने वाली स्त्री की मानसिक तड़प भी इनमें मार्मिकता से अभिव्यक्त हुई है। एक सावन का उदाहरण देखिए—

“बाबा झीनी झीनी बुनिया सावन के
बूना पड़े गलि जाये
हरियारी सावन में।
भैया पैया तोरे लगहू बीरन मोरा
पटुका पसार बूना रोका
हरियारी सावन में।
पटुका तो मोरा रेसम के
बूंद पड़े गलि जाय
हरियारी सावन में।
पटुका गले पटुका आय जयहे
बहिन गये बहिनी नाय
हरियारी सावन में।”
हरियाले सावन में बूंदे बरस रही हैं और एक बहन

भाई से कहती है कि पटुका (दुपट्टा या चादर) पसार कर बूंदों को रोक ले। भाई कहता है कि उसका पटुका रेशम का बना है जो पानी से गल जाएगा। बहन बड़े भावपूर्ण तरीके से कहती है कि पटुका गल जाने पर दूसरा पटुका आ जाएगा लेकिन बहन चली जाने पर दूसरी बहन नहीं मिलेगी। भारतीय समाज की मान्यता के अनुसार भाई पर बहन की सुरक्षा का दायित्व होता है और भाई अगर भूल जाए, तो बहन संबंधों की दुहाई देकर उसे उसका कर्तव्य याद दिला देती है।

एक उक्ति प्रसिद्ध है, “काजरिया मिर्जापुर की” अर्थात् मिर्जापुर की कजरी ही लोकप्रिय है लेकिन पूरे अवध प्रान्त में कजरी खूब गाई जाती है। किसी के घर के पिछवाड़े या बगीचे में आम के पेड़ में या किसी के घर के पिछली ओर के लंबे चौड़े बरामदे में लगे लोहे के कुंडे में झूला पड़ जाता है और यह झूला कहीं से खरीदकर नहीं लाया जाता है। घर गृहस्थी के सामानों में ही इसकी गुंजाइश निकल आती है। विवाह के समय जिस पीढ़े पर बैठकर वर-वधू सारी रस्में निभाते हैं, उसका उपयोग प्रायः झूले के रूप में होता है। इसके अलावा कृषि सभ्यता का एक महत्वपूर्ण औजार हेंगा का उपयोग भी झूला झूलने के लिए किया जाता है। दो सिरों पर बैठी लड़कियां पेंग मारती हैं और बीच में बैठी दो-तीन लड़कियां झूले का आनंद उठाती हैं। दो गोल या समूह बन जाते हैं और झूला झूलती हुई लड़कियां, बहुएं झूम झूम कर कजरी गाती हैं। गाँव के सन्नाटे में कजरी की आवाज एक टोले से दूसरे टोले में पहुँच जाती है और लोगबाग अनुमान लगाते हैं कि फलाँ की बिटिया या अमुक की बहुरिया गा रही है। बहुएं प्रायः रात के अंधेरे में घर का कामकाज निपटा कर झूले का आनंद उठाती हैं और लड़कियों को तो जैसे ही अवसर मिला, झूले पर सवार हो जाती हैं और कजरी के बोल गूँजने लगते हैं। इन गीतों में अविवाहित लड़कियों की आकांक्षाओं को तो अभिव्यक्ति मिलती ही है। ससुराल में कष्ट से जीवन गुजारती बहुओं का दुख भी शामिल हो जाता है। नयी दुल्हनों

की फरमाइशों का सरेआम इजहार भी इन गीतों के बहाने खूब होता है। एक स्त्री अपने पति से कहती है—

“सैया मेंहदी मंगवा दा मोतीझील से
जाके साइकिल से नाम...
मेंहदी चुन चुन के मंगवयहो
अपनी अम्मा से पिसवयहो
हमरे हाथों में लगवयहो
काटाकीन से
जाके साइकिल से नाय...”

सावन में तरह-तरह के तीज त्योहार पड़ते हैं और बहू-बेटियाँ खूब उत्साह से मेंहदी लगाती हैं। उस जमाने में कोन वाली मेंहदी तो बाजारों में मिलती नहीं थी। लड़कियाँ पता करती थीं कि मेंहदी का झाड़ कहाँ है, चुन चुन कर पत्तियाँ तोड़ी जाती थीं, सिल पर खूब महीन पीसी जाती थीं और खूब पतली या नोंकीली सींक से लगाई जाती थीं लेकिन नवविवाहिता तो लड़कियों के झुंड में शामिल होकर मेंहदी चुनने जा नहीं सकती थीं इसीलिए वह अपने नवेले पति से आग्रह करती है कि वह मोतीझील से जाकर मेंहदी लाए, जाने के लिए दहेज में मिली साइकिल तो है ही, लाए ही नहीं बल्कि अपनी अम्मा, चाची या भाभी से पिसवाकर उसके हाथों में महीन काँटे की सहायता से लगवाए तभी तो उसके हाथों में मेंहदी का रंग चढ़ेगा। इसी तरह हाथों में सावन की हरियाली में हरी-हरी चूड़ियाँ पहनने की फरमाइश भी इन गीतों में मुखर हो उठती है—

“सैया चूड़िला पहिना दा बांह उधार बाय
सावन की बहार बाय नाय...”

एक ओर इस तरह का मनुहार भरा दृश्य है तो दूसरी ओर लड़की के ससुराल लौटने पर उसके दमकते रंग के फीके पड़ जाने की पृष्ठभूमि में ससुराल में मिलने वाली यातना का जिक्र भी है—

“जनिया तोर रंग बैजनिया कौने गुन साँवर भयलू नाय
नयहरा में रहली पापा की दुलारी
ससुरे सुनी ससुर जी के बोलिया

यहै गुने साँवर भयली नाय।”

बहू कहती है कि वह नैहर में अपने पिता की दुलारी थी लेकिन ससुराल में ससुर जी की बोली अर्थात् ताना सुनना पड़ता है और इसी दुख के कारण उसका रंग साँवला पड़ गया है। और इन दुखों की फेहरिस्त बहुत लंबी है जिनका बूंद-बूंद लोकगीतों की कड़ियों में समा गया है, जिनके कारण इनकी कारुणिकता हृदय को छू लेती है। इन्हीं में से एक दुख है, गोद न भर पाने का दुख। भारतीय समाज में किसी नववधू को “दूधो नहाने और पूतों फलने” का आशीर्वाद दिया जाता है लेकिन अगर वह अपेक्षित समय के अंदर पुत्रवती या संतानवती न हुई तो ससुराल से तो निकाल ही दिया जाता है, उसकी माँ भी उसे शरण नहीं देती। एक सोहर देखिए—

“ससुरे से रूठल तिरियवा तो नयहर ठाठे जायेली हो
मैया खोल देतू चंदन केवड़िया तो घरा भीतर आइत हो
भीतरा से निसरेली मैया तो दुख सुख पूछे ली हो
बेटी कवन संकट तोहरा पड़ले
हमरे घरा आवेली हो
सासु मोरी कहेली बझिनिया, ननद ब्रिजबासिन हो
मैया जेकी मैं बारी बिहड़िया ते घरा से निसारेले हो।
लौट जाहु ए बेटी लौट जाहु, आपन घरे जाहु हो
बेटी देखि लेइहे हमरी पतोहिया,
उहोउ बाझिन होइ जयहें हो।”

एक स्त्री को संतान न होने कारण घर से निकाल दिया जाता है और वह शरण माँगने के लिए मायके पहुँचकर माँ से दरवाजा खोलने का अनुरोध करती है, माँ उससे दुख-सुख पूछती हुई आने का कारण पूछती है। बेटी कहती है कि उसकी सास उसे बाझिन कहती है, ननद बृजबासिन और जिसके साथ विवाह हुआ था उन्होंने घर से निकाल दिया है। ईश्वर का स्थानापन्न मानी जाने वाली माँ बेटी को शरण देने के स्थान पर उसे दरवाजे से ही यह कहकर विदा कर देती है कि अगर उनकी बहू उसे देख लेगी तो वह भी बाझिन हो जाएगी। अंततः वह जंगल में जाकर क्रमशः

बाधिन और नागिन से खुद को खा और डंस लेने का आग्रह करती है लेकिन वे भी बाझिन हो जाने के डर से उसका आग्रह अस्वीकार कर देती हैं। अंततः वह गंगा मैया की शरण में जाकर उनसे आश्रय माँगती है— “मैया एक जे लहरिया हमें देत्यू तो मझधर बूड़ि मरित” माता गंगा उसकी तकलीफ जानकर उसे वरदान देती हैं—

“लौउट जाहु ए बेटी, लौउट जाहु, आपन घरे जाहु हो, बेटी आठ महीना नव बीतत, होरिल होइये सुंदर, ललन होइहें सुंदर हो।”

अर्थात् वह उस प्रताड़ित और दुखियारी स्त्री को पुत्रवती होने का वरदान देती हैं। यह लोकगीत पारंपरिक लोक साहित्य की तरह सुखांत भले है लेकिन स्त्री की सामाजिक स्थिति को इसके द्वारा समझा जा सकता है। संतान या पुत्र न होने का सारा दोष उसे ही झेलना पड़ता है और न जाने कितनी स्त्रियाँ “कौआहंकनी” की स्थिति को प्राप्त होती हैं। आज के तथाकथित आधुनिक समाज में भी यह स्थिति बहुत कुछ जस की तस है। साधारण स्त्रियों की तो बात ही छोड़िये, रानियां तक इसकी अपवाद नहीं हैं। आखिरकार कौआ हंकनी भी कभी रानी ही थी। कौशल्या भी रानी ही थी जिन्होंने राम को पाकर अपना बांझपान दूर किया था। इस सोहर में उसी स्थिति का वर्णन है—

“मचियाहि बैठी रानी कोसिलिया तो राजा से अरज करें हो

राजा थोरे-थोरे दरब लुटावा, सुनीला रामा बन जयहें हो

बोलिया तू बोलेलू कुबोलिया, बोलहि नाहि जनलेउ हो

रानी छुटि गै बझिनिया के नाव, भलेहिं रामा बन जयहें हो।”

राम के जन्मोत्सव पर राजा दशरथ दान कर रहे हैं, एक साधारण गृहणी की तरह रानी कौशल्या राजा से निवेदन करती हैं कि राजा थोड़ा सोना चाँदी लुटाओ, सुनने में आया है कि राम वन चले जाएंगे,

(धन बचा रहेगा तो बुढ़ापे में काम आएगा) इस पर राजा तिरस्कार के स्वर में कहते हैं कि कैसी गलत बात करती हो रानी, तुम्हारे ऊपर से बाझिन होने का अभिशाप हट गया, भले ही राम वन जाएं।

यह लोकगीत एक ओर तो राजा और रानी को उनकी राजशाही पृष्ठभूमि से हटाकर लोक के धरातल पर उतार लाता है जिसमें रानी साधारण गृहणी के रूप में भविष्य की चिंता से घिरी नजर आती हैं दूसरी ओर स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को गहनता से रेखांकित करता है। लोकप्रचलित कहानियों के अनुसार राजा दशरथ और कौशल्या की शांता नामक एक पुत्री भी थी लेकिन इसके बावजूद बाझिन होने का कलंक रानी को ही झेलना पड़ता है, राजा की अक्षमता को लेकर कोई शब्द नहीं मिलता। यह तो भला हो विज्ञान का जिसने बहुत से भ्रमों का निराकरण किया।

अब सोहर जैसे गीत भी पुत्र जन्म पर ही गाए जाते थे। कन्या के जन्म पर सोहर गाने की कोई परंपरा नहीं मिलती। स्त्रियों के प्रति पक्षपात लोक और वेद दोनों स्थानों पर मिलता है। लेकिन इसके साथ ही प्रतिवाद का कठिन स्वर भी इनमें मिलता है। रामकथा की सीता भले ही राम के लिए कटु शब्दों का प्रयोग नहीं करती लेकिन लोक मानस की सीता राम को खरी खोटी सुनाने से नहीं चूकती। उसका क्षोभ ही उसका प्रतिवाद बन जाता है।

“काह कहौं मैं गुरु जीरे लागे दुःख सुनत लागे दुःख कहत,

गुरु इतनी सांसत रामा डारैरे आवैं न सपन्यो की सुधि करें रामा वही दिनवांरे करें ब्याह दिना जौने की,

रामा अस्सी मन केरा धनुसरे उठावैं निहुरी त, सुधि करें रामा वही दिनवांरे लायें गौना दिना जौने की,

रामा फुल्वन सेजिया सजावेंरे स्वावै के लई मा हिरदय,

सुधि करें रामा वही दिनवांरे चले बन दिना जौने

की,

रामा हमका लिहिन संग साथरे छोड़ें नही साथ,
सवना भादौना क रतियारे से गरभ गरुए मैं,
गुरु ऊई रामा घर से निकारें ? रे चितवहि नहीं
लौटि,

गुरु जी का कहना न मेटबेरे चलबे दस पैग,
गुरु फाटै जो धरती समाबेरे जाबै नहीं अजोध्या,
गुरु फेर हियें चली औबेरे। देखबै नहीं राम,”
राम के साथ बिताए सुखभरे दिनों को याद करती
हुई सीता उनकी निर्दयता के लिए उन्हें फटकारती
हुई किसी भी स्थिति में अयोध्या लौटने से इनकार
कर देती है।

राम सीता के अलावा कृष्ण और राधा के प्रतीकों
का प्रयोग भी लोकगीतों में खूब हुआ है। इनमें से कुछ
में राधा कृष्ण के प्रणय के चित्र मिलते हैं जिनमें राधा
की व्याकुलता के साथ सामाजिक दबाव का संकेत
भी मिलता है जिसमें इस तरह के प्रणय संबंधों के
लिए समय निकालना मुश्किल होता है। साथ ही राधा
और रुक्मिणी के बीच के सौतिया डाह का वर्णन भी
हुआ है और इस डाह को पनपाने, बढ़ाने में कृष्ण की
भूमिका भी कम नहीं है। यह बात और है कि कृष्ण
की पोल खुलते ही राधा और रुक्मिणी के बीच की
दूरियां समाप्त हो जाती हैं और दोनों में बहनापा
स्थापित हो जाता है। सोहर के साथ एक और गीत
गाया जाता है, उलारा जिसमें बालक के जन्म के बाद
के संस्कारों का उल्लेख तो होता ही है, ननदों की
माँग का जिक्र भी होता है। बालक होने पर सास
पिपली पीसती है, ननद काजल लगाती है और देवर
बाँसुरी बजाता है लेकिन ललना के जन्म पर ननद की
माँग कभी-कभी भाभी को बेचैन कर देती है और वह
उलाहना देती हुई गा उठती है—

“ऐसी हठीली ननदिया कंगने पे मचल गयी...”

भाभी सब कुछ देने का वायदा करती है लेकिन
ननद की नजर तो भाभी के जड़ाऊ कंगन पर ही है।
अंततः भाभी कंगन खोलकर आँगन में फेंककर कहती

है—

“लय ले लय ले हरामजादी कंगना, कंगने में मचल
गयी।”

एक प्रमुख संस्कार है विवाह और इसके गीत बेहद
करुण हैं जिसमें बेटियों के विवाह के कारण अपनी
जमीन से दूसरी जगह जाने का दुख पूरी मार्मिकता
से व्यक्त होता है। एक गीत देखिए—

“मँगिया के सेनुरा महंग भयले बाबा
पियरी भयल अनमोल रे
एही रे सेनुरवा के कारण हो बाबा
छोड़लूँ मैं आपन देस रे”

माँग का सिंदूर और विवाह की पीली धोती बहुत
महंगी हो गई है। इनके कारण मुझे अपना देस छोड़कर
अन्यत्र जाना पड़ रहा है। इस वैवाहिक गीत को गाते
और सुनते हुए सबकी आँखें नम हो जाती हैं।

इसी तरह विदाई के अवसर पर गाए जानेवाले
गीतों में वधू का हृदय उमड़ आता है। विदा होने वाली
दुल्हन कहती है—

“धीरे चले रघुवर मैं हारी
एक तो छुटल हमरे बाबा की महलिया
दूजे छुटल महतारी
धीरे चलो रघुवर मैं हारी”

यहाँ साधारण स्त्री भी जनक दुलारी सीता बन
जाती है और पिता का साधारण सा घर भी महल में
बदल जाता है। वधू धीरे-धीरे कदमों से अपने गाँव
घर को निहारती हुई, आँखों में कैद करती हुई जाना
चाहती है क्योंकि न जाने कब उसे दोबारा इस जगह
आने का अवसर मिले इसलिए अपने पति से धीरे
चलने का आग्रह करती है।

विवाह के अवसर पर अवधी भाषा में खूब शहाना
या बन्ना गाया जाता है जिसमें हास-परिहास का स्वर
प्रमुख होता है। भावी वर वधू के लिए बन्ना बन्नी शब्द
का प्रयोग होता है और इन गीतों में नोंक झोंक,
छींटाकशी के अलावा दूल्हा-दुल्हन के सपनों और
आकांक्षाओं का वर्णन भी होता है। भाभियाँ अपनी

ननद को छेड़ती हुई कहती हैं—

“द्वारे खड़ा पटवारी ननद तुझे ले जाएगा
अब तो छोड़ो बन्नी बागों में आना जाना
छोड़ दो मलिया से यारी सजन तुझे ले जाएगा।”

वर और वधूपक्ष की स्त्रियों में खूब उल्लास होता है और दोनों भविष्य की संभावनाओं को लेकर हास परिहास में डूब जाती हैं। वर पक्ष की स्त्रियाँ होने वाली दुल्हन को लेकर आशंकाओं की झड़ी लगा देती हैं—

“मेरा बन्ना है श्याम सलोना, न जाने बन्नी कैसी मिलेगी..

क्या मालूम बन्नी काली मिलेगी
पावडर की रोज जरूरत पड़ेगी
न जाने बन्नी कैसी मिलेगी।”

आज भी स्त्रियों के लिए रंग रूप की कसौटी ही पहली कसौटी मानी जाती थी लेकिन एक समय जब लड़की देखने-दिखाने का रिवाज ही नहीं था तब स्त्रियों को रंग रूप के आधार पर नकारा नहीं जाता था। हाँ उन्हें उपेक्षा जरूर झेलनी पड़ती थी।

भारतीय स्त्रियों का पूरा जीवन घर-परिवार के इर्द-गिर्द घूमता रहता था। विवाह का रिश्ता मात्र पति से नहीं पूरे परिवार से जुड़ता था इसलिए पति के अलावा परिवार के प्रति उसकी जिम्मेदारियाँ इतनी ज्यादा होती थीं कि पति जब परदेश कमाने जाता था तो पत्नी को घरवालों की सुरक्षा में उसकी देखभाल के लिए छोड़ जाता था। वह पति की प्रतीक्षा में सेवा की मूर्ति बनी दिन गुजार देती थी। नागमती वियोग खंड में रानी की व्याकुलता का जो वर्णन हुआ है, उसकी पूरी पृष्ठभूमि में अवध की गृहणियों का अश्रुजल मिला हुआ है। भले ही झुलनिया का झटका खाकर बलम दिल्ली-कलकत्ता या बंबई कमाने के लिए जाते रहे लेकिन उस झुलनिया की स्वामिनी तो झुलनी संदूक के हवाले करके, विरह की अग्नि में जलती हुई भी, अपने आँसुओं को पलकों में कैद करके प्राणपण से अपना दायित्व निर्वाह में जुटी रहती थी। उसकी सारी व्याकुलता और व्यथा इन लोकगीतों में समा जाती है

और इन्हीं को गाकर वह अपने मन का भार हल्का कर लेती है। विभिन्न अवसरों पर गाये जानेवाले गीतों में उनकी व्यथा फूट पड़ती है। नकटा या झूमर का एक उदाहरण देखिए जिसमें विरहणी पत्नी उस रेल को अभिशाप देती है जो उसके पति को उससे दूर लिए जा रही है—

“उ रेलिया बैरिन पिया को लिए जाए रे
जेहि रे सड़िकिया से मोर पिया जैहें,
उ पनिआ बरसे सड़क बहि जाय रे
उ रेलिया बैरिन...
जेहि रे सहरवा में मोर पिया जयहैं,
उ बिजली गिर जाय, सहर जरि जाय रे
जेहि रे सहेबवा के मोर पियार नौकर
उ नगवा डंस ले साहब मरि जाय रे।”

बैरिन रेलगाड़ी पिया को लिए जा रही है, जिस सड़क से प्रिय जा रहा है, वह पानी बरसने से बह जाए, जिस शहर में जा रहा है, वह बिजली गिरने से जल जाए और जिस साहब का वह नौकर है, वह नाग के डंसने से मर जाए। अद्भुत कामना है ताकि पति का परदेश जाना टल जाए, उसका संग-साथ बना रहे।

पति फिर भी परदेश जाकर नौकरी की घानी में जुट जाता है और पत्नी बदलते मौसम के साथ उसका इंतजार करती हुई व्यथा पूरित स्वर में गा उठती है—

“बदरिया बरसे श्याम नहीं आए
पहली बदरिया बगियवा में बरिसे
मलिनिया तरिसे श्याम नहीं आए...”

इसी तरह दूसरी-तीसरी बदली क्रमशः कुएं पर और महल में बरसती है और महरिन तथा रानी तरसती रह जाती हैं। विरह की काली स्याही से हर स्त्री की किस्मत लिखी गई है, वह दासी हो या रानी। संभवतः इसी कारण जायसी ने पद्मावत में एक रानी के विरह का वर्णन करते हुए उसे साधारण स्त्री की तरह कलपते हुए दिखाया है।

सूरदास के पलकांतर वियोग की अवधारणा भी

इन लोकगीतों में मिलती है, नायिका क्षण भर के लिए अपने पति को पास न देखकर व्याकुलता से भर कर कजरी की धुन पर कहती है—

“हरे रामा सैया कंवल के फूल
कहाँ छिपे गयला रे हारि
बागो में दूँदू, बगयचे में दूँदू
हरे रामा दूँदू नेबुलवा झारी
कहाँ छिप गयला रे हारि।”

इस तरह वह कभी घड़े में पति को ढूँढती है तो कभी तकिए और चादर में लेकिन वह नहीं मिलते। वैवाहिक जीवन की एक आशंका का कारण सौत भी होती है। हिन्दू विवाह कानून तो बहुत बाद में बना लेकिन हिंदुओं में भी कई कारणों से बहु विवाह होते थे। विवाहेतर संबंध भी आम ही थे इसी कारण पत्नियों का आशंकित होना स्वाभाविक था। उलाहने के स्वर में वह गा उठती थी—

“मैं तो तेरे गले का हार राजा क्यों लाए सौतिनिया
जो मैं होती काली-कलूटी तो लाते सौतिनिया
मेरे गोरे-गोरे गाल राजा क्यों लाए सौतिनिया।”
इसी के साथ सास-ननद द्वारा सताए जाने का डर भी कम नहीं होता था।

“हमरी गुलाबी चुनरियां
हमका लागी नजरिया
सासु हमरी जनम की बैरिन
हमसे करावें रसोइया
हमरी जर गै चुनरियाँ”
बाद में आधुनिक बहुओं की भाषा ही नहीं तेवर भी बदला और वह चेतावनी भरे स्वर में गाने लगीं

“गाँव किनारे बनी सड़क मैं नया कार चलवा दूंगी
जो सासु जी नीके रहियो
पलंग पे भोजन करा दूंगी
जो सासु जी लड़ियो भिड़ियो
कौरन को तरसा दूंगी
गाँव किनारे बनी सड़क...”
इसी तरह वह ननद को नैहर के लिए तरसा देती

है तो देवर से घास तक छिलवा देने की बात करती है। कारण एक ही है कि उसे ससुराल में सम्मान मिले, सब उसके साथ अच्छा व्यवहार करे। आखिरकार एकतरफा अच्छाई कब तक काम आएगी, जब उससे काम न चले तो तेवर तीखे करने ही पड़ते हैं।

ऐसे ही तीखे तेवर या चुभने वाले मजाक द्वारपूजा या ज्योनार गीतों में देखने को मिलते हैं। बारात द्वार पर आती है तो दूल्हे और बरातियों का स्वागत महिलाएँ इस तरह करती हैं—

“राउर सिरवा निखिला ए दूल्हे।
मउरा नाहि देखिला ए दूल्हे
आपने अम्मा से कहता ना ए दूल्हे
मलिया भतरा करतीन ए दूल्हे”

दूल्हे ने कितना भी सुंदर मौर, जोड़ा जामा या जूता क्यों न पहन रखा हो, वधूपक्ष की मजाकिया स्त्रियों को कुछ नजर नहीं आता है और वे उनमें कमियाँ निकालती हुई वर की माँ, बहन, भाभी आदि को मीठी-तीखी गालियों से नवाजती हैं। प्रश्न यह है कि स्त्री होकर दूसरी स्त्रियों को खरी-खोटी सुनाकर, भेदी गालियाँ देकर या फूहड़ मजाक करके उन्हें क्या हासिल होता है। इसका एक जवाब तो यह हो सकता है कि रोजमर्रा के जीवन में शील और मर्यादा की चादर ओढ़े-ओढ़े वे इतना थक जाती हैं कि घूँघट की ओर से अपने मन की तमाम कुंठाओं या चुलबुलाहट को इन गीतों में उड़ेल देती हैं। इसे मानसिक कैथार्सिस भी कहा जा सकता है। जिस तरह पुरुष आपसी बातचीत में यहाँ तक कि सगे भाई झगड़े में एक दूसरे की माँओं बहनों को गालियाँ देते नहीं हिचकते ठीक उसी तरह वधूपक्ष की स्त्रियाँ वरपक्ष की स्त्रियों पर गालियों की बंदूक तानती हैं। ऐसे गीतों को गारी कहा जाता है। ऐसे गीतों की बस एक हल्की सी झलक काफी होगी—

“समधी तोहरी बहिनिया
देस विदेस गयी रे गयी
बस्ती बजरिया में देख्यो

॥ आलेख ॥

बखिरा झिलिया में देख्यो
लट छितराय पड़ी रे पड़ी।”

कहने का अर्थ है, समधी तुम्हारी बहन मर्यादा
रहित होकर देश-विदेश घूमती रहती है, जहाँ तहाँ
पड़ी पाई जाती है।

कुछ गीत इतने हास-परिहास से भरे होते हैं कि
सुनने वाले बराती बरबस मुस्करा उठते हैं।

“अइसन बराती के देखे लकालक जिया होय
धकाधक

केहू चार आँख केहू के अखिये नाहि

जेकरे आँख नाहि, ताके टकाटक जिया होय
धकाधक”

कैसे अद्भुत बराती हैं जिन्हें देखकर दिल की
धड़कनें बढ़ जाती हैं। किसी की चार आँखें हैं तो
किसी की आँख ही नहीं है और जिनकी आँखें ही नहीं
हैं, वे टकटकी लगाकर देख रहे हैं। अद्भुत दृश्य है।

वैसे इन गीतों का शिष्ट नाम ज्योनार गीत है। इन
गीतों में वर के ससुराल आने, भोजन करने, नेग पाने
आदि का सुंदर वर्णन होता है। राम-सीता के एक
साथ ससुराल आने का एक गीत देखिए जिसमें स्त्री
और पुरुष के बीच का पार्थक्य स्पष्टतः मुखरित हुआ
है—

“सीता पाटी संवारे

रामा संवारे आपन पाग जी

सीता चली नैयहरवा

रामा चलेले ससुराल जी

सीता भौजी के भेंटे

रामा मिलेले सग सार जी

सीता ज्योना बनावें

रामा चलेने ज्योनार जी

सीता बेनिया डोलावें

रामा मूँछे मुस्काय जी।”

अवधी लोकगीतों को गाती हुई स्त्रियों और इन
गीतों की कड़ी-कड़ी में सिमटी, समाई स्त्रियों को
लेकर जितना लिखा जाए कम है। मैंने थोड़े से
उदाहरणों द्वारा अवधी गीतों में अभिव्यक्त स्त्री जीवन
को समेटने का प्रयास भर किया है। बहुत से गीत छूट
गये हैं जो संभवतः किसी और आलेख में जगह पाएंगे।
इन गीतों को सहेजने और संरक्षित करने का दायित्व
हम सबका है। अपसंस्कृति की आँधी और बजारवाद
की भीड़ में इन्हें खोने से बचाना भी जरूरी है। यह
तभी होगा जब नयी पीढ़ी इन्हें सीखेगी, गायेगी और
अगली पीढ़ी तक पहुँचाएगी।

पूजा अपार्टमेंट, फ्लैट-ए3, द्वितीय तल,
589/1, प्रिंस गुलाम हुसैन साह रोड, जादवपुर, कोलकाता - 700 032
मो. : 9883224359

अवधी लोक गीतों का संक्षिप्त अवलोकन

- डॉ. कल्पना दीक्षित

अवधी भाषा की साहित्यिक समृद्धि में रामचरितमानस, पद्मावत, अखरावट आदि काव्यों की केंद्रीय भूमिका है। साधारण जन की इसी बानी में सरस गीतों की मौखिक परंपरा रही है। जीवनयात्रा के प्रत्येक पड़ाव को 'गाते हुए जीने में ही' अस्तित्व की सफलता है। गीतों के लय में तरंगित अवधी संस्कृति की मौलिक पहचान सोहर, नकटा, उलारा, फगुआ, चौमासा, बारहमासा, जंतसार आदि में समाई है। सोलह संस्कारों के विविध गीतों में जीवन की महनीयता का बखान निहित रहता है। साथ ही साधारण जीवनचर्या में गाते-गुनगुनाते हुए जीने की कला का सौंदर्य है। भोर के भजन जीवन को अनुशासन देते हैं। गृहस्थी की जटिलता, रिश्तों की चुहल गीतों से अभिव्यक्त होकर मन को निःकलुषित रखती है। वैवाहिक उत्सव में महीनों से मंगलगीत आरम्भ हो जाते हैं। सभी औरतें इकट्ठी होकर ढोलक की थाप पर पुरखों को न्यौतती हैं। इसी में नई पीढ़ी पुरखों के नाम से परिचित होती है। श्रम करते हुए गीत गाने से थकान तिरोहित रहती है और उत्साह बढ़ता रहता है। बाज़ारीकरण से पहले और मशीनी सुविधाओं के अभाव में कार्यक्रम की तैयारी महीनों पहले शुरू हो जाती थी। नियमित दिनचर्या को कम समय में निपटाकर महिलाएँ अवसर विशेष के निमित्त धान कूटने, गेहूँ पीसने में जुटती थीं। एक तरफ ढेंका से धान कूटा जाता, जिसमें एक स्त्री पैर से ढेंका चलाती, दूसरी स्त्री बड़ी ही सावधानी से धान की ढेरी को हाथ से चलाती रहती। ढेका धान पर वार करता, छिलके उतरते रहते और धान को निरंतर चलाते हुए हाथों को उसके प्रहार से बचाने के लिए सजग रहना पड़ता। ऐसे ही जांते में ऊपर से बराबर अनाज डालते हुए आरी-बगल से पिसकर गिरे पिसान को सहेजते हुए पूरे जांगर से जांता चलाया जाता है। पखुरा की पीर सालने न पाए, पसीने न

उतराए इसीलिए गीत गाते हुए, हँसी-ठिठोली करते हुए मेहनत करते रहना सहज साध्य बन जाता है। वैवाहिक अवसर पर तेलवान, भत्तवान से लेकर बदनेवार (बंदनवार) सेरवाने तक की रीतियां गीतों में उल्लसित रहती हैं। 'बारात विदा करने के गीत हों या बारातियों से स्वागत की गारी (दुआरेक चार)' सबमें गहरे मनोवैज्ञानिक रहस्य हैं। बारात आने के उत्साह में स्वागत हेतु शीघ्रता से सबको काम में जुट जाने के लिए प्रेरित करते हुए गीत के बोल हैं—

हाली-हाली खोरिया बहारौ हे कवन रामा तोहरे आवत हैं दुलरु दमाद।

विवाह में सामाजिक उच्चता दर्शाने के प्रयास में बहुत छानबीन करके, देख-परखकर, पसंद करके रिश्ता तय होता है। बर बाराती खूब सज-संवरकर आता है। सुन्दर दिखने की होड़ रहती है। ऐसे में कन्यापक्ष की औरतें गीत गाती हैं। स्वागत के समय, मांगलिक मंत्रोच्चार के बीच बाराती-दुलहा-बहन को तरह-तरह की गालियों में गीतों में उतार लिया जाता है। माँ-समधी को संबोधित करते हुए तरह-तरह से जोड़कर दी गई गालियां अश्लीलता से परे होती हैं। मुख्य भूमिका निभाने वाले पंडित-समधी-दूल्हा-सहिबाला को गालियों से कोई फ़रक नहीं पड़ता, वे अपनी भूमिका के प्रति निष्ठा बनाए रखते हैं। बारातियों में से कुछ नाचने में व्यस्त रहते हैं, कुछ शांत भाव से रीति रश्म देखते हैं। और कुछ बाराती गालियों को सुनकर भरपूर मज़े लेते हैं।

बरतिहवै यक्कौ मने कै नाहीं।

महिलाओं के लिए कोई भी बाराती मनभावन नहीं है। सबमें कोई न कोई शारीरिक खामी है जिसका कारण उसकी माँ ही है। विविध रीतियों में कुछ कमी बताते हुए गीतों के माध्यम से गालियां देना अवधी संस्कृति की महिलाओं का चातुर्य है। गालियां गाते

हुए श्रोताओं के मन को डगमगाने का प्रयास करना एक मीठी चुहल है। बातों के लपेटे में कौन आ जाता है और किसे कोई फ़रक नहीं पड़ता यह सब मनोवैज्ञानिक परीक्षण गीतों के माध्यम से सहजतापूर्वक होता रहता है। जमीन पर पंक्तिबद्ध होकर भोजन करते हुए बारातियों के साथ ही भोजन परोसने वाले भी गालियों के लपेटे में आते हैं। गालियां मंगलोत्सव में असह्य न होकर सहजता से श्रवणीय बनी रहती हैं।

निहुरे-निहुरे परसैं जनक जी धोतिया मड़ल होइ जाई जी वाह जी।

विवाह संपन्न होने के उद्घोष माड़व हिलाई करके होता है। वरपक्ष के वरिष्ठजन आँगन में गड़े मंडप को हिलाकर उसकी पूर्णता सिद्ध कर देते हैं। आँगन के चारों ओर खिड़की दरवाजों पर कन्यापक्ष की वरिष्ठ महिलाएं सजी हुई थाली हाथ में लिए खड़ी रहती हैं। इस तरह से समधी मिलन आयोजित होता है। संबंधों की बारीकी गीतों में छलकती है। समधी को गालियों के साथ उपहार आदि देकर विदा किया जाता है। वे सबकुछ मुस्कराते हुए स्वीकार करते हैं। बेटी की विदाई के समय माँ की भाववत्सलता में आग्रह है कि बेटी रोज ही चली आना मायके, जबकि पिता का कहना है कि छह महीने में एक बार चली आना, भाई कहते हैं किसी उत्सव आदि में अपनी भूमिका निभाने जरूर आना और भाभी कहती हैं उत्सव में भी क्या जरूरत है, तुम्हारे बिना भी सब अच्छे से बीतेगा।

माई कहैं बेटी रोजै आवौ,

बाबू कहैं छह मास

भईया कहैं बहिनी काजपरोजे-

भउजी कहैं क्यस काज

ननद-भउजाई के रिश्तों की नोंक-झोंक विदाई के कारुणिक गीत में भी अवलोकनीय है। इसी गीत के अगले भाव में ननद भउजाई के तीखे बोल से प्रभावित न होकर उनकी गहन महत्ता पर विचार करती है। यहीं बालिका प्रौढ़ बन जाती है। ननद सोचती है कि माँ का दिया हुआ साड़ी-लहंगा पुराना होकर फट जाएगा और पिता का दिया हुआ रुपिया भी खर्च हो

जाएगा, भाई के दिए हुए हाथी वर्तमान के अनुकूल (गाड़ी-घोड़े/बाईक का उपयोग) हमारे लिए न के बराबर ही है, लेकिन भाभी का दिया हुआ सुहाग ही मेरा सौभाग्य है वही सदैव शोभित रहे बस। यह सोचते हुए विदा होती कन्या वैमनस्य रखने वाली भाभी के प्रति आभारी रहती है। इसी आभार-भावना से आँचल के चावल को पीछे फेंकती हुई, आशीष बरसाती हुई परदेस के लिए सदा के लिए पलायन करती है।

भईया के अंगना बरसे अन-धन-सोनवा, लागे लगेसर गाय।

विदाई के अवसर पर विप्रलम्भ कारुणिक होता है। माँ के मन की कसक में अंतस से कुछ कट-छिलकर अलग हो रहा होता है। रीतियों के सामने विवश नैसर्गिक लगाव की पीर गीत के इस बोल में दर्शनीय है-

जौ मैं जनतिंव धिया कोखी अइहैं रामा

खातिंव महरवा कै झार।

महुरे के झारे धिया मरि जातीं

अस धिया सतरु न होंय

माँ महसूस करती है कि पता होता कि बेटी जन्मेगी तो जहर की थोड़ी-सी मात्रा खा लेती जिसके प्रभाव से गर्भ में ही बेटी मर गई होती और आज का दर्द सामने आता ही नहीं। दुश्मनों को भी बेटी न हो जिससे इतनी गहरी पीर से मुक्तता बनी रहे। ध्यान रहे यहाँ बेटी के लिए ऐसा 'निषेध' बेटे की चाहना या दहेज की समस्या नहीं अपितु सामाजिक नियमावली में अनुशासित मन की करुण पीर है।

सत्य नारायण की कथा में हवन के गीतों में संवाद सूक्त है। गीत गाती महिलाएं संवाद के माध्यम से कर्मकाण्ड की महत्ता का विस्तार बखानती हैं-

होमिया कराए कवन फल होय... कहव बिप्र पण्डित

हवन की पवित्रता में वातावरण के भाग्य प्रशंसनीय बनते हैं-

धनि-धनि जमिनिया कै भागि हो जहाँ होवै हवनिया।।

नई पीढ़ी पारिवारिक महत्ता का बोध अवधी गीतों

से आत्मसात करती है। परिवार में हर रिश्ता अपना वैशिष्ट्य लिए हुए रहता है। हर रिश्ते की कमी खलती है। एक गीत में रिश्तों के अभाव का सूनापन कुछ इस प्रकार गेय बना है—

सास-ससुर बिनु ससुरौ न सोहै देवर बिना अंगना न सोहै राजा

सावन झूला के गीतों में भीगी लकड़ियों के साथ गृहस्थी में सुगलती औरतों को किस्मत पर रोने की फुर्सत नहीं रहती। वे घर बुजुर्ग पुरुषों से बगीचे में झूले की व्यवस्था करने का आग्रह करती हैं। गीतों में श्रम समाहित होता रहता है और जिंदगी आनन्दमय बनी रहती है।

पुरुब बगिया मा हिंडोलवा छोड़इदा ससुर

गीतों के माध्यम से उलाहनें दिए जाते हैं, जिससे बात भी कह दी जाती है और किसी को गुस्साने भी नहीं दिया जाता। इससे कभी भी मन में कपट उपजने ही नहीं पाता। ससुराल में बहू अपने पति से कहती है कि तुम्हारे घर के लोग हमें अच्छे नहीं लगते। सब किसी न किसी तरह से हमें सताते हैं। रोकर नहीं गाकर जताई गई शिकायतों से जीवन में उल्लास बढ़ता है—

हमका भावै नाहीं घर कै तोर परानी पिया, बड़ी परेशानी पिया न...

तोहार अम्मा हमार सास, मारैं ताना चुऐ आंस

एक बहू बरखा में मायके जाने के लिए सास से अनुनय करती है। गीतों के सहारे अपनी बातें कहने की सहूलियत रुचिर लगती है—

सावन खेलौं कजरी भदउंआं कजरी तीज

सासू जाये देव नइहरवां मोर कजरिया बीती जाय

मायके में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करती हुई बेटी ससुराल के सुख का बखान करती है।

मैं ठकुराइन बलम मोरे बनियाँ

सास मोरी कूटें ननद मोरी पीसैं

मैं बैठी देखूं बलम कूटे धनियाँ

मायके में ससुराल का त्रास मन में भी नहीं आने

दिया जाता है। तमाम ताने-बोली को भूलकर मायके आई सखियों से ससुराल का सुख ही बखानती है—

सासू मोरी बेनिया डोलावैं, ननदिया मुख चूमै हो

सखि सईया मोर लेइ बलईया, बलईया नीक लागै हो

ससुराल में कोल्हू का बैल बनी बेटियां मायके में चहकते हुए बताती हैं कि ससुराल में बहुत प्यार-दुलार मिलता है। सास पंखा झलती है, पसीना आने ही नहीं देती, ननद हर बात मानती है और पति तो सिर आँखों पर रखता है। बुराई करके मन में कचरा भरने से अच्छा है प्रशंसा करते हुए खिलखिलाते रहना। इन्हीं बातों में एक गहरी संतुष्टि पाकर बेटी फिर ऊर्जा से लबालब होकर ससुराल में मजूरी करते रहने के लिए विदा हो जाती है। जिन घरों में ससुराल वाले सीना ठोंकते हुए बहू से कहते हैं कि दिन-रात घर में खंटती हो तो एहसान नहीं करती, यहाँ तुम्हें खाना-कपड़ा मिलता है। वहाँ की सच्चाई को आसानी से अभिव्यक्ति नहीं मिलती। जांता चलाती हुई, गेहूँ से पिसान बनाती औरतें मन की पीर गाती हैं। भाई जब मिलने आता है तो बिलख पड़ती हैं—

नौ मन कूट्यो भइया नौ मन पीस्यो हो न।

भइया पहिली टिकरिया मोर भोजनवा हो न।।

भइया वोहू महैं कुकरा बिलरिया हो न।

भइया वोहू महैं गोरू चरवहवा हो न।।

भइया वोहू महैं देवरा कलेवना हो न।

भइया वोहू महैं ननदी कलेवना हो न।।

अथाह भरे-पुरे घरों की बुजुर्ग महिलाएं तो शासक की तरह पुजवाती और हुकुम चलाती हैं। लेकिन नई बहुओं की स्थिति ड्यौढ़ी तक आने नहीं पाती। पति भी अपनी भूमिका निभाने रात अंधेरे अंदरूनी पलंग पर जाकर लौट आता है। उसे देखने-सुनने की अनुकूलता ही नहीं होती। नवोढ़ा भाई से एकांत में अन्तस खोल देती है। नवोढ़ा कहती है कि इस रहस्य को बस अगुआ को बताना जिससे वे किसी और लड़की का ऐसा रिश्ता न तय करवाएं।

पहिरे का पाई भईया सबका उतरना वाहू मा ननदी ओढ़निया रे रामा

अवधी भाषा के गीतों में स्त्री-मन की वेदना अवलोकनीय है। स्त्री माँ बनकर पूर्णता पाती है। माँ न बन पाना पारिवारिक त्रास और सामाजिक अवहेलना है। एक स्त्री जीवन से भागकर माँ गंगा की गोद में समा जाने का करुण नाद करती है। वह अपने मन की पीर बताते हुए गंगा मईया से लहर लेने का आग्रह करती है। गंगा माँ के प्रश्न में इस नैराश्य का कारण है वे पूछती हैं कि ऐसा क्या हुआ? सास-ससुर दुःख दे रहे या मायका दूर है? या फिर पति परदेस कमाने के लिए गए हैं? इस पर दुखिया नारी जवाब देती है कि न सास-ससुर दुःख दे रहे, न पति परदेस गये हैं और न ही मायका दूर है। अपितु मेरी कोख सूनी है। एक बच्चे की कमी है। मातृत्व अधूरा है। लोग बांझिन का सुबह मुँह देखना पाप समझते हैं। पति दूसरे विवाह का विचार कर रहे हैं। ऐसे गीतों में नैसर्गिक अभाव पर पारिवारिक-सामाजिक व्यवहार की दोहरी पीड़ा में जीवन से पलायन की त्रासदी है। परिवार और समाज मनुष्य के पोषण हेतु हैं, लेकिन किसी असमर्थता में यही परिवार, यही समाज बैरी बन जाते हैं।

गंगा किनारे एक गोरिया गंगा मनावै
गंगा एक लहरि तुम लेउ डूबन हम आइन।
की तुम सासु ससुर दुःख नैहर दूरि बसै।
गोरिया कि तोरे हरी परदेस कउने गुन डुबिहऊ।
न हम सासु ससुर दुःख नैहर दुरि बसै।
गंगा न मोरे हरि परदेस। कोखिया बिनु डुबिहऊँ,
बलकु बिनु डुबिहऊँ।

सास-ननद के ताने से तंग पीड़िता को पति भी घर से निकाल देता है। बिपत की मारी जंगल में खुद को खो देना चाहती है। लेकिन हिंसक बाघिन भावुक होकर उसका हाल पूछती है। जिंदगी की त्रासदी बताकर मन हल्का करके संतति-विहीना फिर उसी घर में, उन्हीं लोगों के बीच मन में मजबूती भरकर लौट आती है।

सासु माँहे कहै बंझिनिया ननद ब्रजवासिनि

हो।

रामा जिनकी मैं बारी बियाही उइ घर ते निकारिनि हों।

घर ते निकरी बंझिनिया जंगल बिच ठाढ़ी हों।
रामा बन ते निकरी बघिनियाँ तो दुखु-सुखु
पूँछै हो।

रनिया! कौन विपति की मारी जंगल बिच ठाढ़ी हो।

सासु मोरी कहै बंझिनिया ननद ब्रजवासिनी हो।

बाघिनि जिनकी मैं बारी बियाही उइ घर ते निकारिनि हो।

बाघिन! हमका जो तुम खा लेतिउ बिपतिया ते छूटीत हो।

जच्चा गीत में गर्भावस्था से लेकर प्रसव तक की अवस्था तरंगित रहती है। एक गर्भिणी सास से पूछती है कि किस कमरे में मेरा प्रसव होगा तो सास से पहले ननद बोल पड़ती है कि भाभी को बेटी होगी इसलिए पशुओं वाली जगह देना सही रहेगा। समाज का मनोविज्ञान और अविवाहित ननदों का वर्चस्व गीतों में झलकता है—

सासू कवन कोठरिया हम्मय देबू, कोठरिया हम लीपब

यतना बचनि सुनि सासू तौ बोलहू न पावे,
ननदिया उठि बोलै...

अम्मा भउजी के होइहैं बिटिया

भुसउला यन्है देवहु

श्रम गीत भी अवधी लोक की अद्भुत संपदा है। धान रोपने, निराने, काटने के गीतों में मजदूरों का उत्साह चरम पर रहता था। बरखा में, पानी भरे हुए खेतों में, धान रोपने हेतु मजदूर खुद को मछलियों की वरायटी करते हुए उल्लास में रहते हैं। एक मजदूर खुद को टेंगना कहता है तो उसकी घरवाली खुद को सिधरी कहती है।

टिकवै पांड़े कै हरवहिया की हम टेंगना

जौ तूहिं टेंगना टिकबौ पांड़े कै हरवहिया कि

हम सिधरी लड़ कै अइबै दाना पनिआ की हम सिधरी।

आजादी के आह्वान में विलायती कपड़ों का विरोध अवध के गाँवों में भी खूब गूँजता था। गुलाम देश में कूटती पीसती-औरतें छन भर का समय निकालकर चरखा चलातीं। एक महिला गीत कढ़ाती आरम्भ करती (तो बाकी सब पुरवातीं, पूर्णता देतीं)। गीतों में विश्राम का विलास नहीं संघर्ष की निरंतरता को सर्वसम्मत से स्वीकृति मिलती है।

**मोरे चरखा के टूटे न तार चरखवा चालू रहे
चाहे फिरंगिया गोली चलावैबेड़ी लगाइके जेल
भिजवावै,**

**मुंह से निकलै सदा जयचरखवा चालू रहै, जय
कार-**

**चाहे फिरंगिया ज़िंदा जलावें पकड़-पकड़ कर
सूली चढ़ावें,**

तुम कबहूँ न मानेउ हार चरखवा चालू रहै।

स्वतंत्रता-आंदोलन के दौर में सुराजी गारी, सुराजी सोहर भी प्रचलित थे। हास परिहास की व्यापकता में जवाहरलाल नेहरू भी लपेटे गए हैं। विदेश गए नेहरू फिरंगी औरतों से घिर गए यह पुरुष प्रधान देश के लिए हास्यास्पद है क्योंकि नेहरू के समय में आरतें घूँघट में, चौखट तक ही रहती थीं।

**हमारे जवाहिर लाल गये विल्लाइट,
उहाँ घेरि लिहीं वनहू का गोरवन कै नार,
झमकोइया मोरे लाल!**

अवधी संस्कृति में जीवन उत्सव है। यहाँ तुलसी का विवाह किया जाता है। आँवले का जनेऊ किया

जाता है। लोगों को कभी अकेलापन नहीं सालता। वे अकेले लेटते बैठते-हुए रामायण के विविध प्रसंगों के गीत गाते हुए हँसते रोते-जिंदगी को भावपूर्ण रखते हैं। मूसलाधार बरखा में कौशल्या की छटपटाहट लोग आज भी गाते हैं। दर्द जीवंतता का साक्ष्य है। पराई पीर को आत्मसात करना मानवीयता की उच्च भावभूमि है। वन गए हुए राम सीता-लक्ष्मण की चिंता आज भी अकेली महतारी को व्यथित करती है। बच्चों को परदेस भेजी हुई माँ कौशल्या की व्याकुलता को गहराई से जीते हुए गाती है-

**अंगना मा ठाढ़ी कौशल्या रानी मेघ से अरजि
करैं**

**मेघा जनि बरसौ कदली के बन मा हौं जियरा
व्याकुल हो...**

दशरथ की पीर भी अवधी लोकगीतों में आज भी जीवंत है। कैकेई के सामने दशरथ की बेबसी इस गीत में द्रष्टव्य है-

**लड़ लेव अजोध्या कै राज मोरी रनिया, राम
का न करौ हमरे अंखिया से दूर**

निर्गुण भाव अवधी गीतों में भी प्रवाहमान है। बरखा में अनाज की किल्लत हो जाती है। झमाझम बारिश में जिंदगी ठहर जाती है। ऐसे में ईश्वर को प्रियतम/पति मानने वाले मनुष्य आग्रह करते हैं कि इस बरखा में गवना करवाकर मुझे अपने पास बुला लो। अनिवार्य जरूरतों के अभाव में सांसारिक पीर महामिलन की छटपटाहट में बदल जाती है-

सईया मोर गवनवा लई जा यहि बदरी मा

डी-1, डी-ब्लॉक, प्रोफेसर क्वार्टर
जादवपुर यूनिवर्सिटी, कोलकाता - 700 032
मो. : 9007528933

बुन्देलखण्ड के लोकाख्यानों के सामाजिक अभिप्राय

- के. बी. एल. पाण्डेय

संस्कृति जीवन के परिष्कार के उद्देश्य से मानवीय रचनाशीलता की वह निष्पत्ति है जिसमें जीवन के व्यापक आयतन में निर्मित मूल्यबोध निहित होता है। इस रचनाशीलता में मनुष्य की भौतिक और मानसिक उपलब्धियों का कौतूहल उत्पन्न करता विराट संसार होता है। विभिन्न भूगोलों में रची जाती संस्कृतियों के भौतिक आसंग भिन्न होते हैं पर उनके आधारभूत आशयों में लगभग समान शुभाकांक्षाएँ होती हैं।

भारत जैसे विविध और बहुलतापूर्ण समाज में अनेक भौगोलिक आँचलिकताएँ हैं। इन आँचलों में भाषा और जीवन शैली के अलावा इतिहास और समाज की अलग-अलग विशेष घटनाएँ हैं। ये सब मिलाकर एक संवाद स्थापित करते हैं, विवाद नहीं। संस्कृति की व्यापकता लोकाश्रित ही होती है। इसलिए जब हम किसी समाज को सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में समझना चाहते हैं तो हमें उसकी लोक संस्कृति के आख्यानों के पास जाना पड़ता है। क्योंकि जैसा शंभुनाथ जी ने कहा है 'इस देश की लोक संस्कृति आम जीवन में लोक के दुःख और हर्षोल्लास को वाणी देती कभी क्लासिकल संस्कृति से टकराती है तो कभी अन्तः मिश्रण करती एक जीवन्त संस्कृति है।'

'इत जमुना उत नर्मदा इत चम्बल उत टौंस' के सीमा क्षेत्र में बसे बुन्देलखण्ड में पौराणिक गाथाओं का भी स्मरण और ऐतिहासिक आख्यानों पर आधारित साहित्य भी है। बुन्देलखण्ड की संस्कृति के विभिन्न आशयों का विमर्श वहाँ के साहित्य में रची गयी आख्यान परंपरा में मिलता है। ये आख्यान या गाथाएँ प्रायः पद्यात्मक हैं। कई गद्यात्मक भी हैं पर वे गेय हैं।

लोक में प्रचलित आख्यानों, गाथाओं और विश्वासों

में स्थान और समय की तथ्यात्मकता तलाशना लोक स्वभाव के विपरीत होगा। अतिशयोक्ति की अतिशयता असंभाव्यता की सीमा तक भी पहुँच जाती है पर लोक उस पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाता।

आख्यान का अर्थ है प्राचीन कथानक या वृत्तांत और लोकाख्यान में प्रचलित इसी प्रकार के वृत्तांत हैं। आख्यान को लोक के संदर्भ में गाथा भी कहा गया है। इनके अर्थ और आशय इकट्ठे नहीं हैं। उनमें मानवीय व्यवहारों और संबंधों का सम्पूर्ण विवेचन है।

आल्हखण्ड

बुन्देलखण्ड में प्रचलित अनेक आख्यानों में 'आल्हा' या आल्हखण्ड जैसा शौर्यपरक आख्यान काव्य भी है, 'कारसदेव' जैसा कृषि और गोपालक समाज का आख्यान है, 'हरदौलगाथा' की तरह स्त्री के शील की रक्षा के लिए विषयुक्त भोजन कर स्वयं के उत्सर्ग की अमर कथा है, 'सुरहित गाय' जैसा मातृभक्ति तथा आत्मीय संबोधन से हिंसा के हृदय परिवर्तन का आख्यान है, 'संत बसंत' जैसा मातृत्व और वीरता का वृत्तांत है, 'वैरायटा' जैसा महाभारत के पाण्डव-निर्वासन का कथानक है और 'धर्मा साँवरी' जैसा स्त्री विमर्श है। कुछ आख्यान 'राछरे' और 'पवारे' नाम से प्रचलित हैं। 'अमानसिंह का राछरा' और 'चन्द्रावली का राछरा' तथा 'जगदेव का पवारा' प्रमुख रूप से बुन्देलखण्ड में प्रचलित हैं। कुछ आख्यान 'साके' भी कहे जाते हैं।

जगनिक रचित 'आल्हखण्ड' 52 युद्धों का वह महाकाव्य है जिसमें आल्हा और ऊदल की अतिमानवीय वीरता का यशोगान है। महोबा के चंदेला राजा परमाल (परमर्दिदेव) पर दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान

का आक्रमण हुआ। आल्हा और ऊदल परमाल के यहाँ से कन्नौज के राजा जयचंद के पास चले जाते हैं। उन्हें वापस बुलाया जाता है। फिर दोनों सेनाओं में अनेक बार युद्ध होता है। पृथ्वीराज के युद्ध के पहले भी महोबा पर बघेलखण्ड के माण्डोगढ़ के राजा का आक्रमण होता है। वह वहाँ के दो वीरों दच्छराज और बच्छराज को मारकर वहाँ का प्रसिद्ध हाथी, नौ लखा हार और प्रसिद्ध नर्तकी लाका को लूट ले गया। पृथ्वीराज ने संयोगिता का हरण किया तो आल्हा ऊदल ने पृथ्वीराज की बेटी बेला के लिए युद्ध किया और उसका विवाह परमाल के पुत्र ब्रह्मा से करवा दिया।

आल्हखण्ड बुंदेलखण्ड में ही नहीं, सभी अंचलों में लोक प्रचलित हो गया। वह जहाँ भी गया वहाँ की बोली में गाया जाने लगा। इस आख्यान में एक पंक्ति टेक की तरह प्रयुक्त होती रहती है- इतै की बातें इतई छोड़ देओ अब आँगे कौ सुनौ हवाल।

आल्हा में वीरता की परिभाषा भी दी गयी है-

“बारा बरस लौं कूकुर जीयें और तरह लौं जिये सियार।

बरस अठारा छत्री जीवै, आगे जीवें कौं धिक्कार।।”

सामाजिक अभिप्राय के रूप में देखें तो इस गाथा में सामन्ती परिवेश में युद्धों की भूमिका प्रमुख है। युद्ध अपने राज्य को बढ़ाने, शत्रुओं से बदला लेने और लूटपाट के लिए होते हैं। राजकुमारी या राजा-रानी यानि स्त्री को लूटना प्रमुख उद्देश्य रहा है। स्त्री वस्तु से अधिक कुछ नहीं। वीरता का गलत उपयोग और उसकी मूर्खतापूर्ण अवधारणा ने युद्धों को प्रज्ज्वलित किया। इस गाथा में कजली (कजरियाँ) पर्व जैसे रीति रिवाजों का भी उल्लेख है। इन युद्धों में आम जनता केवल परिणाम भोग रही है। इस आख्यान में इतिहास का आधार है। इस पर कल्पना का स्थापत्य है। रीतिकाल में सौन्दर्य वर्णन में अतिशयोक्ति का भरपूर प्रयोग हुआ है पर यहाँ आल्हखण्ड में वीरता वर्णन में

अतिशयोक्ति भी कम पड़ती प्रतीत होती है। इस गाथा में प्रक्षेप भी बहुत हुआ है।

कारसदेव

‘कारसदेव’ लोकगाथा के रूप में कारसदेव का आख्यान भी बहुत प्रचलित है। यह गोचारण समाज का सांस्कृतिक वृत्तान्त है। कारसदेव की कथा खंडों में विभाजित है। प्रत्येक खण्ड को गोटे कहते हैं। इस तरह इस कथा को गोटे गाना कहा जाता है। यह गायन डमरू के आकार के एक ताल वाद्य के वादन के साथ किया जाता है जिसे ढाँक कहते हैं। वादक इसे बैठकर घुटने से मुड़े हुए पैर के पंजे के ऊपर बाँधकर बजाता है। साथ बंधे घुँघरू संगत का अनोखा सुर प्रस्तुत करते हैं। इस आख्यान में आल्हखण्ड के 52 युद्धों की तरह 52 गोटे हैं। सभी गोटे एक रात में नहीं गाये जाती हैं। रात के शान्त वातावरण में जब ढाँक बजती है तो बिना ध्वनि विस्तारक के ही किलोमीटरों तक सुनायी देती है।

कारसदेव गोपालक और चारागाही समाज के लोक देवता हैं। गढ़रा झाँर में राजू गूजर अपने परिवार सहित रहता था। उसकी बेटी ऐलादी अत्यन्त बलवती थी। एक दिन वह खौंड से दूध की खेप सिर पर रखे और एक हाथ से बछड़ा पकड़े आ रही थी। रास्ते में गढ़राझौर के राजा का हाथी खड़ा था। जब ऐलादी के निवेदन पर महावत ने हाथी हटा कर ऐलादी को निकलने की जगह नहीं दी तो ऐलादी ने पैर के अँगूठे से हाथी की जंजीर दबा दी। हाथी भरभरा कर जमीन पर गिर पड़ा। समाचार से क्रुद्ध राजा ने राजू को आज्ञा दी कि आठ दिन में ऐलादी को उसके पास भेज दिया जाये, नहीं तो वह खुद ऐलादी को अपनी रानी बना लेगा। यह बात स्वीकार न कर राजू ने अपने परिवार सहित झाँझ के राजा माना लुहार के यहाँ शरण ली और वह श्रमिक का कार्य करने लगा।

ऐलादी ने तपस्या की। कमल के फूल के रूप में

एक भाई को प्राप्त किया वही कारसदेव हुए। उन्होंने चचेरे भाई सूरपाल (सूरजपाल) के साथ गढ़राझौर के राजा से बदला लिया और फिर ऐलादी से मिलकर अदृश्य हो गये।

कथा की अलौकिकता के बीच से ही उसके सामाजिक अभिप्राय और लौकिक संदर्भ प्रगट होते हैं। युद्ध यहाँ भी है। अतिमानवीय वीरता यहाँ भी है। गोपालक का पूरा परिदृश्य भी है। स्त्री के प्रति यहाँ भी पुरुष सत्तात्मक दृष्टि है। शक्तिशाली के लिए वह केवल भोग्या है। परिवार का समन्वय सामूहिक श्रम को प्रतिपादित करता है। राजा (सामन्तवाद) यहाँ भी है पर समाज की रचना बदल गयी है। एक गोट इस प्रकार है—

भोर भऔ सकारो मुरगा ने दीनी बांग।
सोवत जागी बैन ऐलादी।
जानै सोवत देख लये राजू दादा
रो मत देख लई खोड़न में धौरी गाय।
बैन ऐलादी न झटक पिछौरा
राजू दादा कौं जगाय।
दादा की खुल गई सुखनिया नींद।
बैन ऐलादी कै रई दादा सें
कै दादा खोड़न में रम्बा रई गाय।
तुम सो रये सुखनिया नींद
बैन ऐलादी ने दूदन खेपें भर लई...।
अरे बैन ऐलादी रतन जड़ाऊ कुड़री धरें।
जायै धरै दूद की नौ मन खेप
अरे बीसक बछेरु डुरया लये हाँत।

इस कथा के पारंपरिक गद्य पाठ के अलावा कुछ लोगों ने इसकी पद्य में रचना भी की है। प्रत्येक पंक्ति के गायन के अंत में हो...ओ....ओ का विस्तार मिलता है।

इस कथा का पाठ बुन्देली के भिन्न स्थानीय भेदों के अनुसार बदलता रहा है।

धर्मासाँवरी

यह आख्यान एक चिड़ा और चिड़िया के दाम्पत्य में कलह और वात्सल्य पर आधारित है। चिड़ा चिड़िया से अलग होते समय बच्चों को अपने पास रखना चाहता है। चूंकि विपत्ति में चिड़िया ने बच्चों का पालन-पोषण किया तो बच्चों को वह अपने साथ रखना चाहती है। विवाद राजा तक पहुँचता है। फैसला होता है कि नर बच्चे चिड़ा को मिलेंगे और मादा बच्चे चिड़िया को। इस निर्णय से असहमत चिड़िया फैसले को ताम्रपात्र पर लिखवाकर प्राण त्याग देती है। चिड़ा भी मर जाता है। दोनों का पुनर्जन्म होता है। चिड़िया धर्मा साँवरी और चिड़ा दंग के नाम से जाना जाता है। दोनों का विवाह हो जाता है। दंग को बारह वर्ष तक किसी बेड़िनी के यहाँ बंदी रहना पड़ता है। उसे उसका भांजा मुक्ति देता है।

इस गाथा का सामाजिक अभिप्राय यह है कि लोक अपनी तरह से स्त्री विमर्श करता रहा है। यहाँ स्त्री की अधिकारहीनता का भी संकेत है। विवाद वाणासुर और राजा भोज के पास पहुँचता है लोक इतिहास के तथ्यों की चिन्ता नहीं करता। वाणासुर से अनिरुद्ध का युद्ध हुआ था अर्थात् कृष्ण के अनन्तर का समय है। राजा भोज इतिहास के व्यक्ति हैं। दोनों समकालीन नहीं हैं। प्रेम की शक्ति पुनर्जन्म में भी देखी गयी है। दोनों का फिर विवाह होता है। गोपालक समाज इस आख्यान में भी है। लोक विश्वास में समाहित दैवी भक्ति के प्रति आस्था और पूजा के रूप में बलि का कर्मकाण्ड तत्कालीन समय का वाचक है। अलौकिक और चमत्कारों का घटित होना लोक प्रकृति का परिचायक है। यह गाथा भी गद्य में है। कारसदेव गाथा की हो...ओ...ओ की तरह इसमें अंत में... मोरे राम... आता है।

इस गाथा का एक अंश है—

बोले पंचन जा कहैं तुम दौड़ सुनो मोरी बात।

दै दे चिरैया खौं रे चिरवा खो दै दे मोरे राम
ऐसौ करते अपने रमना में रे
हम काय खों आऊते मोरे राम।
काय खौं न्यौतो देते पंचन खौं... ?

सुरहिन गाथा

यह आख्यान इस तरह शुरू होता है-

‘छिन की उअन किरन की फूटन सुरहिन वन कौं
जाय हो माय।’

इसे देवी गीत के रूप गाया जाता है। इसलिए हो
माय शब्द आते हैं।

सुरहिन का आख्यान रिशतों के मार्मिक संबोधन
से हिंसा के हृदय परिवर्तन की कथा है। वन में चरती
हुई एक गाय को एक सिंह खा लेना चाहता है। गाय
कहती है कि मैं घर जाकर बछड़े को दूध पिलाकर
वापस आ जाऊँगी। तब मुझे खा लेना। गाय जब बछड़े
को दूध पिलाकर और उसे सब कुछ बता कर जंगल
लौटने को तैयार होती है तो बछड़ा भी साथ चल देता
है। सिंह के पास पहुँच कर बछड़ा उसे ‘मामा’ शब्द
से संबोधित करता है- वह कहता है-

‘पैलें ममझ्या हर्मई खौं भख लेऔ पाछे हमाई माई
हो माय।’

मामा, पहले मुझे खा लो फिर मेरी माँ को खा लेना।

‘मामा’ का स्निग्ध संबोधन सुनकर सिंह का हिंस्रत्व
समाप्त हो जाता है। गाय उसे बहिन लगने लगती है।
वह कहता है- ‘कजली वन मैंने तो खों दीनों छरक
चरौ मैदान हो भाय।’

इन सभी आख्यानों से कुछ सामान्य मूल्यपरक
निष्कर्ष निकलते हैं- शौर्य, करुणा, देवत्व और
सामाजिक सम्बन्धों की तरल स्निग्धता सभी आख्यानों
में है।

लोक जीवन, पारिवारिक संबंध और भौतिक परिवेश
इन सभी आख्यानों का आधार है। स्त्री सभी आख्यानों
में हैं। कहीं वह शक्ति सम्पन्न है तो प्रायः वह अधिकार
वंचिता है। सामन्ती परिवेश में उसके लिए युद्ध होते
हैं- ‘जाकी बिटिया सुन्दर देखी ता पर डार दिये
हथियार।’

कई आख्यानों में गुजरात, राजस्थान, मालवा,
खुरासन, ‘हिंगलाज’ जूनागढ़ जैसे दूरवर्ती स्थानों
के नाम आये हैं। कारसदेव की गाथा में चामल (चम्बल)
नदी का नाम आता है।

लोक से देवत्व की प्राप्ति भी अनेक गाथाओं में है।
आल्हा का अमर होना और कारसदेव का देवता होना
ऐसा ही देवत्व है।

प्रायः सभी पात्र इसी धरती के हैं।

70, हाथी खाना, दतिया- 475661
मो. : 9425113172

भोजपुरी लोकगीतों में स्त्री संवेदना के स्वर

- डॉ. प्रमोद कुमार प्रसाद

जनजीवन के प्राणों में बसे लोकगीत भारतीय संस्कृति की धरोहर हैं। इन गीतों में संस्कृति की आत्मा है और मानव को आत्मीयता के बंधन में बांधने की अद्भुत क्षमता भी। लोकगीतों में संस्कार है, प्रेम है, करुणा है और सामाजिक आदर्श भी। लोकजीवन में संस्कृति एवं संस्कारों की यह विरासत नारी ने ही एक सुगृहिणी की भाँति संभाल कर रखी है और यह धरोहर पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रही है। पुराकाल से नारी को शक्ति का प्रतीक माना गया है। यह नारी की ही शक्ति है जो यदा-कदा समाज परिवार में आयी जड़ता को अपने जागरण के स्वर से दूर करती है।

भारत का अतीत विश्व स्तर पर सामंती व्यवस्था का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। संभवतः यही कारण है कि भारतीय व्यवस्था और संस्कृति का एक विशाल भाग सामाजिक अधिकारों से वंचित रहा है। दलितों को अछूत मानकर जहाँ समाज की सवर्ण जातियों ने उनकी उपेक्षा की है वहीं स्त्री के साथ भी समुचित न्याय नहीं किया गया। यहाँ तक कि भारतीय इतिहास की एक लंबी कालावधि में दलितों और स्त्रियों को पठन-पाठन से भी वंचित रखा गया। अतीत के पुरुष प्रधान भारतीय समाज में तो स्त्रियाँ आँसुओं में डूबी हुई थीं। इस बात का जीवंत प्रमाण हमारे लोकगीत हैं। जब भाषा (लिपि) का आविष्कार नहीं हुआ था, तब भी भारतीय समाज में स्त्रियों के बीच लोकगीत गाये जाते थे, जो पीढ़ी दर पीढ़ी माँ से या बहू सास से सुनकर याद कर लेती थी। महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार भारत में यह वाचिक परंपरा हजारों वर्षों तक चलती रही है और आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में या महानगरों के अशिक्षित मजदूर इलाकों में इस परंपरा के लोकगीतों को किसी विशेष अवसरों पर ढोलक की थाप पर सुना जा सकता है। कालांतर

में जातीय आधारों पर विभाजित भारतीय समाज में तोरहिया कोट, मल्लाह, मुसहर, अहीर, धोबी, पासी, नाई, गड़रिया, कुम्हार आदि की स्त्रियाँ अपने लोकगीतों के माध्यम से अपना दुख या अपना प्रतिरोध व्यक्त करती रही हैं। वर्गों-वर्णों एवं जातियों में विभाजित भारतीय समाज में जहाँ निम्न जातियों की स्त्रियाँ नरक के समान जीवन जीती रही हैं, वहीं पुरुष वर्चस्व वाली सामाजिक व्यवस्था के कारण आभिजात्य वर्गीय या सवर्ण जाति की स्त्रियाँ भी सुखी नहीं रहीं और पुरुष के बराबर सामाजिक अधिकारों से वंचित रहीं। हमारे लोकगीत हमारे सामाजिक व्यवस्था के दर्पण रहे हैं। इन लोकगीतों की रचयिता भी स्त्री रही हैं। अतः स्त्री जाति ने अपने संपूर्ण त्रासद लोकजीवन को लोकगीतों में पूरी संवेदना के साथ व्यक्त किया है।

लोक हृदय के निर्माण में स्त्री मानस की अपनी एक अलग भूमिका रही है। एक ओर वह लोक संस्कृति को आगे बढ़ाते रहने की दायित्व निभाती रही है तो दूसरी ओर लोक साहित्य में अपनी आकांक्षाओं और वेदना की अभिव्यक्ति करती रहती हैं। स्त्री की वेदना और उसके सपनों के बिना लोक साहित्य का कोई अंग पूरा नहीं होता। लोकगीतों, लोक कथाओं, लोक गाथाओं यहाँ तक कि लोक सुभाषितों में भी स्त्री की लोक समाज में स्थिति और उसकी मनोवेदना की भरपूर अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। लोकगीतों में उपलब्ध स्त्री की आकांक्षाओं और वेदना का साक्षात्कार करते हुए हमें समाज की रुढ़ियों, पुरुष की उच्छृंखलताओं और अहम्मन्यता तथा सास-ननद-देवर के व्यवहार से उत्पन्न शिकायतें सहज ही देखने को मिल जाती हैं। लोकगीत पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के जीवन के अधिक नजदीक होते हैं। स्त्रियाँ अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए गीतों का सहारा अधिक लेती हैं। धान कूटते समय, चक्की पर गेहूँ पीसते समय

और भी कई सांस्कृतिक अवसरों पर वे गीत गाकर अपने सुख-दुख को प्रकट करती हैं। श्री कृष्णादास के अनुसार— “इन लोकगीतों में लोक जीवन की लंबी-लंबी कथाएँ होती हैं, जिनमें गृहस्थ जीवन के सुख-दुख की मार्मिक झाकियाँ होती हैं। कुछ आप बीती-कुछ जग बीती। ये गीत कथात्मक अधिक और वर्णनात्मक कम होते हैं। इनमें ऊहापोह का स्थान नहीं, इतिवृत्तात्मकता नहीं वरन चित्रात्मकता होती है। इन लोकगीतों में नारी जीवन के द्वारा, नारी जीवन के लिए, नारी जीवन की स्वकथित करुण कहानी होती है, जो तत्कालीन समाज का ब्योरेवार कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करते नारी की दशा और दिशा का अत्यंत स्वाभाविक चित्र उकेरती हैं।”¹

लोकगीत किसी भी सामाजिक की पूँजी होते हैं। लोकगीतों में लोक की संवेदना, लोक की भावना, लोक का सुख-दुख, हर्ष-विषाद आदि गुंफित रहता है। इसी कारण लोक गीतों को लोक संस्कृति का दर्पण कहा जाता है। यही कारण है कि लोकगीतों में स्त्री प्रतिरोध के स्वर भी सुनाई देते रहे हैं। अपने दुखों के विरुद्ध प्रतिरोध में खड़े होना मानव स्वभाव का अंग रहा है। यह प्रतिरोध समय के अनुकूलन के साथ हमेशा होता रहा है। हमें साहित्य में पढ़ाया जाता है कि यूरोप में जब 17वीं शताब्दी में जन जागरण आया तो उसकी प्रतिक्रिया में 19वीं शताब्दी में भारतीय स्त्री के अंदर अपने अधिकारों के प्रति चेतना जागृत हुई। यह एक अभिजात्य वर्गीय इकहरा सत्य है। हाँ, यह सत्य है कि आधुनिक भारतीय नारी वर्तमान में अपने सामाजिक समान अधिकारों के लिए पुरुष वर्ग के सामने तनकर खड़ी हुई हैं एवं सामाजिक जीवन के सभी स्थलों पर पुरुष के साथ कदमताल कर रही है, किंतु अपनी स्थिति के प्रति असंतोष एवं प्रतिरोध के स्वर हर काल में कमोवेश पाए जाते हैं।

स्त्री की करुण दशा का चित्रण हिंदी क्षेत्र की विविध भाषाओं के लोगगीतों में एवं विविध प्रसंगों में मिलता है। इस कथा का सूत्रपात कन्या संतान के जन्म से ही होता है। बेटा पैदा होने पर खुशी और बेटी पैदा

होने पर मातम मनाने की प्रथा भारतीय समाज की हर जाति में पायी जाती है। आधुनिक भारतीय समाज में भ्रूण हत्या के रूप में इस कुप्रथा को देखा जा सकता है। उत्तर भारत में गाये जाने वाले निम्नलिखित लोकगीत इस पर प्रकाश डालता है—

‘जेहि दिन हे अम्मा भइया के जनमवा
सोने की छूरी कटइलो नार हो
जेहि दिन अहे अम्मा भयो हमरो जनमवा
हँसुआ खोजइते हे अम्मा खुरपी न भेटे
मिटकी कटइले मोरी नार हो।’²

भाई के पैदा होने पर सोने की चाकू से नाल काटने वाला एवं बेटी की नाल मिट्टी की खपरे से काटने वाला भारतीय समाज क्या कभी स्त्री जाति के साथ न्याय कर पाया है। आज भी हमारे देश में कई या कहें अमूमन सभी प्रांतों में स्त्री का सम्मान उसके पुत्र पैदा करने से होता है। पुत्र को जन्म देनेवाली स्त्री का महत्व बढ़ जाता है, जबकि पुत्री को जन्म देनेवाली जननी को परिवार में उपेक्षा और तिरस्कार का सामना करना पड़ता है। पुत्रोत्पत्ति पर हर्ष तथा पुत्री के जन्म पर दुखी होने का मनोवैज्ञानिक कारण दहेज और विवाह की समस्या है। प्रसवोपरांत उसके साथ तमाम तरह के दुर्व्यवहार किए जाते हैं। पुत्र जन्म पर खाने में मेवे, फल आदि, ओढ़ने के लिए दुशाला और पसंगी में चंदन की लकड़ी जलाई जाती है, जबकि पुत्री को जन्म देने पर कुश की घास बिछाने व ओढ़ने के लिए तथा खाने में जंगली फल और पसंगी में खुखुड़ी। इस प्रकार के वर्णन अनेक लोक गीतों में मिलते हैं। यथा—

“कुस ओढ़ने कुस दसन, बंफल भोजन रे

ए ललना, खुखुरी के जरेला पसंगिया, निदारियो
ण आवेल रे।”³

लोक संस्कृति को आईना दिखाने वाले लोकगीतों में स्त्री-जाति के जन्म-मरण, प्रेम-विवाह, रहन-सहन से लेकर उसकी सामाजिक अस्मिता तक का वर्णन विस्तार से दृष्टिगोचर होता है। समाज में आर्थिक संसाधनों पर पुरुषों का अधिकार होने के कारण एवं दहेज आदि कुप्रथाओं के चलन से एक माँ भी बेटी

को जन्म देना नहीं चाहती। यथा—

“जाहु हम जनती धियवा कोखी रे जनमिहे
पिहितों में मरिच झराई रे
मरिच के झाके झुके धियवा मरि रे जाइति
छुटि जाइते गरुवा संताप रे।”⁴

इस लोकगीत में माँ कहती है कि यदि मैं जानती कि लड़की पैदा होने वाली होगी तो मरिच झराई के पी लेती जिससे गर्भपात हो जाता। भला कौन सी ऐसी माँ अपनी कोख के जाए को अपने हाथों से मौत देना चाहेगी। सृष्टि की हर माँ अपने शिशु के लिए दुनिया भर की बलाएँ अपने सर ले उसके लिए लंबी से लंबी उम्र की कामना करती है, किंतु यहाँ माँ को अपने नवजात शिशु के लिए मृत्यु की कामना इसलिए करनी पड़ती है, क्योंकि वह कन्या है। इस सोच के पीछे क्या कारण है? इसका कारण है कि स्त्री दासी होने के बाद भी आर्थिक रूप से अपने माता-पिता पर एक भार होती है। इसलिए शादी-व्याह में फर्क स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। एक युवा लड़की अपने और अपने भाई की शादी के फर्क को शिकायत के रूप में दर्ज करते हुए लोकगीत में कहती है—

“काहे को ब्याही विदेश रे बाबुल मोरे
हम तो बाबुल तोरे खूँटे की गइया
जित हाँकों हँकि जाए हो लाखिया
हम तो बाबुल तोरे पिंजरे की मैना
भोर होत उड़जाये रे बाबुल मोरे
भईया को दिहे बाबुल महल दुमहला
हमको दिये परदेश सुन बाबुल मोरे।”⁵

इस तरह की प्रथाएँ बनाने के पीछे स्त्री पराधीनता एवं आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर होना भी रहा है। इस बात को भारतीय परंपराओं में आज भी देखा जा सकता है। दहेज की प्रथा जो सदियों से भारतीय समाज का कलंक रही है, उसके बारे में एक नई ब्याही युवती लोकगीत में कहती है कि दहेज में सब कुछ देने के बाद भी माथे की कंधी छूट गयी थी, जिसके कारण सास और ननद उसे ताना दे रही हैं। वह अपने दादा के आँगन (मायके में) अपने दादा से कहती है—

“दादा केरा अंगना जामुन के गछिया
सेईतर दुलरदतिन बेटी ठाढ़ से दादा न बोलई।
रहियो न बोलई बेटिया न बोलइ
पनिया भरदते पनिहारिन से दादा न बोलई।
अनमा से देले दादा धनमा से दिहले
मोतिया दिहले अनमोल जी
एक नहीं दिहले दादा सिर के कंगनियाँ।
सासू ननद ओरहन देते से दादा न बोलइ।”⁶

क्या यह वृत्ति आधुनिक समाज में नहीं पाई जाती है? क्या आज भी आधुनिक नारी दहेज की वेदी पर जलाई नहीं जा रही है? वस्तुतः वर्तमान समय में स्त्री-पुरुष समान अधिकारों के रुकावट के पीछे यही रुढ़िग्रस्त परंपराएँ हैं जो सामंती समाज की देन है।

विवाहोपरांत नारी आँखों में नए सपने, हृदय में उमंग और उत्साह के साथ अपने जीवन के नए पड़ाव में कदम रखती है। पीहर को भूलकर सास-ससुर में माता-पिता, देवर-ननद में भाई-बहन की छवि देखती है, किंतु जब यथार्थ से उसका सामना होता है, तब उसके सारे सपने बिखर जाते हैं। उसे पता चलता है कि उसके सुख के दिन समाप्त हो गए। उसके लिए पीहर आराम भूमि थी और ससुराल कर्मभूमि है। जहाँ उसे अच्छे कर्म का फल मार, गाली और ताने के अलावा कुछ भी नहीं मिलने वाला है। सास उससे रात-दिन काम करवाती है। इस संबंध में रामनरेश त्रिपाठी का कहना है— “गाँव के कितने ही घरों में ऐसी ही दशा है। कितने ही घरों में वर्णातीत दुख है। खाने का कष्ट, पहनने का कष्ट, व्यंग्य और ताने का कष्ट, मारपीट का कष्ट, कहाँ तक गिनाया जाए, बहुएँ बेचारी मूक पशु की भाँति सब कुछ सहती रहती हैं। पुरुष इतने कष्ट कभी नहीं सह सकता।”⁷

नारी किसी को अपने कष्टों के बारे में नहीं बताती, बताये भी तो उसके दुखों को दूर करने वाला कौन है। माता-पिता, भाई उसके दुखों को जानकर भी, उसे यातनापूर्ण जीवन से मुक्ति दिलाने में अपने को असमर्थ पाते हैं, क्योंकि विवाह के पश्चात कन्या पर पिता का कोई अधिकार नहीं रह जाता। यह रीति

सदियों से चली आ रही है। नारी की इस वेदना का स्वर चक्की के एक गीत में फूट पड़ता है—

“कई मन कुटो भईया कई मन पीसीला
कई मन रीनीला रसोईया हो रामा
दुख जनि कहिह बाबा के अँगनवा
समवा बईठी बाबा रोईहे हो रामा
ई दुख जनि कहिह माई के अँगनवा
छतिया बिहर माई मरी जाई रामा।”⁸

हिंदू समाज में निःसंतान स्त्री-पुरुष दोनों की भर्त्सना की गई है। किंतु निःसंतान स्त्री सर्वाधिक उपेक्षा की पात्र रही है। भोजपुरी लोकगीतों में संतानहीन नारी की दशा का बहुत ही हृदय विदारक चित्र मिलता है। समाज और परिवार में संतानहीन नारी को विभिन्न प्रकार के व्यंग्य वाणों को सहन करना पड़ता है। समाज में संतानहीन नारी के लिए ‘बाँझ’ शब्द एक घृणित गाली के रूप में प्रचलित है। प्रातःकाल संतानहीन नारी का मुँह देखना बड़ा अशुभ माना जाता है। वह वंश, परंपरा को आगे नहीं बढ़ा सकती, इसलिए उसका मनुष्य के रूप में जन्म लेना व्यर्थ समझा जाता है। नारी की पूर्णता उसकी मातृशक्ति पर निर्भर है। भरे-पूरे परिवार में उसकी मनोवेदना को समझने वाला कोई नहीं होता, वह स्वयं को अकेला महसूस करती है। यथा—

“सासु मोरी कहेली बझिनियाँ ननद ब्रजवासिन हो।
रामा जिनके मैं बारी रे बिआही उहो घर से निकसलिन हो

घरवा से निकसी बझिनिया जंगल बीच ठाढ़ भइली हो।”⁹

इसमें एक ऐसी स्त्री की पीड़ा का चित्रण है जो अपनी ससुराल से संतानहीनता के अपराध में निष्कासित किए जाने पर जंगल में बाघिन और नागिन की शरण में जाती है, पर वे भी उसे नहीं रखती। जन्म देनेवाली माता भी उसे नहीं रखती। उसे ‘उसर’ होने के भय से शरण नहीं देती। यह गीत संतानहीन स्त्री की पीड़ा, सामाजिक तिरस्कार और अन्याय को बखूबी शब्दों में ढाल देती है।

लोकगीतों में हमारे समाज की विडंबना भी तरह-तरह से उभर कर आती है कि पुरुष चाहे संत हो या लंपट, राजा हो या भिखारी वह सदा अपने आपको स्त्री की परीक्षा लेने का अधिकारी समझता है। युगों से स्त्रियाँ बात-बात पर अपने सतीत्व की परीक्षा देती हुई आई हैं। लोकगीतों में बार-बार दर्ज किया गया है कि हर कसौटी पर स्त्री सदा कंचन सिद्ध हुई है, जबकि पुरुष कभी परीक्षा देने के लिए प्रस्तुत तक नहीं हुआ। समाज में पुरुष पर किसी प्रकार का बंधन नहीं है। समाज के समस्त बंधन और नियम नारी पर ही लागू होते हैं। संस्कार, परंपरा, मर्यादा के नाम पर उसके सपनों को बुरी तरह कुचला जाता है। अत्यंत अपमान, तिरस्कार और उपेक्षा सहकर भी स्त्री ने अपनी निर्दोषिता सदा स्थापित की है। नारी कम उम्र में विधवा होने पर भी दूसरा विवाह नहीं कर सकती, किन्तु पुरुष एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता है। लोकगीतों में नारी स्वयं यह स्वीकार करती है कि यदि मुझमें कोई अवगुण होता या बाँझ होती तो सौत आती। स्त्रीत्व के इस अपमान से उपजे दर्द को लोकगीतों में स्त्री की तेजस्विता के साथ प्रतिबिंबित होता देखा जा सकता है। वह पति को चुनौती देती हुई कहती है कि मैं बाँझ नहीं हूँ और मेरे चाहने वालों की कमी नहीं, फिर भी यदि मैं निःसंतान हूँ, तो इसके लिए मैं ही नहीं, पति होने के कारण तुम भी उत्तरदायी हो—

“मैं तो तोरे गले का हार रजवा, काहे को लायो सवतनिया

जहू हम रहती बाँझ-बझिनिया, तब आइत सवतनिया।।”¹⁰

यह अवश्य है कि श्रम के क्षेत्र में पुरुष का उल्लेख अधिक मिलता है, किंतु स्त्रियाँ भी श्रम के क्षेत्र में पुरुषों से कहीं पीछे नहीं हैं। वे पुरुषों के साथ खेतों में काम करती हैं, रोपनी, सोहनी, निराई और कटाई में हाथ बटाती हैं। घर में चक्की पिसती हैं, कुएँ से पानी भरती हैं, चूल्हा-चौका करती हैं और रोटी बनाकर पति के लिए खेतों में पहुँचाती हैं। फिर भी उनके श्रम को कोई महत्व नहीं देता।

बोवाई, रोपाई, कटाई से लेकर चूल्हा-चक्की तक के श्रमगीतों में भी स्त्री की आकांक्षा और वेदना की सांकेतिक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। जाँता और चक्की पर अनाज पीसते समय श्रम-परिहार के लिए गाये जाने वाले गीतों में ससुराल में अमानुषिक अत्याचार झेलने वाली स्त्री अपनी वेदना व्यक्त करती है। धान कूटने के समय गाये जाने वाले गीतों में भी स्त्री पीड़ा के स्वर सुने जा सकते हैं। कितनी सुकुमार वधुओं को कितने कठिन श्रम का कार्य संपन्न करने होते हैं। स्त्रियों का पोर-पोर इस दैनिक श्रम से दुखता है, लेकिन कभी कोई उनकी ओर ध्यान नहीं देता—

“जहिया से अइली पिया तोहरे महलिया में
रात-दिन कइली टहलिया रे पियवा
घर के करत काम सूखल देहि के चाम
सुखवा सपनवा होई गइले रे पियवा।”¹¹
निष्कर्ष: यह कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं सदी

में महिलाओं का विमर्श भले ही बौद्धिक जगत के लिए और हिंदी साहित्य में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, लेकिन लोक परंपराओं में अभी भी भोजपुरी समाज में पुरुषवादी सोच कब्जा कर बैठा है। भारत के अन्य ग्रामीण समाज की तरह भोजपुरी समाज में भी स्त्रियों की शोचनीय दशा के पीछे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संरचना एवं सामंती सोच का बहुत बड़ा हाथ है। इनके अलावा समाज में प्रचलित बाल-विवाह, बहू-विवाह, अनमेल विवाह के कारण भी स्त्रियों का जीवन नारकीय बना हुआ है। दोहन-शोषण की नीति के तहत स्त्रियाँ आज भी उतनी ही दीन-हीन हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा, सचेतनता, अधिकार संबंधी जागरूकता से दूर होने के कारण स्त्रियाँ इन जटिल परिस्थितियों से बाहर नहीं आ पा रही हैं। इन्हें उचित दिशा-निर्देश एवं अपनी परिस्थिति संबंधी सही जानकारी ही उनकी स्थिति को बदल सकता है।

संदर्भ सूची

- (1) दास श्रीकृष्ण, लोकगीतों की समाजिक व्याख्या, पृष्ठ-71, (2) प्रसाद माता (संपादक), लोकगीतों में वेदना और विद्रोह के स्वर, सम्यक प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ-29, (3) उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव, भोजपुरी लोकगीत भाग-1, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण-2011, पृष्ठ-125, (4) प्रसाद माता (संपादक), लोकगीतों में वेदना और विद्रोह के स्वर, सम्यक प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ-32, (5) प्रसाद माता (संपादक), लोकगीतों में वेदना और विद्रोह के स्वर, सम्यक प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ-29, (6) उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव, भोजपुरी लोकगीत भाग-1, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण-2011, पृष्ठ-71, (7) त्रिपाठी रामनेरश- हमारा ग्राम साहित्य, हिंदी मंदिर, प्रयाग, संस्करण 1940, पृष्ठ-21, (8) सिन्हा ज्योति, भोजपुरी लोकगीतों के विविध आयाम, ओमेगा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2013, पृष्ठ-34, (9) प्रसाद माता (संपादक), लोकगीतों में वेदना और विद्रोह के स्वर, सम्यक प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2007, पृष्ठ-380, (10) उपाध्याय डॉ. कृष्ण देव, भोजपुरी लोकगीत, भाग-1, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण-2011, पृष्ठ-389, (11) उपाध्याय डॉ. कृष्णदेव, भोजपुरी लोकगीत भाग-2, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण-2011, पृष्ठ-269.

एसोसिएट प्रोफेसर
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय
मेदिनीपुर (प. बंगाल), मो. : 9932402018

भोजपुरी लोककथा : सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ

- डॉ. रंजना शर्मा

हर देश, हर संस्कृति और हर जाति की अपनी लोककथाएँ होती हैं; जिसे हर घर के बुजुर्ग अक्सर अपनी जिह्वा पर धारण किए रहते हैं और उसे खासकर बच्चों को सुनाया करते हैं। बच्चे इन कथाओं को बड़े चाव से सुनते हैं। प्रश्न उठता है कि लोककथाओं के रचयिता कौन हैं? लोककथाओं का निर्माण कैसे हुआ? एवं लोककथाओं की सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक भूमिका क्या है? इस प्रकार के प्रश्नों का उठाया जाना स्वाभाविक है। इन प्रश्नों के उत्तर न सिर्फ हमें रोमांचित और आह्लादित करते हैं वरन विशेष भावभूमि पर ले जाकर किसी निर्दिष्ट सभ्यता, समाज और जाति की बनावट एवं बुनावट की आंतरिक संरचना को उद्घाटित भी करते हैं जिसके द्वारा उस समाज और जाति विशेष की जड़ों से अधुनातन समय तक की विकास यात्रा की एक ब्लूप्रिंट भी तैयार किया जा सकता है।

वास्तव में 'लोक' का तात्पर्य नाना प्रकार के वैविध्यों से भरा-पूरा विराट मानव समुदाय से है, जो बाहरी चमक-दमक से दूर, दिखावे से दूर, अति सामान्य रूप से अपना जीवन यापन करते हैं। आरंभ से ही लोक का जीवन नाना प्रकार की अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं के बीच सृजित होने के कारण इसने जीवन-जगत के विभिन्न उतार-चढ़ाव को काफी करीब से देखा और परखा है। हमारे आदिम पुरुष (मनुष्य मात्र) समूहों में जीवन यापन करते थे। प्रागैतिहासिक काल में पत्थर तथा लकड़ी के औजारों ने उनके जीवन के स्वरूप को प्रभावित किया। फिर पत्थर के स्थान पर धातु निर्मित औजार बनाये जाने लगे। धातु ने मनुष्य के जीवन यापन की शैली को आमूल-चूल

परिवर्तित कर दिया। आगे चलकर आग, औजार और चक्के के निर्माण ने लोगों की सोच को एकदम परिवर्तित कर दिया। अब मनुष्य खानाबदोशों की जिंदगी जीने के बजाय खेती पर आधारित जीवन जीने को आदी हुआ। जैसे-जैसे मनुष्य जीवन आधार के नए-नए स्वरूपों का ईजाद करता गया, वैसे-वैसे जीने के तौर-तरीके, जीवन पद्धति एवं सामाजिक जीवन की संरचना और स्वरूप बदलते गये। प्रस्तर युग से लौह युग तक की यात्रा और लौह युग से वैज्ञानिक युग के सफर में इस विराट 'लोक' ने जीवन के नाना रंग रूप देखे हैं। इन्हीं रंग, रूपों को हर देश, हर जाति, हर संस्कृति के लोगों ने अपनी वाचन शैली द्वारा जिह्वाग्र पर संकलित कर लिया और कालांतर में इन्हें वाचिक कथाओं, गाथाओं, गीतों, वार्ताओं में संयोजित करते हुए पीढ़ी दर पीढ़ी अपनी जुबान पर लिए आगे चलते रहे।

आरंभिक मनुष्य का जीवन सीमित साधनों पर आधारित होने के कारण क्षुधापूर्ति और जीवन को बचाए रखना ही महत्वपूर्ण था। जंगल तथा जंगली जानवरों के बीच, दो पैरों तथा दो हाथों वाले जीव में सामाजिक बोध के उदय के पीछे उसकी भाषा, बुद्धि, तर्क एवं समूहबद्ध जीवन यापन शैली ही महत्वपूर्ण रही होगी, क्योंकि पहले-पहल मनुष्य में सामाजिक बोध का संबंध सीधे-सीधे क्षुधापूर्ति और आत्मरक्षा के भाव से जुड़ा हुआ था। जैसे-जैसे मनुष्य अपनी सुरक्षा एवं स्वनिर्भरता के प्रति आश्वस्त होता गया वैसे-वैसे उसके सामाजिक बोध में परिवर्तन, विकास और विस्तार होता गया। उसने तमाम रीति-नीति, आचार-विचार, संबंध-संस्कार, संस्कृति, रिवाज, परंपरा, इतिहास, समाज-नीति इत्यादि घुला-मिला

लिया होगा, परिणामस्वरूप सामाजिकता के व्यापक स्वरूप का उदय हुआ होगा एवं जीवन जगत की सारी बातें जुड़ती चली गई होंगी। विकास के इसी क्रम में जीवन के नाना उथल-पुथल में मनुष्य को अनेक रोचक तथा हृदय द्रावक परिस्थितियों से सामना करना पड़ा होगा। इन्हीं परिस्थितियों तथा घटनाओं को कपोल-कल्पनाओं से जोड़कर मानव समुदाय कब इसे कथाओं या गाथाओं का स्वरूप दे बैठा इससे वह स्वयं भी नितांत अनभिज्ञ ही रहा है। गौरतलब यह है कि मानव सभ्यता और समाज के इतिहास में आरंभिक मनुष्य के जीवन के संघात एवं संघर्ष लगभग एक जैसे रहे हैं। चाहे वह एशियाई मुल्क हो या अफ्रीकी, चाहे वह समुद्र तटीय जीवन शैली हो या पर्वतीय अंचलों में रहने वाली वन जातियाँ। भले ही भौगोलिक परिस्थितियाँ भिन्न रहीं हों, परिवेश की भिन्नता रहीं हों, लेकिन आम मनुष्य के जीवन यापन करने की दुर्दम जिजीविषा और संघर्ष एक सी रही है। जिजीविषा के चरम आकर्षण के समक्ष पस्त होते हालातों ने उसे साहसी, संघर्षशील और कर्मठ बनाया। इसीलिए उसकी कथाओं में ‘लोक’ का जो निहितार्थ स्पष्ट होता है, वह आत्मकेंद्रित मनुष्य के बजाय ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ के भाव से जुड़ा हुआ है एवं उसमें कर्म संस्कृति की प्रधानता है। मुष्यता, मानवता और सामाजिक दायबद्धता के सामने समस्त संकीर्णताओं तथा आत्मकेंद्रिकता का बोध तिरोहित हो जाता है और रह जाता है केवल ‘सर्वे भवन्तुः सुखिनः’। इस सत्य को हर युग के लोक ने किसी न किसी रूप में महसूस किया और अंततः इसी में उसके सारे कर्म, सारा संघर्ष, सारी प्राप्ति-अप्राप्ति विसर्जित हो गयी। लोककथाओं के बनने का इतिहास इससे भिन्न नहीं है।

दरअसल मनुष्य ने अपने जीवन यापन करने की शैली की शुरुआत लगभग समान रूप से किया होगा। भोजपुरी लोकजीवन भी इससे अलग नहीं है। भोजपुरी

लोककथाओं का स्वरूप इसके लोकजीवन के समान व्यापक, विराट, समसामयिक जीवनबोध, सामाजिक संवेदनाओं और सांस्कृतिक समृद्धियों से परिपूर्ण है। इन लोककथाओं में इस प्रदेश विशेष के लोगों की जीवन शैली, धार्मिक आस्था, सामाजिक आचार-विचार एवं उत्कट जीवटता के अतिरिक्त संघर्षमयी जीवन दृष्टि का भी नियोजन हुआ है। मनुष्य के सामने जैसे-जैसे जीवन तथा जीविकोपार्जन की समस्या सघन होती गयी वैसे-वैसे उसमें जीवन धर्मी संघर्ष का वर्चस्व होता गया। इस क्रम में वह स्वेच्छा पूर्वक या परिस्थितिनुसार स्थानान्तरित हुआ है या होने के लिए बाध्य हुआ है। गौरतलब यह है कि भोजपुर प्रदेश के लोगों का स्थानान्तरण केवल अखिल भारतीय स्तर पर नहीं हुआ है, ये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी स्थानान्तरित हुए हैं।

प्राचीन काल से ही भोजपुर राज्य अत्यंत प्रसिद्ध रहा है। “इसके शासक उज्जैन राजपूत प्राचीन काल में अपने मूल स्थान मालवा से बिहार चले आये थे। मध्ययुग के भारतीय इतिहास-विशेषतः पश्चिमी बिहार के इतिहास में इन राजपूतों का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है।”

बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के 1871 के जर्नल में छोटानागपुर, पचेत तथा पलामू के संबंध में इतिहास लेखक ब्लॉचमैन ने भोजपुर का भी उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि “बंगाल के पश्चिमी प्रांत तथा दक्षिणी बिहार के राजा, दिल्ली के सम्राट के लिए अत्यंत दुःखदायी थे। अकबर के राजत्वकाल में बक्सर के समीप भोजपुर के राजा दलपत, सम्राट से पराजित होकर बंदी किए गए और अंत में जब बहुत आर्थिक दंड के पश्चात वे बंधन मुक्त हुए तो, उन्होंने पुनः सम्राट के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति की। जहाँगीर के राजत्वकाल में भी उनकी क्रांति चलती रही, जिसके परिणामस्वरूप भोजपुर लूटा गया तथा उनके उत्तराधिकारी प्रताप को शाहजहाँ ने फांसी का दंड

दिया।”² अर्थात् भोजपुर प्रदेश आरंभ से ही अपनी वीरता, पराक्रम और संघर्षधर्मिता के लिए प्रसिद्ध रहा है। जीवन के प्रति असीम ऊर्जा और जीवटता ही कालांतर में उन्हें अपनी मूल जमीन से उखाड़ कर भारत के बाहर भी ले गयी। आज मॉरिशस, फीजी, गुयाना, त्रिनिदाद, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रीका के देशों में, जहाँ भी हिंदी बोली जाती है वास्तव में वह भोजपुरी ही है, जिसे बोलने वाले मूलतः पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से आए हुए आम मेहनतकश लोगों के वंशज हैं।³ तात्पर्य यह कि भोजपुरी लोक-संस्कृति और लोकसाहित्य में इस प्रदेश विशेष के लोगों के संघर्ष में देशीपन युक्त स्थानीयता, राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का मिला-जुला स्वरूप मौजूद है। स्थानीयता और सर्वदेशीयता भोजपुरी लोकजीवन की संस्कृति और लोकसाहित्य का निजी वैशिष्ट्य है, फिर चाहे वह लोकगीतों के रूप में हो या लोककथाओं के रूप में, लोकगाथाओं या लोकनाट्य शैली (नौटंकी, रासलीला, रामलीला) के रूप में। ‘लोक’ की निजता से लेकर ‘विश्व मानव’ के रूप में अपनी वैश्विक मानवीयता का प्रसार एवं विस्तार लोककथाओं तथा लोकगाथाओं के द्वारा ही अधिक संभव बन पाया है।

मूलतः लोककथाओं में कथा की बनावट अत्यंत सहज सरल ढंग से होती है तथा इसमें जीवन के उतार-चढ़ाव की बुनावट भी सरल और अपने परिपार्श्व के अनुरूप होती है। ग्रामीण चेतना उसे अपने हिसाब से ग्रहण करती है तथा अपने हिसाब से जामा पहनाती है तथा अंत में निर्णय भी लोक जीवन के अनुरूप ही लेती है। कथा में निर्णायक तत्वों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण और संदेश देने वाली होती है। जैसे ‘कर्म के अनुसार फल’ अर्थात् कर्म का स्वरूप जैसा होगा उसके फल की प्राप्ति भी वैसी ही होगी। यही कारण है कि ग्रामीण चेतना का बहुलांश कर्मफल, भाग्यफल, नियति जैसे विश्वासों और मान्यताओं के इर्द-गिर्द

चक्कर लगाता रहता है। ग्रामीण समाज का मानस नियति पर निर्भरशील होने के कारण ही अनेक प्रकार के संस्कारों/कुसंस्कारों और अंध मान्यताओं से घिरा होता है तथापि इसके आंतरिक संरचना की बुनावट दूसरों के दुःख दर्द में शरीक होने में ही अंतर्निहित रहता है।

भोजपुरी लोककथाओं के विश्लेषण से दो महत्वपूर्ण बातें उभर कर सामने आती हैं— लोककथाओं में नियोजित होने वाली कथावस्तु और कथानक रूढ़ियाँ। भोजपुरी लोक कथाओं में कथावस्तु ग्रामीण जन मानस की चेतना में अनुप्राणित दिखाई देती है। ‘नहोरी की वापसी’ कथा का नायक नहोरी अपनी जीविका की तलाश में नगर की ओर जाता है। वहाँ जाकर अपनी रोजी-रोटी की तलाश में भटकता है। पर किसी नायिका (रानी, राक्षसी या नरेतर प्राणी के रूपांतरित फॉर्म) द्वारा उसे रोजगार हासिल हो जाता है और वह अपने गाँव परिवार को भूल जाता है। पर एक दिन अचानक उसे सारी विस्मृत बातें याद आ जाती हैं और वह सभी परिस्थितियों से छूटकर वापस गाँव लौट आता है और सपरिवार सुखपूर्वक रहने लगते हैं। सम्पूर्ण कथा एक नियोजित कथानक रूढ़ि के माध्यम से आगे बढ़ती है और अंततः कथा की समाप्ति शांत रस में होती है। कथा को चरम अवस्था तक पहुँचाने के लिए अचर (constant) और चर (variable) घटकों को शामिल किया गया है एवं उनके माध्यम से कथावस्तु और कथानक रूढ़ियों का ताना-बाना बुना जाता है, जिसका गूढ़ संबंध कथाओं में निहित संदेश से है।

वाचिक अथवा मौखिक परंपरा से आने वाली कथाओं में मानवेत्तर जगत के प्राणी भी कथानक रूढ़ियों के रूप में प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। लोकसाहित्य के पश्चिमी विद्वान वेसेलोव्स्की का मानना है कि “कथानक रूढ़ियाँ अखण्डनीय होती हैं। परंतु

लोककथाओं में कथानक रूढ़ियाँ रूपांतरणीय होती हैं और वे चर-अचर को जोड़ती हुई कथा विन्यस्त करती हैं।” लोककथाएँ लोकजीवन में निहित सामाजिकता और सांस्कृतिक बोध की वाहिका होती हैं। जो स्वरूप लोककथाओं में उपलब्ध होता है वह मूलतः मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति से ही उभर कर सामने आता है। मनुष्य के अंदर निहित सत्, रज, तम गुण का अंततोगत्वा सत् में परिणत होना ही चरम सत्य है तथापि मनुष्य जीवन पर्यन्त तमाम प्रकार के रज और तम गुण वाले कर्मों में लिप्त रहता है। जीवन के अनुभव और परिपक्वता उसे सत्य के करीब ले जाती है और अंत में सारी दुर्वृत्तियाँ, सारा मलाल तिरोहित हो जाता है।

“चिड़िया का संघर्ष” लोककथा में संघर्ष और आपसी सहयोगिता की सर्वोपरिता की बात कही गई है। संघर्ष केवल मनुष्य ही नहीं करते पृथ्वी पर रह रहे अन्य समस्त प्राणी भी करते हैं। परन्तु आपसी सहयोग से फिर उबर भी जाते हैं। चिड़िया की नजर बूट (चना) के एक दाने पर पड़ती है, वह उसे दरने के लिए जाँते के पास जाती है। जाँता दाना तो दर (तोड़) देता है पर दाना खूँटे में अटक जाता है। चिड़िया खूँटे से विनती करती है कि उसका दाना वापस दे दे ताकि वह खाये पीये और परदेस जा सके। पर जाँता उसे दाना नहीं देता है। तब चिड़िया बढ़ई के पास जाती है और उससे फरियाद करती है कि “बढ़ई! बढ़ई! खूँटा फारो, खूँटा में मोर दाल है, क्या खाऊँ, क्या पिऊँ, क्या लेकर परदेस जाऊँ... ? पर बढ़ई ने उसे सीधा जवाब दे दिया, तुम्हारे एक दाल के लिए मैं खूँटा नहीं फाड़ूँगा। पर चिड़िया हार नहीं मानती। वह राजा के पास जाती है। राजा से बढ़ई को दंड देने की फरियाद करती है। पर राजा तो राजा ठहरा। पूरे राज्य का सर्वाधिकारी। उसे क्या पड़ी कि वह अपना समय चिड़िया के दाने निकालने में बर्बाद करें ? इसलिए वह

भी ना कर देता है। तब चिड़िया रानी के पास जाती है, फिर साँप, लाठी, आग, समुंदर, इंद्र के हाथी, रस्सी, चूहा, बिल्ली सबके पास जाती है। पर हारती नहीं। अंत में बिल्ली के तैयार होने पर सब एक के बाद एक तैयार हो जाते हैं और खूँटा स्वयं फट जाता है और बूट के दाने स्वयं निकल आते हैं। चिड़िया यहाँ मात्र प्रतीक के रूप में प्रयुक्त की गई है। जीवन की सच्चाई तो यह है कि जीवन की सारी गतिविधियाँ परस्पर के तालमेल से चलती हैं।” ‘अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता’ जीवन सामूहिकता का ही दूसरा नाम है। चाहे वह, परिवार, समाज या राष्ट्र के विराट रूप में ही निहित क्यों न हो ? समूह में रहने वाला प्राणी बिना परस्पर के सहयोग से किसी भी प्रकार जीवन यात्रा पूरी नहीं कर पाता है। सामूहिक रूप में जीवन जीने की कला ग्रामीण जन समाजों में सघन रूप में दिखाई देती है।

वास्तव में लोकजीवन सहज, सरल रूप में जीवन यापन करने वाले लोगों के समुदाय का पर्याय है। जहाँ आम मेहनतकश और खटकर खाने वाले आदमी को जीवन पर्यंत समय, समाज और जीवन के संघातों से दो-चार होना पड़ता है। तथापि ग्रामीण जन समाज, मूलतः लोक संस्कृति के नाना रूपों को अपने रंगों में समेटे चलता है। ग्रामीण जनमानस की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सादगी में निहित है। उसके सादगी पूर्ण जीवन में धर्म, अध्यात्म, भाग्यवाद, कर्मफल महत्वपूर्ण घटकों के रूप में मौजूद रहता है। यही कारण है कि वे अपने जीवन में घटित होने वाली घटनाओं को अत्यंत जटिल रूप में देखने के बजाए सीधे-सादे रूप में देखने के आदी होते हैं। लोककथाओं में सर्वत्र यही स्वर गूँजता नजर आता है। ‘कर भला तो हो भला’ का विश्वास लगभग सभी भाषाओं में दिखाई देता है। सच्चाई, ईमानदारी, कर्तव्य परायणता जैसे भावबोध का जितना सादगी पूर्ण ढंग और गहराई

से लोकजीवन में बोलबाला रहा है, वह शिष्ट या आभिजात्य साहित्य में अन्य रूप में उपलब्ध नहीं होता है। इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि लोककथाओं में कुटिलता, जटिलता, कुत्सित मानसिकता, आलस्य, कलहप्रियता, ईर्ष्या, हिंसा और आपसी वैमनस्य का बोध नहीं पाया जाता है। क्योंकि मानव मात्र विविध प्रकार के विकारों का पुतला है। वह अपनी मानसिक मनोवृत्ति और मनोविकारों द्वारा निर्मित एवं नियंत्रित होता है, परिणामस्वरूप मनुष्य न दूध समान सफेद होता है न काजल समान काला।

‘चार चोर’ कथा में चार चोर अपनी-अपनी कार्य दक्षता के आधार पर एकजूट होते हैं और चोरियाँ करते हैं। एक बार चोरी करके जब माल बाँटने की बारी आती है, तो थके और भूखे होने के कारण भोजन की तलाश में दो चोरों को पास के नगर में भोजन लेने भेज देते हैं। वहाँ जाकर उन दोनों के मन में लालच जन्म ले लेता है। अतः वे खुद खाना खाकर बाकी बचे दो चोरों के खाने में विष मिला देते हैं। इधर प्रतीक्षा में बैठे दो चोर भी ज्यादा माल के लोभ में आपस में सलाह करके उन दोनों पर हमला बोलकर उन्हें मार डालते हैं। इसके बाद उन्हें भूख का ध्यान आता है। फिर विष मिला खाना भरपेट खाते हैं, और वहीं मर जाते हैं। “अपनी इस योजना के मुताबिक तीन और चार नंबर चोर वही घात लगाकर बैठ गए फिर बाजार से एक और दो नंबर चोर के लौटते ही हथियार लेकर उन पर टूट पड़े क्योंकि तैयारी उन्होंने पहले से ही कर ली थी। इसीलिए चंद मिनटों में ही उन दोनों को मार कर ढेर कर दिया। उन दोनों को मार चुकने के बाद अब तीन और चार नंबर चोर का ध्यान उन दोनों द्वारा बाजार से लाये खाने पर गया। गर्म और ताजा खाने की मीठी खुशबू आ रही थी। फिर क्या था वह उस पर टूट पड़े। सोचा खाने के बाद माल असबाब बाँट लेंगे। लेकिन खाना खाते ही तिलमिलाकर दोनों

तीन और चार नंबर चोर भी वही ढेर हो गए, जहाँ पहले से ही एक और दो नंबर चोर मरे पड़े थे।”

चारों चोरों की चोरी की कला धरी की धरी रह गई। ज्यादा पाने के लोभ में चारों की मृत्यु हो गई। चोरी करना गलत है। इसलिए लोकजीवन में प्रचलित कथाओं में कर्मफल के वर्चस्व के कारण गलत काम की सजा ‘संस्था’ के बजाए नियति पर छोड़ दिया जाता है। ‘जैसी करनी वैसी भरनी’ जैसे लोकमत के कारण सजा के लिए पारंपरिक न्याय पद्धति का चयन ‘कर्मफल’ पर अत्यधिक विश्वास को ही दर्शाता है।

‘ऊँट, फूँट और सियार’ कथा में ऊँट और सियार की दोस्ती की कहानी है। परंतु सियार को धूर्त पशु माना जाता है। एक बार दोनों ने नदी पार के खेत में फूँट खाने का मन बनाया। फिर दोनों निकल पड़े। रास्ते की नदी को सियार ऊँट पर चढ़कर पार करता है। खेत में फूँट खाते समय सियार का पेट पहले भर जाता है, क्योंकि उसका पेट छोटा है। अभी ऊँट फूँट खा ही रहा था कि सियार ऊँट के मना करने पर हुआ-हुआ चिल्लाने लगा, जिससे रखवाला चला आया और ऊँट की जमकर पिटाई की। इससे ऊँट काफी दुखी हुआ और लौटते समय जब सियार उसकी पीठ पर चढ़ा था तो वह नदी में जानबूझकर लोट गया और सियार नदी में डूब कर मर गया। इस प्रकार ऊँट सियार से अपना बदला लेता है। सही है, ‘जस करनी तस भोग विधाता, नरक जात तब क्यों पछताता!’

‘बीच नदी में पहुँचने के बाद ऊँट ने अपना मौन तोड़ा। अब मुझे पेट की गर्मी बर्दाश्त नहीं हो रही मैं लोटूंगा। इसके बाद सियार चिल्लाता रहा। लेकिन ऊँट लोटने से बाज नहीं आया। बस ऊँट के लोटते ही सियार बीच नदी में डूब कर मर गया। ऊँट जंगल में पहुँच आराम से रहने लगा।’

मनुष्य के जीवन में घात-प्रतिघात के दौर आते

रहते हैं। इन प्रतिकूलताओं के बीच मनुष्य अपना रास्ता चुनता है। जीवन फिर सहज गति से आगे बढ़ जाता है। लोककथाओं का वास्तविक निहितार्थ यही है। जीवन में मिलने वाले सारे लोग, सारी परिस्थितियाँ, सारी चीजें न बिल्कुल अच्छी होती हैं और न ही बिल्कुल बुरी। शायद इसीलिए महात्मा बुद्ध ने मध्यम मार्ग की बात कही थी। जीवन में चरम की स्थिति ही दुःखों का कारण है। लोककथाओं में भी युग-युग से साधारण मनुष्य की सहज अनुभूतियों एवं अनुभवों ने यही सिखाया है। ‘अति सर्वत्र वर्जते:’। हर अवस्था में ‘अति’, अत्यंत घातक हो सकती है। जिस प्रकार सारी वस्तुएं अविश्वसनीय नहीं होती उसी प्रकार समस्त वस्तुएं विश्वसनीय नहीं हो सकती। ‘बंदर और मगरमच्छ’ लोककथा में बंदर और मगरमच्छ की दोस्ती ऐसी ही है। जामुन खाने के लालच में बंदर मगरमच्छ की पीठ पर सवार होकर नदी पार कर रहा था कि तभी “चारों तरफ पानी ही पानी दिखाई पड़ रहा था। मगरमच्छ ने मौका देखकर बंदर से कहा, बंदर भाई! अब मैं तुमको नदी में डुबाऊंगा, हम दोनों तुम्हारा कलेजा खाना चाहते हैं!” मगरमच्छ की बात सुनकर बंदर सन्न रह गया। दोस्ती की आड़ में यह मगरमच्छ धोखा दे रहा है।

‘ढेले और पत्ते’ की कथा भी कम रोचक नहीं है। ढेले और पत्ते को अपनी दोस्ती का बहुत दंभ हो जाता है कि आँधी और पानी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। परंतु “एक दिन आँधी और पानी दोनों एक साथ आया। तब ढेले और पत्ते की दोस्ती काम न आई। सारा दंभ गलत साबित हुआ। ढेला ढिमिला गया और पत्ता उड़िया गया।”

मनुष्य के भीतर विवेक और अविवेक का द्वंद्व निरंतर चलता रहता है और कभी-कभी मनुष्य अविवेक के हाथों पड़कर ऐसा निर्णय लेता है कि सिवाय पछताने के कोई उपाय नहीं रह जाता है। ‘मणिवाला साँप’

और ‘माहूर फल’ में अत्यधिक लोभ के कारण मनुष्य की क्या परिणति होती है, इसी नैतिक विचार को आधार बनाकर ‘मणिवाला साँप’ और ‘माहूर फल’ कथा रची गई है। मणि वाला साँप गरीब किसान की याचना सुनकर रोज दूध पी जाता है और बदले में एक मणि दे जाता है। पर एक दिन जब किसान किसी जरूरी काम से अपने ससुराल गया तो यह जिम्मेदारी अपने बेटे को सौंप गया। किसान के बेटे ने वैसा ही किया जैसा किसान कह गया था। परंतु तीसरे रोज उसके मन में लोभ समा गया और उसने सोचा क्यों ना साँप को मार कर सारी मणि ले ली जाए। बस फिर क्या था “उसने एक मुंगरी छिपा कर साथ ले लिया। फिर जैसे ही नाग बाबा दूध पीने आए उसने मुंगरी से उस पर प्रहार किया। मुंगरी साँप के माथे पर छटक कर लगी जिससे उछल कर साँप ने किसान के बेटे को डंस लिया। जवाब में किसान के बेटे ने पुनः वह मुंगरी साँप के मस्तक पर बजार दी। साँप का काम भी तमाम हो गया। उधर साँप के विष से किसान का वह लड़का अपने को संभाल नहीं सका और वहीं साँप के पास ढेर हो गया।”

इसी प्रकार ‘माहूर फल’ का सुग्गा बीहड़ जंगल से राजा-रानी के लिए अमृतफल लेकर आता है। उस फल की विशेषता यह थी कि उसे खाते ही आदमी फिर से जवान हो जाता है और अब इच्छा होने पर ही उसकी मृत्यु होगी। पर एक साँप छुपकर यह संवाद सुन लेता है और फल पर अपना दाँत गड़ा देता है। साँप नया हो जाता है और भाग जाता है। पर फल में विष मिल जाता है। अब राजा-रानी जब स्नान करके फल खाना चाहते हैं, तो फल कटा पाते हैं। उन्हें शक होता है तो जाँच के लिए एक कुत्ते को फल खिलाते हैं। कुत्ता मर जाता है। तब राजा को क्रोध आता है और वह बुद्धिमान सुग्गे को जान से मरवा डालते हैं और उसे माहूर फल समेत बगीचे में दफना देते हैं।

उसी राज्य में एक वृद्ध दंपति वृद्धावस्था के कारण कुछ न कर पाने से काफी दुःखी थे। उनका बेटा-पतोहू उन्हें मारने को दौड़ते थे। आखिर उन्होंने राजा के बगीचे से माहूर फल चुराकर खाने का निश्चय किया तथा दोनों ने जब माहूर फल से उग आए पेड़ पर लगे फल को रात में चुराकर खाया तो वह फिर से जवान बन गये। तब राजा को सारी घटना की जानकारी मिली तो वह अपना माथा पीट कर रह गए।

लोक कथाओं का रचना संसार लोक जीवन के कार्य व्यापार से इस कदर घुले-मिले होते हैं कि उसकी सारी कल्पनाएँ, मिथकीय चेतनाएँ, बिम्ब एवं प्रतीक योजनाएँ लोकजीवन में अंतर्निहित होती जान पड़ती हैं। इसीलिए कपोल कल्पित कथाओं में भी जीवनानुभूति तथा जीवनानुभव इस कदर घुले-मिले होते हैं कि उन पर सहज विश्वास हो जाता है। आमतौर पर ग्रामीण जन मानस लोक प्रचलित आस्थाओं और विश्वासों द्वारा चालित होता है। जिस प्रकार कर्मफल, भाग्यवाद, नियतिवाद, लोक परलोक की धारणा, धार्मिक कर्म-काण्ड, धर्मभीरु संस्कार, जातिगत मान्यताएँ इन्हें परंपरा से प्राप्त होते हैं उसी प्रकार जीवन के समस्त जोड़-तोड़, हिसाब-किताब अपनी बुजुर्ग परंपरा और पीढ़ियों से आती हुई परिपाटी से ये पाते हैं और उन्हें अत्यंत स्वाभाविक रूप में ग्रहण कर लेते हैं। यह बात आश्चर्यजनक ढंग से चौंकती है कि आज भी तमाम वैज्ञानिक आविष्कारों तथा तीव्रतम बदलते वैज्ञानिक चिंतन प्रक्रिया के बावजूद ग्रामीण जनमानस में ऐसी अनेक आस्थाएँ और विश्वास उसी रूप में प्रचलित हैं जैसे सैकड़ों साल पहले हुआ करती थीं। जीवन के प्रति इतनी सहज स्वीकारोक्ति और अनुराग शायद ही नगरीय बोध की कहानियों में मौजूद रहे हों। यही कारण है कि लोककथाएँ चाहे वे सुखांत हो या दुखांत, वह मानव मन के भीतर उथल-पुथल या उलझन बढ़ाने के बजाय एक निश्चित विश्रान्ति और शीतल

आह्लाद का बोध पैदा करती हैं। आखिर जिसने जैसा किया उसने वैसा पाया। जीवनबोध का यह मंत्र लगभग सभी भाषाओं की लोक कथाओं में एकमेव भाव से दिखाई देता है। इतना ही नहीं अपने-अपने हिस्से का न्याय पाकर लोकजीवन की कथाओं में न कहीं कोई असंतोष है और न ही अविश्वास। जैसे भीषण जलप्लावन के बाद नदी अपने कूल-कछारों में सिमट कर अपनी सहज, सामान्य और स्वाभाविक गति से सागर की ओर, अपने गंतव्य की ओर मंथर गति से बढ़ रही हो।

लोकजीवन का यह मूल मंत्र लोक कथाओं पर संपूर्ण प्रभाव के संग दृष्टिगोचर होता है। विश्व के सभी राष्ट्रों में अब लगभग जनतंत्र का बोलबाला है। जनतांत्रिक जीवन मूल्यों के बीच विज्ञान और तकनीकी सुविधाओं तथा संचार माध्यमों की द्रुतगति वाले युग में लोककथाओं में राजा-रानी का होना और उनकी कथा सुनना अपने आप में रोमांचकारी और आह्लादकारी अनुभव है। राजा आज भी नित्य रात को वेश बदलकर सड़कों पर घूमता है ताकि आम आदमी की पीड़ा और कष्ट के कारणों को जान सके। राजा सिपाहियों के संग नहीं निकलता क्योंकि लोग उसे पहचान जाएंगे। इसलिए वह अकेले चादर ओढ़ कर निकल पड़ता है। आवश्यकता पड़ने पर चोर के साथ चोरी भी करता है। इससे अधिक रोचक और क्या होगा कि चोर चोरी कैसे करता है इसकी जानकारी और खोजबीन स्वयं चोरी करके ही लगाई जा सकती है। इसलिए राजा चोर के संग हो लेता है।

लोककथाओं का संसार पचास या सौ साल पुराना नहीं है यह हजारों साल पुरानी कथाएँ हैं। इसके उत्स और अब तक की यात्रा पथ में न जाने कितने ही रोमांचकारी तथ्य जुटे होंगे, कितने रूपांतरित हुए होंगे और न जाने कितने चलते चलते थककर काल के गाल में समा गए होंगे। तब भी यह यात्रा रुकी नहीं

॥ आलेख ॥

है। इसने अपने यात्रा मार्ग पर अग्रसर होते हुए केवल भोजपुरी की सीमा को पार नहीं किया वरन सुदूर देशों में पहुँचकर वहाँ के जीवन, इतिहास, भौगोलिक वातावरण को आत्मसात करती हुई आज तक अपने अस्तित्व को कायम रखा हुआ है। वास्तव में जब मनुष्य भाषा के माध्यम से अपने अनुभवों को व्यक्त करने की कलाओं से परिचित हुआ होगा तब से लेकर अब तक लोककथाएं न जाने कितने युग युगांतर, वन प्रांतर, शाही दरबारों, अहल्कारों, खेतीहर मजदूरों, ग्रामीण स्त्री-पुरुषों, वृद्धों-वृद्धाओं से होती हुई आज तक बोली-सुनी जाती रही हैं। आधुनिक मुद्रण यंत्रों तथा छपाई की अत्याधुनिक सुविधाओं ने लोकसाहित्य की अन्य विधाओं की भाँति लोककथाओं के संग्रह की दिशा की ओर भी अनेक विद्वान प्रयासरत हुए हैं परंतु अभी तक यह प्रयास अपूर्ण ही माना जाएगा, क्योंकि लोक की इस बहुमूल्य थाती का अनुमान लगाना अत्यंत कठिन कार्य है। इसकी विशालता एवं व्यापकता भारत जैसे विशाल देश में तो और भी कठिन

कार्य है। जहाँ इतनी जातियाँ, जातियों की उपजातियाँ, पेशे, धर्म, समुदाय एवं नाना आस्था के लोग बसते हों, जहाँ वैभिन्न का कोई पारावार नहीं, वहाँ लोक की अनंतता, लोक कथाओं की अनंतता की ओर संकेत करती हैं। ऐसे में भोजपुरी लोककथाओं पर बात करना अपने क्षुद्र प्रयास का प्रदर्शन करना मात्र है। भारत के विशाल भूभाग में ऐसी अनंत लोककथाएँ, लोकगाथाएँ और लोकगीत बिखरे पड़े हैं, जिनका समाज के साथ सीधा और गहरा तादात्म्य है। मनुष्य का सामाजिक प्राणी होना बार-बार इन कथाओं में झंकृत होता है। सामाजिक जीवन में मनुष्य की अनेक सुषुप्त इच्छाओं, आकांक्षाओं, आस्थाओं, विश्वासों कल्पनाओं को लोककथाओं (लोकसाहित्य) में आकार मिलता है। “खिस्सा कहे खिसनी, कोई न पतियात” इन भोजपुरी लोक कथाओं का आकार तब ऊर्ध्वगामी और विशालकाय हो जाता है, जब इनका सरोकार वृहद सामाजिक, सांस्कृतिक सरोकारों से जुड़कर विराट वटवृक्ष बन जाता है।

संदर्भ सूची

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य, डॉ. उदयनारायण तिवारी, पृष्ठ - 232
2. हिंदी भाषा का अंतरराष्ट्रीय संदर्भ, डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ-98
3. भोजपुरी लोक कथा, पुनर्रचना मिथिलेश्वर, एनबीटी, 2009

एसोसिएट प्रोफेसर व हिंदी विभागाध्यक्ष
बेथुन कॉलेज, कोलकाता
मो. : 9830021859

अरुणाचल प्रदेश का न्यीशी समाज और न्यीशी लोक-साहित्य

- डॉ. राजीव रंजन प्रसाद

अरुणाचल प्रदेश की विभिन्न जनजातियों में से एक जनजाति है- 'न्यीशी जनजाति'। यह अरुणाचल प्रदेश में सबसे बड़ा जातीय समूह है। न्यीशी जनजाति के लोग मुख्यतया सात जिलों के निवासी हैं। जैसे :- (1) पापुम पारे, (2) ईस्ट कामेंग, (3) लोअर सुबनसिरी, (4) कुरुंग कुमेय, (5) क्रा दादी, (6) वेस्ट कामेंग, (7) अपर सुबनसीरी इत्यादि। कुरुंग कुमे और क्रा-दादी जैसे ऊपरी जिलों में बसे न्यीशी को 'आया' के नाम से संबोधित किया जाता है लोअर सुबनसिरी, पापुम पारे जैसे निचले हिस्से के जिलों में बसे न्यीशी को 'आकाड़' के नाम से संबोधित किया जाता है। अहोम साम्राज्य और अंग्रेजों के साथ न्यीशी समुदाय का संबंध प्रगाढ़ रहा है। यह दीगर सच्चाई है कि आरंभिक दिनों से ही अरुणाचल प्रदेश में न्यीशी जनजाति का अपना स्वतंत्र जीवन-मूल्य तथा सांस्कृतिक जीवन प्रणाली रही है। न्यीशी समुदाय खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, धार्मिक आस्था, पर्व-त्योहार इत्यादि में अपना विशिष्ट महत्त्व एवं पहचान रखते हैं। इनके द्वारा त्योहारों में मुख्य त्योहार 'न्योकुम' मनाया जाता है जो प्रत्येक वर्ष 26 फरवरी को धूमधाम और भव्य ढंग से मानते हैं। यह त्योहार प्रकृति की आराधना और उपासना से जुड़ा है जिसमें 'न्योकुम आने' की पूजा होती है। न्यीशी जनजाति 'रिकमपादा' नृत्य और 'गेकर सिन्यई' की कथा के लिए प्रसिद्ध है। न्यीशी जनजाति में 'ओपुड़ डो आमा डो आमाड़ रको रकी' लोकगीत लोकप्रिय है जिसमें एक लड़की स्वयं की तारीफ़ करती हुई अपने बारे में बताती है। इसी तरह 'न्याम खाबनाम' एक कारुणिक गीत है जिसे न्यीशी जनजाति के लोग कई मौके पर गाते दिखते हैं। ये उदाहरण न्यीशी जनजाति की जीवंत सांस्कृतिक

निधि हैं जो न्यीशी आदिवासियों की खूबसूरती और उनके मानवीय-सौन्दर्य को बढ़ा देते हैं।

न्यीशी जनजाति मूलतया ग्रामीण लोकवृत्त का परिचायक हैं जिनकी सामाजिक व्यवस्था एवं सांस्कृतिक विधान आज भी पुरा-अनुभव आधारित पारंपरिक लोक-धारणा एवं लोक-विश्वास पर टिकी हुई है। न्यीशी जनजाति के लोग हर कार्य को अपनी परम्परा और संस्कृति के अनुसार ही करते हैं। दुर्गम भौगोलिक स्थिति के कारण वे समूह में रहना पसंद करते हैं। न्यीशी जनजाति के लोग जिलों के हिसाब से स्थान निर्धारित करते हैं- जैसे कोई जिला पहाड़ी स्थानों पर है तो वहाँ पर भी इस जनजाति के लोग रहते हैं। साथ ही, कोई जिला समतल मैदान में स्थित है तो इस जनजाति के लोग समतल मैदान पर भी रहते हैं। कुरुंग कुमे और क्रा दादी जिले पहाड़ी क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं, इसलिए इस जिले में रहने वाले लोग पहाड़ी जगहों पर अपना घर बनाकर रहते हैं और खूब मेहनत के साथ श्रमपूर्वक खेती करते हैं। पहाड़ ही उनकी आजीविका का मुख्य साधन है जिससे उनका घर-बार चलता है। कुछ जिले समतल मैदान के क्षेत्र में आते हैं- जैसे पापुम पारे, लोअर सुबनसिरी इत्यादि। यहाँ रहने वाले लोग खेती करते हैं और कई लोग इसी से अपना व्यावसायिक जीवन चालते हैं। न्यीशी जनजाति के लोग भौगोलिक स्थिति के हिसाब से कई क्षेत्रों में बसे हुए हैं। कई लोग अपनी नौकरी, व्यवसाय, शिक्षा इत्यादि के कारण अपने मूल स्थान पर नहीं रहते क्योंकि उन्हें अपने जीवन को आगे बढ़ाना है और उन्हें किसी और पर निर्भर नहीं रहना है।

पापुम पारे जिले में न्यीशी जनजाति की संख्या सर्वाधिक है। ये लोग न्यीशी भाषा बोलते हैं जो कि

एक तिब्बती-बर्मी भाषा है किन्तु उनकी भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई है, इस पर मतभेद है। न्यीशी जनजाति की परम्परा, दर्शन, आधुनिकता आदि बाकी जनजातियों की तरह होते हुए भी उनसे भिन्न हैं। इस जनजाति के काम-काज, रहन-सहन भी बाकी जनजातियों से समानता रखते हुए भी कुछ-कुछ चीजों में बिलकुल जुदा हैं। न्यीशी जनजाति के पूर्वज पिता आबोतानी को मानते हैं। इनकी वाचिक परंपरा में आबोतानी के संबंध में अनेक मिथक और लोक-कथाएँ प्रचलित हैं। निशि/न्यीशी/लोग न्यीशी भाषा बोलते हैं। यह एक तिब्बती-बर्मी भाषा है किन्तु उनकी भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई है, इस पर अभी मतभेद है। जैसे-तानी शब्द से न्यीशी/निशी शब्द बने, तानी ->निया + निश = न्यीशी और इसी से अन्य पीढ़ी के नाम बने, जैसे- नियायारिंग-रिंगदो-दोपूम-दोदूम इत्यादि पीढ़ियों के नाम बने। इन्हीं नामों के आधार पर न्यीशी जनजाति के लोग अपनी वंश-परंपरा निर्धारित करते हैं कि वह किस वंश के अंतर्गत आते हैं और इसी से अपने पूर्वजों की पहचान करते हैं।

न्यीशी जनजाति आबोतानी को अपना पूर्वज मानते हैं और उनकी वाचिक परम्परा में आबोतानी के संबंध में अनेकानेक मिथक और लोक कथाएँ प्रचलित हैं। ऐसी मान्यता है कि आबोतानी अलौकिक शक्तियों से युक्त पराक्रमी महापुरुष थे। उन्होंने लोक कल्याण के लिए अनेक कष्ट सह कर प्राकृतिक आपदा से लोगों की रक्षा की थी। तानी दर्शन के अनछुए गवाक्ष को जोराम यालाम नाबाम की 'तानी कथाएँ' पुस्तक खूबसूरती से खोलती है जो एक पठनीय पुस्तक है। उसी तरह जोराम यालाम नाबाम की ही औपन्यासिक कृति 'जंगली फूल' एक महत्वपूर्ण कृति है जो आबोतानी की मिथकीय दुनिया को हिंदी भाषा के लोकवृत्त में उपस्थित करके रख देती है और दोनों ही पुस्तक न्यीशी जनजाति के स्वभाव-प्रकृति को समझने में भी मददगार सिद्ध होती हैं। इसी तरह यहाँ के लोक साहित्य पर केन्द्रित जमुना बीनी जी का 'उईमोक',

तुम्बम रिबा 'लिली' जी का 'काताम' और गुम्पी डूसो जी का लिखा 'यापोम' अरुणाचली लोक-कथाएँ आबोतानी के वृत्तांत को प्रकट करते हैं जो रोमांचक और पठनीय है।

न्यीशी जनजाति के लोग ज्यादातर समूह में रहते हैं। इसलिए उनके घर बनाने के तरीके भी काफी भिन्न होते हैं। न्यीशी जनजाति के घर बाँस के बने होते हैं। तोको पत्ते की सहायता से छत का निर्माण किया जाता है। लेकिन अब आधुनिक समय में वे लोग अपनी छत टीन से बनाते हैं या अब पक्के मकान बनने लगे हैं। न्यीशी जनजाति के घर बहुत ही लंबे होते हैं। यह इसलिए लंबे बनाए जाते हैं ताकि एक घर में रहकर भी सभी घरवाले अपने-अपने परिवार के साथ रह सकें। घर एक ही होते हैं परंतु चौका सभी के अलग होते हैं और इसी चौके से पता चल जाता है कि एक ही घर में कितने परिवार रहते हैं। वे लोग अपने सभी काम समूह में एकजुट होकर करना पसंद करते हैं, जैसे- खेती करना हो या फिर अन्य काम। ये लोग अपने जीवन का सबसे अहम अंग खेती को मानते हैं, क्योंकि इसी से उन लोगों का जीवनयापन होता है। साथ ही इसी से उनकी पहचान भी होती है। न्यीशी जनजाति के लोगों की एक विशेष बात है कि उनकी समूह में एक लगाववृत्ति तथा प्रेम झलकता है। जब ये लोग खेती करते हैं तो सभी एक-दूसरे की खेती पर समूह में बारी-बारी खेती करते हैं और जब फसल निकल आती है तो एक-दूसरे के साथ मिल-बांटकर खाते हैं। ये जो बारी-बारी से खेती में जाने की प्रणाली है उसे न्यीशी में 'रगही' कहा जाता है। न्यीशी जनजाति के लोग हर परिस्थिति में एक-दूसरे के साथ ही रहते हैं। चाहे कोई दुःख-सुख हो, खुशी-गम, मृत्यु-उल्लास आदि। ये सभी प्रकार की परिस्थितियों में एक दूसरे का पूरा साथ देते हैं। यदि कभी किसी से लड़ाई भी हो जाए तो भी कुछ समय बाद फिर दोबारा से मिल जाते हैं।

न्यीशी जनजाति की परम्परा के अंतर्गत बहुत सारी

चीजें आती हैं- जैसे शादी, जन्म-मृत्यु, पूजा-पाठ, अनुष्ठान, रीति-रिवाज आदि। इस बारे में न्यीशी समुदाय की गांग्ते यापी जो राजीव गाँधी विश्वविद्यालय की पूर्व विद्यार्थी रहीं हैं, चर्चा करती हुई अपनी जनजाति की विशेषताओं को विस्तार से बताती हैं जिन्हें यहाँ के लोक-साहित्य में प्रचुरता के साथ देखा जा सकता है -

1. शादी की परंपरा : न्यीशी जनजाति की शादी में सबसे मुख्य समय यानी 'मुहुर्त' का महत्त्व होता है। समय के अनुकूल ही सारे नियमों को किया जाता है। शादी के समय बहुत नियमों का पालन करना पड़ता है। जैसे- लड़के वाले लड़की वालों के घर सुअर, मिथुन, बकरी आदि का मांस टोकरियों में लेकर लड़की यानी दुल्हन को देखने जाते हैं। लड़की के घर आए आगंतुकों को दुल्हन की राय लेनी होती है। लड़की के घर वाले से बातचीत करने के बाद दोनों परिवार के लोग आपसी सहमति से विवाह संबंधी प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। ऐसे मौके पर लड़की के घरवाले लड़के के घरवालों को और खासकर होने वाले दुल्हे को उपहार तथा निशानी के तौर पर एक खास माला देते हैं। अन्य बाकी लोग होने वाले दुल्हे के घर वालों को भी उपहार देते हैं। पारंपरिक रूप से उपहार के तौर पर कंगन अथवा 'तालो बाटी' जो कि एक तरह का बर्तन है; दिए जाते हैं। न्यीशी जनजाति के लोगों की शादी में सबसे मुख्य चीज मिथुन नामक पशु होता है। मिथुन सिर्फ शादी में ही नहीं बल्कि अन्य विशेष कार्य यानी पुनीत अवसर में मुख्य भूमिका निभाता है। शादी का सबसे पहला नियम लेन-देन का रहता है जैसे लड़के वालों को लड़की के घर वालों यानी माता-पिता के हिसाब से मुंहमांगी मिथुन देनी पड़ती है; परन्तु इस सौदे में जोर-जबरदस्ती की बात नहीं होती है। वे चाहें तो अपनी माँग को घटा भी सकते हैं। दुल्हन के घर वालों का कार्य यह होता है कि जितनी मिथुन लड़के के तरफ से दिए जायेंगे उतने गहने एवं अन्य जेवर-जवाहरात आदि लड़की

वालों को भी देने पड़ते हैं। न्यीशी विवाह के दौरान पूजा-पाठ आदि किए जाते हैं। वैवाहिक पूजा वगैरह भी किसी ऐसे वैसे इंसान से नहीं बल्कि किसी विशेष पुजारी से करवाते हैं ताकि शादी में कोई अड़चन अथवा विघ्न ना आ जाए। जब लड़की अपनी ससुराल की ओर जा रही होती है तब लड़की माता अपनी बेटी के लिए एक विशेष गीत गाती है जिसे न्यीशी में 'नेम कबनाम' कहते हैं जिसमें दुल्हन की माता अपनी बच्ची के दुनिया में आने से लेकर अब तक के समय का वर्णन करती है यानी बचपन से युवा तक का समय जो साथ में बिताए हैं, जिन मुश्किलों का सामना किया, उन सबका वर्णन इस अवसर-विशेष पर गाए जाने वाले गीत में होता है।

न्यीशी जनजाति में शादी संबंधी तौर-तरीके :

बाल विवाह/सामाजिक विवाह : लड़की के परिवार वाले लड़के के घर जाकर अपनी बेटी के साथ मंगनी कराने की बात करते हैं। यदि लड़के के घरवाले इसके लिए सहमति देते हैं तो दोनों परिवार वाले पुजारी यानी 'निबू' या 'न्युब' को बुलाते हैं ताकि दोनों लड़की और लड़के पक्ष के गुण को देख कर एक राय बना सकें। यदि परस्पर सहमति मिलती है तो सही समय देख कर विवाह कराने की बात करता है और लड़के के परिवार वाले लड़की वालों की संपत्ति के हिसाब से मिथुन देता है।

जबरन शादी : अगर कोई पुरुष किसी लड़की को पहचानता है और उसे पसंद करता है तो वह लड़का उस लड़की के साथ जबरन शादी कर लेता है और फिर बाकी परंपरा पूरी की जाती है। प्रायः यह प्रयास होता है कि लड़का और लड़की में आपसी सहमति बन सके।

जन्म की परंपरा : न्यीशी जनजाति में जन्म के बाद की परंपरा काफी खास तरीके से मनानी या कहें निभानी होती है। जब कोई स्त्री किसी बच्चे को जन्म देने वाली होती है तब घर के सभी मर्दों को घर से जाने देते हैं और गाँव के किसी दाई द्वारा बच्चे को

जन्म दिलाते हैं। जब किसी शिशु का जन्म होता है तब उसके पिता को सात दिन तक घर में उन कामों, या जगहों और चीजों से दूर किया जाता है जिससे शिशु को हानि पहुँच सकती है। इसके साथ ही माँ और बच्चे के खाने-पीने का भी काफी ध्यान रखा जाता है। इसके साथ ही जब शिशु सात दिन का हो जाता है तब उसके नामकरण का समय आता है। बच्चे के जन्म का समय, परिवेश आदि को ध्यान में रखकर उसका नाम रखा जाता है। जन्म के समय बच्चे से संबंधित लोग अपनी तरफ से कुछ न कुछ उपहार लाते हैं और जो बच्चे के करीबी रिश्तेदार होते हैं उन्हें कुछ खास उपहार या कोई चुनी हुई कीमती चीज देनी पड़ती है ताकि बच्चे की विशेषता में कोई कमी न आए एवं बच्चे को कोई हानि न पहुँचे। बच्चे की मासी को एक विशेष कार्य करना पड़ता है। वह यह है कि उन्हें बच्चे के दोनों हाथों और पाँव में काला धागा बाँधना होता है। इससे बच्चे की नजर से सुरक्षा होती है।

पूजा पाठ की परंपरा : न्यीशी जनजाति में पूजा-पाठ की अलग-अलग प्रक्रिया एवं विधि प्रयोग होते हैं। पूजा करने की विधि शादी करने के लिए अलग, बच्चे के जन्म के लिए अलग, त्योहार के लिए अलग और बीमारियों के लिए अलग होती है। किसी भी पूजा के लिए पशु का बलिदान अहम माना जाता है। बिना किसी पशु की बलि के कोई भी पूजा या उसकी प्रक्रिया पूरी नहीं हो सकती है। किसी भी पूजा के लिए किसी भी पशु की बलि दी जा सकती है लेकिन बीमारियों एवं शादी में पूजा के लिए मिथुन की बलि चढ़ाई जाती है।

न्यीशी जनजाति में लोक-दर्शन : न्यीशी जनजाति की सांस्कृतिक उपलब्धि एवं गौरव उनका प्रकृतिजीवी होना है। वे ईश्वर के साकार रूप में विश्वास करने की जगह सम्पूर्ण प्रकृति में अपनी आस्था संजोते हैं। वे कुदरती तौर पर हर तरह के जीव-जगत, प्राकृतिक सम्पदा, नदी, घाटी, पहाड़, खेत, जंगल, पत्थर, पानी आदि सबको अपना देवता मानते हैं।

न्यीशी जनजाति आबोतानी को अपना पुरखा यानी पितृ-पुरुष मानते हैं। इस परम्परा को मानने के कारण उनकी दृष्टि में दो नाम सबसे महत्वपूर्ण हैं— दोन्यी एवं पोलो। ‘दोन्यी’ मतलब सूर्य जिन्हें न्यीशी जनजाति के लोग माता कहकर सम्बोधित करते हैं, तो इसी तरह ‘पोलो’ यानि चन्द्रमा जिन्हें इस जनजाति के सभी लोग अपना पिता कहकर बुलाते हैं। न्यीशी जनजाति के लोक-दर्शन की बड़ी खूबी यह है कि कुछ भी गुप्त अथवा गोपनीय नहीं है। अधिसंख्य चीजें खुले तौर पर स्पष्ट एवं नंगी आँखों से देखी जा सकती हैं। न्यीशी जनजाति के लोक-दर्शन को हम निम्न भूमिकाओं में समझ सकते हैं :—

क) रहन-सहन : न्यीशी जनजाति के रहन-सहन के तरीके बाकी जनजातियों से थोड़े अलग होते हैं। इस जनजाति के लोग बांस से बने अपने घरों में रहते हैं जिसे ‘चांग घर’ कहा जाता है। इसमें नीचे का हिस्सा पेड़ों की लकड़ी का होता है, बीच का हिस्सा बांस का बनाया जाता है और छत का निर्माण पत्तों से किया जाता है। इस जनजाति के लोग अपने घर को लंबा बनाते हैं। लंबा बनाने का कारण होता है उस घर में जितने भी परिवार हैं, सब एक साथ रह सकें। परिवार वालों के चूल्हे-चौके अपने अलग होते हैं। इससे यह पता लगाया जा सकता है कि एक घर में कितने परिवार रहते हैं; जितने ही चूल्हे-चौके होंगे, उस घर में उतने ही परिवार रहते हैं।

ख) खान-पान : इस जनजाति के लोग मुख्य रूप से चावल, मीट और हरी सब्जियाँ खाते हैं। पत्तेदार सब्जियों का प्रयोग न्यीशी जनजाति सर्वाधिक करती है। इन लोगों का मानना है कि खेती-बारी में स्त्री या पुरुष जितनी मेहनत करते हैं, उन्हें उतना ही भोजन करना चाहिए। ये लोग शरीर को सक्रिय रखने के लिए मदिरा का भी सेवन करते हैं। इस मदिरा को न्यीशी जनजाति में ‘ऊपो-पोतुक’ कहा जाता है। अर्थात् मदिरा या शराब का सबसे अच्छा हिस्सा। इस का निर्माण चावल, महुआ आदि से किया जाता है।

इस जनजाति के लोग ज्यादातर अपने खेतों में उपजाई हुई चीजों का इस्तेमाल करते हैं क्योंकि इससे सेहत भी अच्छी बनती है और शरीर रोगमुक्त रहता है। यूँ तो सभी जनजाति के खान-पान की अपनी-अपनी विशेषता होती हैं; जहाँ तक न्यीशी जनजाति के खान-पान की बात है, तो वह भी बेहद खास होती हैं। न्यीशी जनजाति की खान-पान विशेषकर 'आपुड़' बहुत ही ज्यादा प्रचलित है, जो चावल एवं मडुआ से बनते हैं। 'आपुड़' को न्यीशी में 'उपो' या 'ओपो' कहते हैं और 'आपुड़' हर स्तर पर बहुत ही अहम भूमिका निभाती है क्योंकि शादी हो या त्योहार हो, किसी का जन्म हो या मृत्यु, खुशी के पल, दुख के पल हर स्थिति में आपुड़ को एक सहज पेय पदार्थ की तरह लेते हैं। किसी कार्यक्रम के लिए हो या कोई थकान दूर करने के लिए हो, हर जगह इसका इस्तेमाल होता है। न्यीशी जनजाति के जंगली फलों में निम्नलिखित नाम आते हैं- 'हुलिंग', 'नीम्ब', 'तालड़', 'बिलाक', 'ताप्ही', 'लाले-राय' 'दोयाक', 'ताकुक', 'मेले', 'मेकूड़' आदि। ये सभी नाम न्यीशी जनजाति के घरों में पकाया जाता है।

उदूड़ पड़नम : इसमें बांस/बम्बू के अंदर पकवानों को पकाया जाता है। इसमें चावल, सब्जी, मीट आदि पकाया जा सकता है। उदूड़ पड़नम प्रायः त्योहार के समय में पकाया जाता है।

हुली : हुली एक विशेष प्रकार के पत्तों से बनी चटनी को कहा जाता है। ये पत्ते जंगल में मिलते हैं। इसके कुछ पत्ते खट्टे भी होते हैं और इसे बनाने से लेकर खाने तक बहुत हंसी-खुशी व प्रेम की भावना रहती है। सभी इन क्षणों में सामूहिक भाव-बोध से भरे होते हैं जो उनकी निकटता और लगाव का परिचायक है।

अमजी : अमजी शब्द चावल के लिए बना है जो पहले चावल लाया जाता है उसे आधे पकाकर और फिर उसे कूटकर खाते हैं। अमजी खाने की जो प्रक्रिया है वह न्यीशी जनजाति में बहुत ही ज्यादा प्रचलित है।

पोने : पोने शब्द 'उपो' से उत्पन्न हुआ है। उपो से पोने बनते हैं। इसलिए इसे पोने कहा गया है। आपुक या उपो को बनाने से पहले जो मूल रूप होता है उसे पोने कहा जाता है। पोने को थोड़ा सा मग में निकालकर चीनी डालकर मिलाकर खाया जाता है।

न्यीशी जनजाति की विशेष सामग्री जिसे न्यीशी जनजाति के लोग ज्यादा इस्तेमाल करते हैं और इस सामग्री के बिना न्यीशी जनजाति का कोई भी पकवान नहीं बनकर तैयार होता है, वे विशेष सामग्री हैं- 'हिमुप', 'शताक', 'तालूम' इत्यादि बांस से बनते हैं और कुछ अन्य हैं- 'तानाम' (तील), 'तालाप' अदि। इन सभी से अलग 'दुगू ममनम' एक पकवान है जिसे आग में पकाया जाता है। इसमें चावल के पकने के बाद जो पानी बचता है उसे दूसरे बर्तन में रखते हैं और गर्म चावल के ऊपर सब्जी डाल दी जाती है, फिर ढक्कन को उल्टे से बंद करके, ढक्कन के ऊपर गर्म कोयले को फैला देते हैं ताकि अंदर की सब्जी जो उसमें रखी गई हैं, पक सके। उसके बाद जो बचे हुए चावल हैं, उसके पानी को भी सब्जी में डाल देते हैं और उसी के साथ नमक, मिर्च, हिमुप, तालाप डालकर अच्छे से मिलाया जाता है।

ग) वेश-भूषा : न्यीशी जनजाति के लिए वेश-भूषा का बहुत अलग महत्व रहता है। इनके यहाँ सामान्य दिनों में साधारण वस्त्र का प्रयोग किया जाता है और शादी या किसी विशेष कार्यक्रम या त्योहारों के दिनों में विशेष प्रकार के वस्त्र का प्रयोग किया जाता है। स्त्री जो वस्त्र पहनती है उसे 'गाले' कहते हैं और इसके भी दो अलग नाम हैं, स्त्री के लिए समय अनुसार पहनने के लिए दो गाले हैं जिनको 'पोमुड़' और 'पोमो' गाले के नाम से जाना जाता है। इन दो गाले का इस्तेमाल अलग-अलग समय में किया जाता है जैसे शादी के समय दुल्हन जो वस्त्र प्रयोग करती हैं उसे 'दुमपिन गाले' और जब किसी त्योहार और विशेष कार्यक्रम के दौरान जिस वस्त्र को धारण करती हैं, उसे 'पोमो गाले' कहा जाता है। ठीक ऐसे ही,

औरतें गाले में छोटे-बड़े आकार की माला भी पहनती हैं जिसे न्यीशी जनजाति के लोग 'तासड़' कहते हैं और इन मालाओं के भी रंग-रूप और आकार के लिए कई उपनाम दिए गए हैं। औरतें कलाइयों में अलग-अलग तरह की चूड़ी या कड़ा पहनती हैं जिसे लोग 'कोजी' कहते हैं। महिलाओं के पहनावे की तरह ही पुरुषों की भी वेश-भूषा कई प्रकार की होती है। न्यीशी जनजाति के पुरुष सिर पर बालों का बड़ा गुच्छा धारण करते हैं, इसमें एक लकड़ी की पतली बेंत फंसाए रखते हैं और सिर के ऊपर खास तरह से बनाई विशिष्ट टोपी पहनते हैं जिसे न्यीशी जनजाति में 'बोपा' के नाम से जाना जाता है। इस जनजाति के पुरुष शरीर में जो वस्त्र लगाते हैं उसे 'तापुम इजी' कहते हैं। इस वस्त्र को बहुत ही अलग तरीके से दाईं और बाईं तरफ किसी सुई या लकड़ी के पिन के माध्यम से फंसाया जाता है। न्यीशी जनजाति के लड़के जो पोशाक पहनते हैं उसे 'लेतूम' कहा जाता है। वे पीले रंग का जो माला पहनते हैं उसे 'ताडुक' कहते हैं और पांव/घुटने में जो काले रंग की रस्सी बाँधते हैं उसे 'लुरुम' कहते हैं और 'लेतुम' के साथ पेट में जो कपड़े बाँधता है उसे 'पूस' कहते हैं। लड़के जब शिकार के लिए या किसी विशेष काम के लिए बाहर जाते हैं तो पीठ के पीछे कुछ लादते हैं। इस बस्ते को 'नरा' के नाम से जानते हैं और सबसे अहम चीज किसी न्यीशी लड़के की उसकी 'दाऊ या दाव' होती है जो किसी की शान की निशानी होती है। 'दाऊ' को न्यीशी में 'उरियूम' या 'ओयो' कहा जाता है। न्यीशी में वस्त्र को 'पेर रोज' कहा जाता है। इसी तरह आभूषण महत्वपूर्ण माने जाते हैं। न्यीशी शब्दावली के उच्चारण या कि बोलने के लहजे में परिवर्तन बहुत देखने को मिलता है। इसलिए वस्तु या सामग्री के नाम की वर्तनी में भिन्नता स्वाभाविक तौर पर देखने को मिलती है। न्यीशी वस्त्र, परिधान एवं आभूषण से जुड़े कई नाम लिए जा सकते हैं- 'तेशी' (माला), 'हुब पीया' (बेल्ट), 'कोटा' (चुछी), 'इगीन' (टोकरी),

'दमपीन' (टोपी), 'रूबीन' (कर्णफूल) आदि।

घ) गीत-संगीत : न्यीशी जनजाति में अवसर के अनुसार लोग गीत गाते हैं। जैसे किसी त्योहार यानी न्यीशी जनजाति के 'न्योकुम' त्योहार में महिलाओं का समूह-गीत गाता है जिसमें मुख्य गीत गाने वाली एक महिला बीच में होती है और बाकी महिलाएँ उसके गाए हुए गीतों का अनुसरण करती हैं। इस जनजाति में गीतों के अंतर्गत 'नेम खवनाम' गीत की अपनी एक अलग विशेषता होती है। यह गीत विवाह के समय दुल्हन की माँ के द्वारा गाया जाता है। इस गीत में जन्म से लेकर युवा समय तक के खुशी, कभी गम, दुःख, चिंता, हँसी, रोना, उल्लास आदि पलों का वर्णन किया जाता है और उन्हें याद किया जाता है। इस जनजाति में ज्यादातर गीतों के मामले में महिलाओं का योगदान अधिक रहता है और ज्यादातर महिलाएँ गीतों को समूह में ही गाती हैं। सामान्यतः लोकगीतों में दोहा, चौपाई, अलंकार नहीं होता। कठिन भाषा-व्याकरण के बंधन से मुक्त यह सिर्फ सरस जीवन से संबंधित होता है। ये लोकगीत अपनी प्रकृति तथा प्रयोजन के अनुसार कई प्रकार के होते हैं। 'रिकम-पादा' और 'गूमिन लो तेचा' गीत न्यीशी जनजाति के प्रसिद्ध लोकगीत हैं। 'न्योकुम' त्योहार में सामूहिक नृत्य इन्हीं लोकगीतों पर किया जाता है। अर्थ की दृष्टि से 'रिकम-पादा' और 'गूमिन लो तेचा' युलक-युवतियों का प्रेम गीत है। लेकिन प्रत्येक उत्सव में इस गीत को गाए जाने के कारण अब इस गीत को उत्सव गीत मान लिया गया है।

न्यीशी समाज में प्रेम के गीत को भी अधिक महत्त्व दिया गया है। चाहे वे युवा-युवती का प्रेम हो या भाई-बहन का प्रेम, या फिर माँ का बच्चों से प्रेम आदि बहुविध विषयों एवं प्रसंगों पर गीत गाये जाते हैं। इस बारे में राजीव गाँधी विश्वविद्यालय की पूर्व विद्यार्थी रही तेम कुनुंग से हुई बातचीत में वह उदाहरण देती हुई कहती हैं-

“रिकाम वो पादा ड आयगों जा

रिन्योयाम वो यामी ड़ आयगों जा ।।”

इसी तरह न्यीशी जनजाति का एक और लोकप्रिय लोकगीत है जो अर्थ की दृष्टि से युवक-युवतियों के परस्पर प्रेम का गीत है, लेकिन प्रत्येक उत्सव में इस गीत को गाए जाने के कारण इस गीत को अब उत्सव गीत की श्रेणी में रखा गया है। जैसे—

“आछी आछिया पीयो-पीयो
ना न्योम बे पीयो-पीयो
डा आनग पीये-पीये
योरि गिनचियाम पीये-पीये
बायो दुक चो पीये-पीये”

अर्थात् भैया तुम्हारी पत्नी अब मेरी माँ की टोकरी इस्तेमाल कर रही होगी। माँ के आभूषणों को भी उसने पहन रखा होगा इत्यादि। ये गीत भाई-बहन के अटूट प्रेम की निशानी है। एक गाँव में भाई-बहन रहते थे। दोनों में बहुत प्रेम था। कुछ दिन बाद भाई का विवाह हो गया। भाई की पत्नी भाई-बहन का प्रेम देख जलने लगी। वह अपने पति को उसकी बहन की हत्या के लिए तरह-तरह से उकसाती है। अंत में भाई ने अपनी बहन की हत्या कर दी। इसके बाद उस स्त्री ने भाई को भी धोखा दिया और चली गयी। भाई अब खेत पर अकेला काम करने लगा। बहन की आत्मा चिड़िया बनकर यह गीत गाती है। इस लोकगीत में बहन का प्यार मरकर भी अमर मालूम देता है। क्योंकि बहन का भाई के प्रति जबर्दस्त लगाव है। इस गीत में आत्मीयता की अभिव्यक्ति हुई है। माँ के प्रति बेटी का जो सहज स्वाभाविक लगाव होता है उसकी भी अभिव्यक्ति इस गीत में हुई है। साथ ही भाभी और ननद के ईर्ष्या को भी दर्शाया है।

ड) नृत्य : न्यीशी जनजाति के नृत्य कई प्रकार के होते हैं। नृत्यों की प्रस्तुति विशेष अवसरों पर की जाती है। इसमें महिलाओं और पुरुषों द्वारा अलग-अलग प्रकार के नृत्य किए जाते हैं। न्यीशी लोक नृत्य में ‘रिकम पादा’ और ‘बुया’ नृत्य को मुख्य माना गया है। रिकम पादा नृत्य की प्रस्तुति महिलाओं के एक समूह विशेष

द्वारा की जाती हैं। बुया सोदन नृत्य पुरुषों के द्वारा शादी एवं त्योहारों के अवसर पर किया जाता है।

च) त्योहार : न्यीशी जनजाति का त्योहार ‘न्योकुम’ को माना गया है। न्योकुम त्योहार से न्यीशी जनजाति की पहचान होती है। न्योकुम में सारे लोग शामिल होते हैं। जैसे— बड़े-बूढ़े, छोटी बच्चे-बच्ची, युवा-युवती, पुरुष-महिलाएं आदि। न्योकुम का त्योहार 26 फरवरी को मनाया जाता है। यह एक रूपांतरित त्योहार है जिसका आरंभ सन 1972 में हुआ। इस त्योहार में गाय, मिथुन, मुर्गी, बकरी की बलि चढ़ाई जाती है और इस खास त्योहार के लिए पुजारी बुलाये जाते हैं और पूजापाठ करने के बाद मिथुन के साथ अन्य जानवरों की बलि चढ़ायी जाती है। त्योहार के चलते कई कार्यक्रम भी साथ में किए जाते हैं— खेल के साथ-साथ मनोरंजन का भी आयोजन किया जाता है। इसी तरह हँसी-खुशी सभी हँसने-गाने एवं खाने-पीने के बाद त्योहार का आनंद लेते हैं। इस त्योहार के दौरान विशेष प्रकार व्यंजनों और पकवानों के खाने का भी इंतजाम किया जाता है। यह सब कुछ बड़े लोगों को ध्यान में रख कर किया जाता है। न्योकुम त्योहार के दौरान मिथुन की बलि चढ़ाई जाती है। मिथुन की बलि चढ़ाने से पहले विधि के अनुसार पूजा की जाती है। उसके बाद ही बलि चढ़ाई जाती है। इस त्योहार के दौरान जो नृत्य किया जाता है उसे ‘पुनुड़’ और ‘बुया’ कहा जाता है। पुनुड़ नृत्य महिलाओं के द्वारा किया जाता है। इसके साथ-साथ ‘रिकम पादा’ नृत्य भी न्यीशी जनजाति का प्रमुख नृत्य है। इसमें महिलाओं का समूह एक गोला बना कर नृत्य की प्रस्तुति करता है। इस नृत्य में गीत गाने वाली महिलाओं का समूह दूसरी ओर होता है और उन्हीं गीतों को सुनकर उसके माध्यम से ही नृत्य किया जाता है। बुया नृत्य की प्रस्तुति पुरुषों के माध्यम से की जाती है। इसमें पुरुष एक गोला बना कर घूम-घूम कर नृत्य करते हैं। इस दौरान सभी एक दूसरे का हाथ पकड़े होते हैं। इस त्योहार के दौरान न्यीशी जनजाति की

संस्कृति, परंपरा और मनोभावों का दिग्दर्शन हो जाते हैं। इसी प्रकार 'लुंगते' का त्योहार न्यीशी जनजाति में उतना ही महत्व रखता है जितना बाकी त्योहार। लुंगते का त्योहार अप्रैल के महीने में मनाया जाता है और इसमें कई प्रकार के जानवरों का बलिदान दिया जाता है। इसमें सभी लड़के-लड़कियां भाग लेते हैं और त्योहार के चलते बहुत सारे कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। इसमें नाच-गान, मस्ती-मजाक, खेल-कूद आदि कार्य होते हैं। इसमें खान-पान का भी विशेष ध्यान रखा जाता है। लुंगते का त्योहार प्राचीनकाल से चला आ रहा है और इसलिए यह सबसे पुराना त्योहार है। लुंगते के त्योहार में प्रत्येक व्यक्ति के साथ कितने मिथुन है उसके हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति को डाल काटने पड़ते हैं और इसी डाल में कुकाम पत्ते को बाँध कर उस बँधे हुए 'कुकाम' पत्ते के ऊपर चावल का आटा लगाया जाता है। 'बूरी-बूत' भी न्यीशी जनजाति का एक त्योहार है जो फरवरी के महीने में मनाया जाता है और इसमें भी जानवरों की बलि चढ़ाई जाती है।

न्यीशी लोक साहित्य का विविधतापूर्ण और बहुआयामी पक्ष :

लोक साहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोक साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव। ऐसा माना जाता है कि लोक-साहित्य मानव-संस्कृति को जिंदा रखनी वाली संजीवनी हैं। लोक-साहित्य में जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था और स्थिति का रोचक वर्णन, दृष्टांत, उदाहरण, उद्धरण, सन्दर्भ, प्रसंग, घटना, प्रकरण आदि गूँथे होते हैं। यही नहीं सामाजिक तौर पर लोक-साहित्य प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति की समस्त अनुभूतियों को अपने आप में समाहित किए रहता है। लोक साहित्य के माध्यम से मानव-समुदाय अपने अतीत में होने को पुख्ता कर पाता है और अपनी वंश परम्परा को प्रामाणिक सिद्ध कर पाता है। लोक-साहित्य की बड़ी खूबी यह है कि यह जन-जीवन के

बहुत करीब होता है। यद्यपि इसके रचयिता प्रायः अनाम अथवा अज्ञात होते हैं, लेकिन इन परम्पराओं की जड़ें गहरी और सूक्ष्म अनुभूति वाली होती हैं। लोक-साहित्य से जनसमाज या जनसमुदाय विशेष की पहचान सुनिश्चित होती है; उसकी अस्मिता-बोध का परिचय मिल पाता है। वे कौन थे, कैसे हो गए, किस-किस तरह और कैसे वर्तमान समय तक विभिन्न परिवर्तन हुए, इन सभी का ज्ञान लोक-साहित्य के माध्यम से बखूबी होता है। लोक-साहित्य अरुणाचल की संस्कृति की भी विशिष्ट पहचान है। सभी जनजातियों में लोक-साहित्य की मौजूदगी और जनजातीय लोगों का उनसे लगाववृत्ति इसके महत्त्व को स्वमेव स्थापित कर देता है। लोक साहित्य में सहजता, सहिष्णुता आदि विद्यमान रहते हैं और वह सरल भाषा और बहुत कम शब्दों में बहुत कुछ कह जाते हैं; इसका न्यीशी लोक-साहित्य में अनेक उदाहरण देखने को मिल जाते हैं।

क) लोक सुभाषित : लोक सुभाषित में कोई एक प्रकार की विधा नहीं होती। गूढ़ बातों को प्रतीकार्थ अथवा संकेतार्थ सही प्रकार से चाहे जिस किसी द्वारा कहा जाए वही लोक सुभाषित कहलाते हैं। लोक सुभाषित के अंतर्गत लोकोक्तियां, पहेलियां, मुहावरे, युक्तियां, जेल, बाल गीत, बाजगाथा आदि आते हैं। ग्रामीण जनता अपनी दैनिक व्यवहार में लोकोक्तियों, मुहावरों, पहेलियों, सूक्ति आदि का प्रयोग करते हैं और इससे उनका वचन-चातुर्य और विचार-विवेक का पता चलता है। कहावत स्वयं में पूर्ण होती हैं इसलिए उसे दूसरे शब्दों में लोकोक्ति कहा जाता है। लोकोक्तियों के प्रयोग में किसी उक्ति या कथन में शक्ति आ जाती है और श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मुहावरे स्वयं में पूर्ण नहीं होते बल्कि यह व्यंग्य करके किसी व्यक्ति विशेष के लिए लक्षणार्थ कहा जाता है। मुहावरा वाक्यांश में होता है। मुहावरों के प्रयोग द्वारा भाषा में अर्थ-गांभीर्य, चुस्ती और चुटीलापन आता है और उसका स्वरूप और कहने का लहजा सुंदर बन जाता है।

उदाहरणार्थ : न्यीशी मुहावरे निम्नलिखित हैं :-

- क) न्योकू लाड़दुड़ आरियक पेपु।
- हवाई किला बनाना अर्थात् दिन में सपने देखना।
ख) सोदे-सोदे लाबड़ पुकचे
न्यरदे-न्यरदे होया वाला।

- अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप
अर्थात् ज्यादा बोलना ठीक नहीं और ज्यादा चुप रहना
भी ठीक नहीं होता है। इसी प्रकार पहेलियाँ-मन
बहलाव के लिए पहेलियों का व्यवहार किया जाता है।
बालकगण समुदाय में बैठकर एक दूसरे से पहेलियाँ
पूछकर बुद्धि-परीक्षा और अपने दिमाग की फूर्ति का
पता लगाते हैं

न्यीशी के उदाहरण निम्नलिखित हैं-

- क) दमा दे दुचो, अंगमा दे अंगचो हुयूहे
- चम्मच (पुनीय) बनीय (लाठी)
ख) आने दे लेते, कुवे लाया है डुगरा
- चाड़ पर (चावल कूटने की ओखली)
ग) लड़व लो सुतूय याबूम हे हुगुसे
- साते न्यूरुड़ ग्यादड़, हुगुहे चुड़ किया
न्यीशी कहावतों के उदाहरण -

क) बदरका सअलअ सअलअ बदर सहन्दु कुनहा
- कभी जमीन नदी बन जाती है और नदी
जमीन बन जाती है।

भावार्थ : किसी का समय एक सा नहीं रहता है।
जीवन में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। कभी दुख रहता
है तो कभी सुख।

ख) निया काओ हियअ तनसर मो, न्यो ताम हिमअ
यिरकिमो

- मनुष्य को कोई नहीं सिखाता। वह अपना रास्ता
खुद खोज लेता है जिस प्रकार नीबू के कांटे को कोई
धार नहीं करता वह खुद नुकिला हो जाता है।

ग) यापा यंगदा मंगपू दिवे, कासा कापू न्योकू लड़दू,
उरियूक पुकू

शब्दार्थ - जवान की तरह सोचना, किसी चीज
को दूर से देखकर आकर्षित होना बहुत आसान है
लेकिन जब पास जाओ तो पता चले।

- किसी भी चीज को देखने और बोलने में बहुत
आसान प्रतीत होता है लेकिन जब वास्तव में वह चीज
करें तो पता लगता है कि कितना कष्ट है।

न्यीशी भाषा एवं लिपि :

न्यीशी जनजाति की भाषा न्यीशी भाषा है। वास्तव
में न्यीशी भाषा जो कि एक तिब्बती-बर्मी भाषा है,
किन्तु उनकी भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई है, उन पर
मतभेद है। न्यीशी जनजाति के लोग अपने समुदाय
में अपनी जनजातीय भाषा का प्रयोग करते हैं जबकि
बोलचाल और वैचारिक आदान-प्रदान के लिए हिंदी
भाषा का प्रयोग सामान्य रूप से करते हैं। न्यीशी
जनजाति में शिक्षा का ज्ञान देर से आने के कारण
अभी तक इस जनजाति में कोई लिपि नहीं बन पाई
है। न्यीशी जनजाति के लोग सात जिलों में रहते हैं
और उसी कारण किसी-किसी शब्द के उच्चारण में
अथवा वाक्य की संरचना में थोड़ी भिन्नता भी देखने
को मिलती है। अरुणाचल प्रदेश के जिलों में हिसाब
से भाषा की पकड़, लहजा, ताल, लय तथा उच्चारण
ध्वनि में थोड़ी भिन्नता देखी जा सकती है, परंतु मूलतः
वे समान ही हैं।

न्यीशी जनजाति की संस्कृति :

न्यीशी जनजाति की संस्कृति राज्य की अन्य
जनजातियों से भिन्न हैं तो कई अर्थों एवं पूजापाठ में
अन्य जनजातियों से समानता भी रखते हैं। उनके
तीज-त्योहार, खान-पान, पहनावा-पूजापाठ संबंधी
तौर-तरीके आदि बहुत हद तक एक-दूसरे से मिलते-
जुलते हैं। न्यीशी जनजाति में जिस तरह के कपड़े
लड़कियां पहनती हैं उसे 'गाले' कहा जाता है और
जो कपड़े लड़के पहनते हैं उसे 'लेतूम' कहते हैं।
आभूषण के तौर पर औरतें गले में माला पहनती हैं
जिसे न्यीशी में 'तानड़' कहा जाता है, कान में बालियाँ
पहनती हैं जिसे 'नागी' कहा जाता है, सिर पर कुछ
बारी-सा टोपीनुमा पहनती हैं जिसे 'दुमपिन' कहा
जाता है, साथ ही पांव के निचले हिस्से में काला धागा
बाँधती हैं जिसे 'लकड़' कहते हैं। 'लकड़' का अर्थ

ही होता है निचला भाग। हाथ में जो चूड़ियाँ पहनती हैं, वह भी अलग-अलग प्रकार की होती हैं जिसे न्यीशी समाज में 'कोजी' कहते हैं और कमर पर एक प्रकार का बेल्ट बंधा रहता है जिसे 'हुक्स' कहते हैं। लड़कियों की गाले यानी जो कपड़े लड़कियां पहनती हैं उनके भी कई नाम हैं जैसे- जो गाले सफेद और काले रंग के हैं उसे 'पोमो गाले' कहते हैं और जो वस्त्र (गाले) सफेद, काले, लाल रंग की सूट से फूलों की तरह बनाए गए हों, उसे 'दुमपिन गाले' कहते हैं। लड़कियाँ गाले पहनने के बाद पीठ में जो लाल रंग की चुनरी बाँधती है उसे 'पूस' कहा जाता है और 'पूस' के ऊपर में 'हुक्स' को लगाया जाता है।

न्यीशी जनजाति और शिक्षा :

न्यीशी जनजाति की शिक्षा अन्य जनजाति की तुलना में बहुत पीछे है क्योंकि अन्य जनजाति को शिक्षा की जानकारी एवं उपलब्धि जल्दी ही मिल गई तो दूसरी तरफ न्यीशी जनजाति को शिक्षा की प्राप्ति बहुत बाद में हुई। आधुनिक शिक्षा के स्तर पर देखा जाए, तो न्यीशी जनजाति के लोग पीछे रहे हैं, लेकिन हाल के दिनों में शिक्षा प्राप्त कर आगे बढ़े हुए लोग बहुत ही कुशलता से अपना काम कर रहे हैं। शिक्षा के स्तर पर सम्मान पाने वाले लोग बहुत आगे निकल गए और सामाजिक तौर पर वे प्रतिष्ठित भी हुए। न्यीशी जनजाति के लोगों में शिक्षा की प्राप्ति को लेकर जागरूकता पनपी है और वे विशेष रुचि लेने लगे हैं। लड़कियों की अभिरुचि शिक्षा में बहुत अधिक है और उच्च शिक्षा सहित जीवन के विविध क्षेत्रों में वे लगातार नई ऊँचाई को छू रही हैं, तथा युवा पीढ़ी के लिए भविष्य की नई राह बना रही हैं।

निष्कर्षतः भारतीय प्रायद्वीप में 'लघु भारत' के रूप में प्रसिद्ध अरुणाचल प्रदेश की विभिन्न जनजातियों का जीवन-स्तर एवं उनकी जीवन-शैली धीरे-धीरे बदल रही है। यहाँ बदलाव की परम्परा पहले से रही है। यहाँ का जनजातीय समुदाय एक प्रक्रिया के तहत और एक क्रम के अनुसार बदलता आया है। न्यीशी जनजाति में भी यह बदलाव दिखाई देता है। अरुणाचल प्रदेश की यह एक प्रमुख जनजाति है और ये विभिन्न भागों में बड़ी संख्या में बसे हुए हैं। इसलिए यह बदलाव आसानी से पहचाने जा सकते हैं। अरुणाचल प्रदेश के न्यीशी जनजाति में यह बदलाव कई स्तरों पर हो रहे हैं। जैसे-सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक इत्यादि। इस तरह से धीरे-धीरे न्यीशी जनजाति भी उन चीजों के अनुरूप ढल रही है, जिसे आधुनिक बदलाव अथवा आधुनिकता का प्रभाव कहा जाता है। न्यीशी समाज आज समय के साथ बहुत आगे निकल चुका है और समसामयिक कई विरूपणों का शिकार हो चला है जिसमें भाषा और बोली का संकट भयावह है। इस समाज के शहरी लोग अपने पुराने रीति-रिवाज, परम्परा, संस्कृति आदि को भूल चुके हैं। अब लोग आधुनिकता की गिरफ्त में हैं और 'उपभोक्ता' बन जाना उनकी नियति बनती जा रही है। इसका दुष्प्रभाव यह है कि न्यीशी समाज को आधुनिकता के ऑक्टोपस ने जकड़ लिया है जिसका शिकार गैर-आदिवासी समुदाय पहले से रहा है। आधुनिकता को अपनाना बुरी बात नहीं है, बल्कि आधुनिकता के इस बहाव और बहकावे में अपनी मूल पहचान, परम्परा, संस्कृति और इतिहास-बोध को खो देना खराब बात है।

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
राजीव गांधी विश्वविद्यालय, रोडो हिल्स, दोइमुख
अरुणाचल प्रदेश - 791112
मो. : 6909115086

संबंधों की ऊष्णता और भावनाओं का सैलाब है लोहड़ी

- हरभजन सिंह मेहरोत्रा

लोहड़ी पंजाब का एक पारम्परिक त्यौहार है, जो व्यापक रूप से देश की उत्तर-पश्चिम की बड़ी पट्टी में खूब धूम-धाम से लोग मनाते हैं।

मकर संक्रांति के एक दिन पहले अर्थात् पौष के अंतिम दिवस को इसे मनाने की परम्परा है।

विशेष रूप से लोहड़ी त्यौहार में अग्नि अथवा अलाव जलाने की रस्म मुख्य रूप से सामने आती है, जिसके इर्द-गिर्द, स्त्री-पुरुष, बुजुर्ग और बच्चे चौ फेरे लगाते हैं। तत्पश्चात् जलते हुए अलाव में घर-परिवार के सदस्य मकई, तिल, मूंगफली, चिड़वा और गुड़ या शक्कर न्यौछावर करते हैं। अर्पण किये गये जिंस जब भूमि में गिरते हैं तो लोग इन्हें प्रसाद मानते हुए ग्रहण करते हैं।

लोहड़ी विशेषतया वे लोग बड़ी धूम-धाम से मनाते हैं, जिनके गृह में नव वधू का पदार्पण हुआ हो अथवा पुत्र का अवतरण हुआ हो। इन दोनों अवसरों पर लोहड़ी का पर्व मनाये जाने वाले घर-परिवार की रौनक किसी शादी-ब्याह से कमतर नहीं होती। ऐसे घरों में लोक-गीत-संगीत की गूंज और भांगड़ा-गिद्धा की थिरकन देखने वालों को भी झूमने को मजबूर कर देती हैं। इस विशेष अवसर पर भोज्य पदार्थों में सरसों का साग और मक्के की रोटी के साथ रौ की खीर (गन्ने के रस से बनाई गयी खीर) आये हुए अतिथियों को परोसी जाती है।

दरअसल लोहड़ी के संबंध में कई मान्ताएँ, दंत कथाएँ तथा ऐतिहासिक घटनाएँ आमजन में प्रचलित हैं। जिसकी वजह से इस त्यौहार की गरिमा सौहार्द, रिश्तों की आत्मीयता धार्मिक पक्ष से बढ़ गई है।

पिछले कुछ वर्षों में हुए शोध के आधार पर एक पौराणिक मान्यता भी सामने आयी है कि जब दक्ष प्रजापति ने एक यज्ञ का आयोजन किया था तो उन्होंने शिवजी को इस अनुष्ठान में भाग लेने के लिए आमंत्रित

नहीं किया था। इस परिप्रेक्ष्य में शिव की सती के लिए अनुरक्ति का भाव भी था जो राजा दक्ष के लिये रुष्टता का कारण था। सती के लिए शिव का वियोग असहनीय था। अंततोगत्वा अपने आराध्य के अपमान से दुःखित, सती ने हवन कुण्ड में अपनी आहुति देकर नश्वरता को त्याग दिया था।

सती के इस बलिदान के फलस्वरूप कुछ सम्प्रदायों में उस दिन को स्मरण करते हुए अलाव जलाने की यह प्रथा सदियों से चली आ रही है।

लोहड़ी से जुड़ी एक यह किंवदंती भी है कि कोई लोई नाम की लड़की थी। उसका कोई भाई नहीं था। उसने जलते अलाव के सामने रबब से एक दिन अरदास की, यदि उसका भी और लड़कियों की तरह एक भाई मिल जाए तो वह अग्नि को पाँच तरह के अनाजों की भेंट चढ़ाएगी। कालांतर में लोई को जब उसकी माँ से पुत्र के रूप में भाई की प्राप्ति हुई तो अपनी मनोती स्वरूप आमंत्रित गांव वालों के समक्ष अग्नि में अन्न की आहुति दी। लोई की इस चमत्कारी शक्ति को देख पौष की आखिरी रात्रि को अलाव जलाने की परंपरा की शुरुआत हुई। गाँव वालों ने इस अनुष्ठान का नाम लड़की के नाम पर लोई से जोड़ते हुए लोई रख दिया। जो कालांतर में लड़के के जन्म के बाद उसकी पहली लोहड़ी के जश्न के रूप में पंजाब प्रान्त में श्रद्धा से मनाया जाने लगा। इस अवसर पर लोग जलती हुई लोहड़ी के आस-पास पंजाब का प्रसिद्ध लोक नृत्य भांगड़ा और गिद्धा का प्रदर्शन करते हैं। गिद्धा स्त्रियों द्वारा किया गया बड़ा ही मोहक और चित्त प्रसन्न कर देने वाला नृत्य है। गिद्धा में गीत गाती हुए लड़कियों का समूह नृत्य करती दिखाई पड़ती हैं। यह लोक नृत्य पंजाब की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में अत्यंत लोकप्रिय है। इस नृत्य में गाए जाने वाले गीतों में नृत्य करती लड़कियों के पैरों की थिरकन की भाँति

ही एक खानगी और जोश भरा होता है। एक गीत का मुखड़ा गौर फरमायें —

काला डोरिया कुंडे नाल अड़िया ए ओय
के छोटा देवरा भाभी नाल लड़िया ए ओये।
छोटे देवरा तेरी दूर पलाई वे
ना लड़ सोनिया तेरी इक परजाई वे।

लोहड़ी के साथ एक और कथा जुड़ी हुई है। इस कथा का नायक दुल्ला भट्टी नाम का एक जाट राजपूत वीर था, जिसका आकलन पंजाब वासी एक नायक के रूप में करते थे। मुगल काल में जब अकबर का शासन था। उस समय दुल्ला भट्टी का आविर्भाव हुआ था।

दुल्ला भट्टी को लेकर पंजाब में सुंदर, मुंदरी नाम की दो ब्राह्मण कन्याओं की एक लोकप्रिय कथा जुड़ी हुई है।

दुल्ला भट्टी मुगलों के अमीरों को लूट कर उनसे हासिल किया हुआ धन गरीबों में तक्सीम कर देता था। एक बार उन अमीरों ने बदले की भावना से दो ब्राह्मण लड़कियों को उस समय अगवा कर लिया जब उनका विवाह सम्पन्न होने जा रहा था।

वैसे तो इस तरह का घिनौना कृत्य मुगलों में आम था। एक दुल्ला ही था जो मुगलों के विरुद्ध ज़ेहाद छेड़े रहता था। जब उसे इस बात की भनक लगी तो वह अमीरों से लड़ कर उन लड़कियों को छुड़ा लाया। परन्तु लड़कियों के ससुराल पक्ष ने मुगलों के भय से लड़कियों को अपनी बहूएं बनाना स्वीकार नहीं किया।

धर्म संकट की ऐसी स्थिति में दुल्ला भट्टी आगे बढ़ा और दोनों वर-वधू के जोड़ों को जंगल में ले

जाकर वहाँ पर मौजूद अन्न को अग्नि की भेंट देकर उनका विवाह सम्पन्न कराया। तभी से पंजाब और उसके आस-पास के क्षेत्रों में नव वधू के आने पर उसकी पहली लोहड़ी के रूप में इस पर्व को मान्यता मिली।

बहू की पहली लोहड़ी के अवसर पर बच्चे-बच्चे उस घर में जाकर लोहड़ी मांगते हुए उस लोक गीत को गाते हैं जो दुल्ला भट्टी वाले से संबंधित है—

सुंदर मुंदरिया हो
तेरा कौन विचारा हो
दुल्ला भट्टी वाला हो
दुल्ले धी व्याही हो
सेर शक्कर पाई हो
कुड़ी दी जेबे पाई
कुड़ी दा लाल पटाका हो
कुड़ी दा सालू पाटा हो...!

बोलियां, लोक नृत्य और लोक गीत पंजाब की संस्कृति का एक ऐसा अध्याय है जो जीवन की विकट परिस्थितियों में भी इंसान को खुशहाल और मस्त जिन्दगी जीने की प्रेरणा देते हैं।

बारी बरसी खटन गयासी
खट के लेयांदा कुकड़
जोड़ी तां जचदी
जे नच्चे बुआ नाल फुफड़।

लगभग सभी खुशी के मौकों पर ये बोलियां हर महफिल की शान समझी जाती हैं। चाहे शादी-ब्याह हो या फिर लोहड़ी का पर्व।

ओड़िआ लोक संस्कृति एवं लोक साहित्य

- डॉ. रंजन कुमार दास

लोक संस्कृति को सामान्त्या मानव सभ्यता और मानव विकास के पर्याय के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन दोनों में मूलभूत अंतर दिखाई देता है। सभ्यता का अर्थ और क्षेत्र जहाँ आम जन-जीवन के रहन-सहन तक केंद्रित रहता है, वहीं संस्कृति उच्च भाव-भूमि के लिए मानव जीवन के सभी पहलुओं की विशेषताओं का स्वरूप है। लोक संस्कृति का तात्पर्य आम जन मानस के बीच जीवन की ऐसी वृत्तियों से है जो अपने श्रेष्ठ के आधार पर न केवल संरक्षित करने योग्य है वरन नई पीढ़ी को सौंपने हेतु प्रासंगिक है। इस प्रकार लोक संस्कृति में आम जन-मानस की अंतःचेतना प्रतिबिम्बित होती है। यदि साहित्य समाज का दर्पण तो संस्कृति एक अति वृहत कैनवास की तरह है जिसमें साहित्य एक चटकीले उजले रंग की तरह बिखरा हुआ है। यह एक ऐसा कैनवास है जिसमें जीवन का हर रंग और हर पहलू सामाहित है। चाहे वह साहित्य, संगीत, नृत्य, नाटक, धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि कुछ भी हो।

लोक संस्कृति के दो महत्वपूर्ण तथ्य हैं— एक विरासत और दूसरा प्रवाह। विरासत हमारी लोक संस्कृति का मूल धर्म है और बिना प्रवाह के यह धर्म सर्वथा प्रवाहहीन होता है। प्रत्येक पीढ़ी अपने पूर्वजों की दी गई संस्कृति को सँवारती है और संवर्धित करती है। इसे ही सनातनी संस्कृति की संज्ञा दी गई है।

प्रागैतिहासिक काल में जब किसी ने इतिहास को लिपिबद्ध करने के बारे में सोचा तक न था तब लोक संस्कृति रीति-रिवाजों, कहानी, नाटकों, नौटंकी, नृत्य, रास लीलाओं, फग, छऊ आदि के माध्यम से सँवरती और प्रवाहित होती रही। वर्तमान समय में बाजारीकरण के नाम पर अनेक बहुराष्ट्रीय और राष्ट्रीय

कंपनियाँ भारतीय संस्कृति और एकता पर अनगिनत प्रहार कर रही हैं। कभी नैतिकता के अवमूल्यन के रूप में तो कभी विज्ञापन की आड़ में नारी के अश्लील चित्रण के रूप में अतिभौतिकतावादी दृष्टिकोण और भोगवाद के चरम काल में पर्यावरण संरक्षण और मानव मूल्य पीछे छूटते जा रहे हैं। हमारी लोक संस्कृति पर हमला बहुस्तरीय है; इसका प्रवाह केवल शारीरिक ही नहीं बल्कि बौद्धिक मानसिक और अध्यात्मिक स्तर पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

हमारा सांस्कृतिक मूल्य ही हमारी पहचान है। जिस ग्लोबल विलेज की बात हम बाजारवाद के प्रभाव में कर रहे हैं वह उपभोक्तावादी संस्कृति पर आधारित है। भारतीय संस्कृति तो वसुधैव कुटुंबकम की धारणा को साकार करती है। जिस संस्कृति में अतिथि देवो भव की धारणा विद्यमान है, जिसमें शरणागत रक्षा अपने प्राणों की बाजी लगाकर किया जाता है, ऐसी गौरवमयी संस्कृति हमें भारतीय होने का गर्व प्रदान करती है। अतिथि देवो भवः की परंपरा अतिथि तुम कब जाओगे तक पहुँच गई है। यह संस्कृति का क्षरण नहीं तो और क्या है। इसका प्रमुख कारण बाजारवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति है। सावन के महीने में मस्त फुहारों में झूले की ऊँची-ऊँची पींगे-सच में बाल मन को बहुत प्रभावित करता था। उसे लगता था कि अब आकाश मेरी मुट्ठी में है। झूला झूलती ग्रामीण बालाओं के लुभावने गीत बदरिया धीरे आई ननदी कब हमें कल्पना के चाँद पर ले जाकर छोड़ देते थे पता नहीं चलता था। इस एक महीने में त्योहार हम गाँव के लोग उन दिनों मना लेते थे। कभी हरियाली तीज पर हरित परिधानों की परम्परा तो कभी अन्नदायक हल की पूजा कहीं नुआखाई, तो कहीं रजों, कहीं

नागपंचमी पर सर्पों को दुग्ध अर्पण। बीन की मोहक धुन पर झूमते सपेरों की पेटी से बाहर आते नाग देवता। सब इनके दर्शन और आशीर्वाद लेने की होड़ में रहते थे। सच ही तो है कि गर्मी के चार महीनों की भीषण तपिस के बाद प्यासी शुष्क भूमि पर जब श्यामला मेघ दीवानों की तरह झमाझम करते हैं तो चहुँ ओर उत्सव व उल्लास के भाव स्वतः मन में व्याप्त हो जाते हैं। और तो और रात को बोलती झींगुरियों का संगीत श्रवण हमें तानसेन की राग-रागनियों की याद दिलाता है। आज सब कुछ हाथ से रेत की तरह फिसलता जा रहा है। बाजारवाद से उपजी हुई उपभोक्तावादी संस्कृति ने लोगों को गाँव से पलायित करने के लिए बाध्य किया। मानो वातानुकूलित वातावरण हमारे जीवन का अंतिम लक्ष्य बन गया है। मिट्टी की सौंधी महक में उपजती लोक संस्कृति अपनों के द्वारा तिरस्कृत हो गई है। वर्तमान समय की संक्रमित संस्कृति में लोक तत्व कहीं खो गए हैं। हमारा प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति में सहयोग, त्याग, सहिष्णुता, समन्वय, सामांजस्य तथा परोपकार की भावना जिस सहजता के साथ समाहित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

ओड़िशा लोक साहित्य और संस्कृति की बात करें तो तटीय क्षेत्र में लोक साहित्य एवं संस्कृति का निदर्शन आधुनिक शिक्षा के प्रभाव के कारण बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है। लेकिन दक्षिण एवं पश्चिम ओड़िशा तथा जनजातीय लोगों में लोक साहित्य एवं संस्कृति अपने पूर्ण रूप में संरक्षित है।

लोक साहित्य में ही लोक जनमानस की अभिव्यक्ति होती है। इसमें किसी भाषाई समाज का सुख-दुख, आनंद-उल्लास, वेदना, शोषण के खिलाफ असंतोष, थकावट मिटाने की प्रेरणा, रहन-सहन, अचार-विचार, विश्वास, धार्मिक मान्यता, सामाजिक जीवन, सांस्कृतिक महत्ता आदि का परिचय मिलता है। लोक-साहित्य लोक-संस्कृति के प्रहरी का काम करता है। लोकगीत, लोक कथा, कहावतें, लोकनाट्य, लोक-

गाथा आदि लोक साहित्य के अंतर्गत आते हैं।

लोकगीत की प्रणेता प्रमुखतः स्त्रियाँ ही हैं। लेकिन श्रमगीत और रासरकेली तथा हलिआ (हलवाआ) गीत पुरुषों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। ओड़िशा के प्रमुख लोकगीत में हैं- डालखाई, रसरकेली, करमागीत, लोरी, जाइफूल, पुष-पुनी, कांदणी-गीत, शगड़ीआ-गीत, प्रणय-गीत आदि। लोकगीतों में लोक विश्वास, जीवन मूल्य, संस्कार, आदि भावनाएँ सामाजिक संबंधों का प्रतिफलन होता है। परिवार में आदर्श संबंधों का प्रतिबिंब, शोषण, किसानों की दशा, पौराणिक किवंदियाँ आदि का यथार्थ रूप इन गीतों में दिखाई देता है। लोकगीतों में व्रत कथाएँ और ओषा आदि आते हैं, जैसे सत्यनारायण कथा, रविनारायण व्रत, सावित्री अमावस्या, शिवरात्रि आदि। कुछ गीत षोडश संस्कारों से संबंधित हैं। इसमें मुख्यतः विवाहगीत, सोहर, विदाईगीत आते हैं। शादी के समय ओड़िशा में बेढ़ा-बुला, अग्नि की परिक्रमा रस्म है। जिसमें वर-वधू अग्नि के चारों ओर परिक्रमा करते हैं। एक फेरा पूरा होने पर वधू अग्नि में खलि फेंकती है। इस प्रकार फेरे के साथ पुरोहित 'बेढ़ाबुला' गीत गाते हैं। यहाँ एक प्रचलित रस्म 'लथादिया' है। इसमें बहू के ससुराल पहुँचते ही उसे मिट्टी के बर्तन में पीठी दी जाती है। हथेली से देवर-देवरानी आदि क्रमशः दशरथ-कौशल्या बलराम-रेवती, लक्ष्मण-उर्मिला तथा राम-सीता के साथ तुलना करके गीत गाए जाते हैं।

'कांदणा-गीत' (रोने के गीत) : बेटी की पहली विदाई के समय मायके (पीहर) से ससुराल जाते समय गाए जाते हैं। इन गीतों में जीवन के मधुर एवं कटु अनुभवों को गीत के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। इस संदर्भ में एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

“चटु फिकिदेलु मंचा तलकु माँ गो
मोते फिकि देलु जमपुरकु माँ गो
जमपुर पाणि हेम काकर माँ गो
माड़ खाई हेब देह काँकर”

(पृष्ठ-17, पंडा, निमाई चरण, 1997)

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार करछुल का प्रयोग न हो पर उसे लताओं और झालर के नीचे स्थान पर फेंक दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार इस गीत के माध्यम से यह बताया गया है। लड़की कहती है कि मुझे उसी करछुल भाँति अनउपयोगी समझ कर जमपुर को भेज दिया गया है। जमपुर का पानी बर्फ जैसा कठोर और ठंडा है और यहाँ मार खाते-खाते भी हमारा शरीर कंकण बन जाएगा।

शगड़िआ गीत – पश्चिम ओड़िशा में बैलगाड़ी हाँकते समय जो गीत गाए जाते हैं उन्हें शगड़िआ गीत कहते हैं। इस गीत में गाड़ी हाँकने वाला श्रम में आनंद की अनुभूति करते हुए गीत गाता है। बैलों की गति के अनुसार शगड़िया गीत की गति भी नियंत्रित होती है। इन गीतों में रास्ते की निर्जनता अथवा रात्रि का निस्तब्ध परिवेश मुखरित होता है।

“ए... ए... ए... ए...”

सेम्बि कु मडुआ रे काँकेर कू त राज्ञ
पाँच माइझिरु गुरिकाएँ बाछिआँ दइब कला बाँझरे
काली गुरी हहकी रे दुहे त कले ऊषा
कालीर कुलें बाली की जन्म मनुआँ रे
गुरिर कुल छूँछा रे”

(पृष्ठ-35, पंडा, निमाई चरण, 1997)

इसका तात्पर्य है कि सेब और खीरा की लता को झालर में (मंच) लटकाया है। और हाय रे, हाय भगवान, मेरी पाँच पत्नियों में से अकेली गोरी वाली पत्नी बाँझ निकली। काली और गोरी पत्नी दोनों पुत्र प्राप्ति के लिए व्रत किया, काली पत्नी माँ बन गई लेकिन गोरी की गोद खाली रही।

प्रणयगीत : प्रेम और श्रृंगारपरक गीत संपूर्ण भारत के लोकसाहित्य में परिलक्षित होता है, इससे ओड़िशा का लोक साहित्य भी अछूता नहीं है बल्कि यहाँ के लोकगीतों में प्रणयगीत प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। प्राचीन काल से भारतीय सभ्यता और काव्य परम्परा

में श्रृंगार प्रियता का बाहुल्य रहा है। जिसमें लोकसाहित्य में प्रेम या श्रृंगार की संवेदना बहुत व्यापक है। इसमें पश्चिमी ओड़िशा के लोक गीतों में नायिका सौन्दर्य के नख-शिख एवं अंग प्रत्यंग का वर्णन बहुत ही समृद्ध है जिसमें मुख्य गीत- रसरकेलि, डालखाई, सजनी, जाइफूल, रसकदम आदि हैं।

“रसरकेली रे... ए... ए...”

नईर आरफालें पिला मोर माआ घर
सुना देमि रूपा देमि डंगा पारिकर...
तोर सुना रूपा ननि तोर ठाने थाउ
घिनुआँ देबु हेलेँ जुडा लेंबाउ मोर
डंगा चालिजाउ रस खसरिबस रे...”

(पृष्ठ-42, पंडा निमाई चरण, 1997)

अर्थात् नायिका युवक नाविक को संबोधित करती हुई कह रही है कि नदी के उस पार मेरा मायका है, मैं तुम्हें सोना दूँगी, चाँदी दूँगी, तुम मुझे नदी पार करा दो। नाविक कह रहा है कि अरे, युवती, तुम अपना सोना व रूपा अपने पास रहने दो, स्वयं पहनो लेकिन मेरी भी शादी करवा दो, मेरे सिर पर मौर रखवा दो और नदी को बहती रहने दो और नाव को चलती रहने दो। इस प्रणय निवेदन में संस्कृति का आवरण है, शालीनता है, सहज मनोभावों की अभिव्यक्ति है जो वर्तमान आधुनिकतावादी प्रेम की अतिरंजना से एकदम अलग है।

ओड़िशा में बहुत सारी जनजातीय संस्कृति देखी जाती है। जिनमें मुख्यतः सान्थाल, हो (कोल्हो-मुण्डा), बाथुड़ी, खड़िआ, मांकड़िआ/वीरहोर, पाउड़ि, भूयाँ, जुआंग, भूमिज, लोधा, कुडुमी आदि जनजाति लोगों का अपना-अपना लोकगीत एवं लोग कथाएँ हैं, जिनमें शामिल है- धुड़की, भालूकुणी नाट, बालीनाट, झुमरगीत, करमगीत, बंदाण गीत आदि।

प्रत्येक भाषा में रचित लोक साहित्य का अंतः स्वर प्रायः समान होता है। इस प्रकार भारत के लोक साहित्य में समानता दिखाई देती है। अंतर केवल भाषा

॥ आलेख ॥

और अभिव्यक्ति के तरीके में होता है। मौखिक परम्परा ने लोक-साहित्य को अधिक समृद्ध किया है। आम जनमानस की मौखिक अभिव्यक्ति ने लोक साहित्य को विकसित एवं संवर्धित किया है। इस प्रकार ओड़िशा लोक साहित्य एवं संस्कृति में आम जनजीवन की अनुभूतियों को लोकगीत, लोकनाट्य, लोककथाएँ, रीति-रिवाज, त्योहार एवं परम्पराओं आदि में समाहित किया गया है।

सहायक ग्रंथ :-

Handoo, J. 1987, Folklore : an

introduction. Mysore, cill

पंडा, निमाई चरण, 1997, पश्चिम ओड़िशा लोक साहित्यर स्वरूप, संबलपुर

महान्त, भक्तिहरि आदि (संपादित), 2020, उत्तर ओड़िशा लोक साहित्य, भुवनेश्वर, ओड़िशा साहित्य एकाडेमी

सिंह, अल्पना; अशोक मर्डेज़, 2014 (संपादित) लोक संस्कृति एवं साहित्य का वर्तमान स्वरूप, अलीगढ़, वाङ्मय बुक्स

केंद्रीय हिंदी संस्थान, भुवनेश्वर केंद्र, ओड़िशा - 751022
मो. : 9604608980

लोकोक्ति

लोक में प्रचलित उक्ति ही लोकोक्ति है। लोकोक्तियों में लोक का अनुभव, अनुभूति एवं ज्ञान गागर में सागर की भाँति समाहित रहता है। इनमें जीवन का सत्य नीर-क्षीर की तरह मिला होता है। सामान्यतः इसके दो प्रकार माने गये हैं- 1. कहावत और 2. पहेली। अपनी संप्रेषण-क्षमता के कारण विश्व की समस्त भाषा-बोलियों में लोकोक्तियाँ विभिन्न नामों से प्रचलित हैं।

लोकोक्तियों का जन्म ज्ञान, अनुभव, अनुभूति, पर्यवलोकन, कथा अथवा घटना से होता है। संस्कृत के श्लोक, सूक्तियाँ, घाघ-भट्टरी आदि की उक्तियाँ ज्ञानानुभव एवं पर्यवलोकन की उपज हैं। इनके अलावा सामान्य जीवन की कुछ कथाएँ अथवा घटनाएँ भी लोकोक्ति का रूप ले लेती हैं। राजस्थान की एक लोकोक्ति है- ‘बेटी की शादी और माँ के फेरे।’ इसके पीछे की कथा यह है कि शादी के मंडप पर दूल्हा बैठ गया था। दुल्हन को लाने के लिए लोग गये तो देखा कि उसका शरीर ज्वर से तप रहा है। विवाह का शुभ मुहूर्त बीता जा रहा था। परिवार जनों ने तय किया कि दुल्हन की माँ को दुल्हन बनाकर फेरे दिलवा दिये जाएँ। घूँघट के कारण कोई जान नहीं पायेगा। दुल्हन का बुखार उतर जायेगा तब उसकी विदाई होगी। और यही किया गया। तभी से यह उक्ति चल पड़ी।

- प्रस्तुति : पंकज साहा

पश्चिम बंगाल की लोक कथाओं में प्रतिवादी स्वर

- डॉ. पंकज साहा

लोक-साहित्य में लोक-कथाओं का विशेष महत्व है। भारत की समस्त लोक-कथाओं में मानव-मूल्यों एवं मानवीय संवेदनाओं का सागर लहराता है। इन कथाओं में मानव-मूल्यों एवं मानवीय समाज की विसंगतियों और त्रासदियों का गहराई से अवगाहन किया जा सकता है। जातक, पंचतंत्र, हितोपदेश, वृहद्कथा, कथा सरित्सागर आदि भारत की प्राचीनतम एवं अत्यंत समृद्ध लोककथाएँ हैं।

बंगाल की लोककथाएँ भी बहुत पुरानी एवं समृद्ध हैं। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह इनका भी जन्म मुख्यतः दादा-दादी, नाना-नानी के मुख से ही हुआ है। बंगाल की लोककथाओं को संकलित एवं प्रकाशित करने का महत् कार्य अनेक देशी एवं विदेशी विद्वानों ने किया है। विदेशी विद्वानों में जहाँ जी. एच. डमेंट एवं एडवर्ड ट्वीट डेल्टन का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है, वहीं देशी विद्वानों में एक बंगाली विद्वान रेवरेंड लाल बिहारी दे का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। 1883 में लंदन से प्रकाशित उनकी पुस्तक 'फॉकलोर ऑफ बंगाल' में बांग्ला की कुछ लोककथाएँ संकलित हैं। उनके बाद बंगाल की लोककथाओं को संग्रहित करने का कार्य अनेक विद्वानों ने किया। उनमें सबसे उल्लेखनीय नाम दक्षिणारंजन मित्र मजुमदार का है। बांग्ला लोककथाओं पर उनकी क्रमशः 'ठाकुरमाल झूली' (1907), 'ठाकुरदादार झूली' (1908), 'ठानदीदीर थॉले' (1909), 'दादा महाशयेर थॉले' (1913) इत्यादि पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इनमें 'ठाकुरमार झूली' की भूमिका कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने लिखी है। भूमिका के आरंभ में ही उन्होंने जो लिखा है, उससे उस पुस्तक के महत्व का पता चलता है। उन्होंने लिखा

है, "ठाकुरमार झूली जैसी इतनी बड़ी वस्तु हमारे देश में और है क्या?" यह सिर्फ लेखक का सम्मान नहीं है, बल्कि बंगाल की लोककथाओं का सम्मान है। बंगाल की लोककथाओं की संख्या इतनी अधिक है कि लोककथाओं के दर्जनों संग्रह प्रकाशित होने के बावजूद उनके संग्रह का कार्य आज भी जारी है।

बंगाल की लोककथाओं का वर्गीकरण विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से किया है। वर्गीकरण के सूक्ष्म पार्थक्य को अगर नजर-अंदाज कर दिया जाए तो एक सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है— 1. रूपकथा (Fairy Tale), 2. पशुकथा (Animal Tale), 3. वीरकथा (Hero Tale), 4. नीतिकथा (Moral Tale), 5. हास्यरसात्मक कथा (Marry Tale), 6. किंवदंती (Legend) एवं 7. व्रतकथा (Pladge)।

ये लोककथाएँ बंगाल के हृदय की धड़कन हैं, ये बंगाल के लोकजीवन का दर्पण हैं। इनमें उल्लास, ईर्ष्या-द्वेष, आशा-आकांक्षा, लोभ-मोह, क्रोध, प्रतिरोध, संदेह, करुणा, दया, क्षमा, उदारता, संयोग-वियोग, वेदना आदि मानव-स्वभाव की सभी वृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं।

किसी भी देश या प्रांत के लोक-जीवन में लोककथाओं का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। चूँकि, लोककथाएँ बच्चों को संस्कारित करती हैं, उन्हें उपभोक्तावाद का औजार बनने से रोकती हैं, इसीलिए देश के अनेक स्कूली पाठ्यक्रमों, विशेषकर कन्वेंट के पाठ्यक्रमों में, लोककथाओं को शामिल नहीं किया जा रहा है। दूसरी ओर रोजगार की आवश्यकता एवं आधुनिकता के आकर्षण के कारण लोग अपनी जड़ों से विस्थापित

होकर शहरों, नगरों एवं महानगरों की शरण में जा रहे हैं। लोककथाओं के स्रोत दादा-दादी, नाना-नानी गाँवों में ही छूट गए। लोग अपनी परंपराओं, अपनी संस्कृति को भूल गए। अपनी छोटी-छोटी खुशियों और छोटे-छोटे गमों को भूलकर बड़ी खुशियाँ पाने के लोभ में बड़े-बड़े गमों को गले लगाने लगे हैं। अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए कुकर्माँ, देश-विरोधी कर्माँ को भी करने में भी उन्हें लज्जाबोध नहीं होता। जबकि हमारी लोक-संस्कृति हमें मानवीय मूल्यों से जोड़कर रखती है। वसीम बरेलवी जी ने हमारी ग्रामीण संस्कृति का वर्णन करते हुए लिखा है—

“छोटी-छोटी खुशियाँ अपनी छोटे-छोटे गम।

हम क्या जानें सत्ताधर्मी तेरे दीन करम।

गमी किसी के घर में हो सगरे गाँव जले न चूल्हा।

बिन आशीर्वचन बूढ़ों के बने न कोई दूल्हा।

कन्या इक घर से जाये सबकी आँखें नम।

हम क्या जानें सत्ताधर्मी तेरे दीन करम।”

लोक कथाएँ लोक-जीवन में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाती हैं, इसके विविध प्रकार हैं—

1. मनोरंजन : लोककथाएँ लोकसमाज का मनोरंजन करती हैं एवं उसके साहित्य-रस की पिपासा को तृप्त करती हैं।

2. शिक्षा : अनपढ़ या कम पढ़े-लिखे लोगों को लोककथाएँ नाना विषयों की शिक्षा देती हैं। ये शिक्षाएँ उनके रोजमर्रा के जीवन के लिए बहुत उपयोगी होती हैं।

3. जन-संचार : जन-संचार की दृष्टि से भी लोककथाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इन कथाओं द्वारा लोक-समाज देश-विदेश के विभिन्न विषयों की जानकारी प्राप्त कर उपकृत होता है।

4. प्रतिवाद अथवा प्रतिरोध की चेतना : लोककथाएँ प्रतिवाद या प्रतिरोध की चेतना जगाने के लिए औजार का कार्य भी करती हैं। पशु-पक्षियों, फूलों, पेड़ों आदि के नेपथ्य में दरअसल मनुष्य की

कथा मनुष्य के लिए कही गई है। इनमें एक ओर शोषक है, दूसरी ओर शोषित। एक ओर अत्याचारी है, दूसरी ओर अत्याचार सहनेवाला। एक तरफ दमनकारी, दूसरी ओर दमित। एक तरफ बलवान शासक, दूसरी ओर शोषित-वंचित परिश्रमी।

सत्ता की विसंगतियों के विरुद्ध लोक प्रतिरोध की कथाओं की एक लंबी सूची बनाई जा सकती है। ऐसी कथाएँ हर भाषा-बोली में मिलती हैं। ‘सात भाई चंपा’ बंगाल की सुप्रसिद्ध लोक कथा है। यह कथा दक्षिणारंजन मित्र मजुमदार की ‘ठाकुरमार झूली’ में संकलित है। यह कथा बंगाल में इतनी चर्चित है कि कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने इस पर एक गीत भी लिखा है। अत्यंत संक्षेप में कथा इस प्रकार है—

एक राजा की सात रानियाँ थीं। प्रथम छह रानियाँ निःसंतान थीं। सबसे छोटी रानी ने सात पुत्रों एवं कन्या को जन्म दिया। इससे छहों रानियाँ जल-भुन गईं एवं उन्होंने षडयंत्र करके सभी सद्योजात शिशुओं को बगीचे में एक गड्ढा खोदकर दफना दिया एवं राजा को सूचित किया कि छोटी रानी ने चूहों एवं मेढ़कों को जन्म दिया है और उन्होंने कुछ चूहों और मेढ़कों के बच्चों को एक टोकरी में रखकर राजा के समक्ष पेश कर दिया। राजा ने उनकी बात पर विश्वास कर लिया एवं क्रोधित होकर छोटी रानी को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया।

एक दिन एक अद्भुत बात हुई। राजा के माली ने देखा कि बगीचे में चंपा के सात एवं चमेली का एक फूल खिला है। माली उन फूलों को तोड़ने गया, वे फूल अत्यंत ऊँचाई पर उठ गए। माली ने यह खबर राजा को दी। राजा ने भी फूल तोड़ने चाहे, तो सारे फूल ऊपर उठ गए। फूलों के कहने पर एक-एककर छह रानियाँ ने फूल तोड़ने की कोशिश की, पर वे भी असफल रहीं। तब छोटी रानी को ढूँढ़कर लाया गया। छोटी रानी के छूते ही सातों चंपा के फूल सात राजकुमारों

एवं चमेली का फूल राजकुमारी के रूप में रूपांतरित हो गए। राजा को सारा माजरा मालूम होने पर उन्होंने षड़यंत्रकारिणी छहों रानियों को दंडित किया। इस तरह फूलों ने राजा की मूर्खता एवं षड़यंत्रकारिणी रानियों की निष्ठुरता के विरुद्ध अपना प्रतिवाद जताया। भले ही यहाँ प्रतिवाद का स्वर मद्धिम एवं परोक्ष है, पर प्रतिवाद का शिल्प-कौशल अद्भुत है।

दूसरी कथा टुनटुनी नाम की एक छोटी चिड़िया एवं एक राजा की है। राजा के संदूक में रखे रुपयों को धूप में सुखाने के लिए रखा गया था। शाम में राजकर्मचारी जब रुपयों को संदूक में रखने लगे तब गलती से एक रुपया पड़ा रह गया। टुनटुनी ने इस रुपये को उठाकर अपने घोंसले में रखा और वह खुद को धनी मानने लगी। एकबार राजा अपने दरबार में बैठे थे, तभी टुनटुनी राजा के बाग में एक पेड़ पर बैठकर बोलने लगी—

“राजा के घर में जो धन है
टुनी के घर में भी वही धन है।”

क्रोधित होकर राजा ने सिपाहियों को उसे पकड़कर लाने का हुक्म दिया। टुनटुनी पकड़ी गई। राजा ने उसका माँस खाने के लिए उसे रानी को दिया और भूनकर लाने को कहा, परंतु टुनटुनी रानी के हाथ से छूटकर उड़ गई। राजा के कोप के डर से रानी ने एक मेढ़क भूनकर राजा को दे दिया। राजा ने उसे खाकर सोचा अब उस चिड़िया को अच्छी सजा मिली। तभी टुनटुनी उनके सामने उपस्थित होकर बोलने लगी—

“बड़ा मजा, बड़ा मजा
राजा ने खाया मेढ़क का भाजा।”

क्रोधित होकर राजा ने जल्लाद को हुक्म दिया कि सातों रानियों की नाक काट ली जाय। जल्लाद ने हुक्म का पालन किया। इसे देखकर टुनटुनी कहने लगी—

“एक टुनटुनी टुनटुनायी
सात रानियों की नाक कट गई।”

अत्यंत क्रोधित होकर राजा ने सिपाहियों को टुनटुनी को पकड़कर लाने को कहा। टुनटुनी पकड़ी गयी। राजा ने उसे पानी के साथ निगल लिया। लेकिन जैसे ही राजा ने डकार छोड़ी, टुनटुनी उस डकार के साथ निकलकर उड़ गई। उसे फिर पकड़कर लाने का हुक्म दिया गया। टुनटुनी फिर पकड़ी गई। राजा ने उसे फिर निगल लिया एवं एक सिपाही को हुक्म दिया कि जैसे ही डकार के साथ टुनटुनी बाहर निकलेगी, तुरंत तलवार से उसके दो टुकड़े कर देना है। थोड़ी देर में राजा को खाँसी आई। जैसे ही उन्होंने खाँसा, टुनटुनी उनके पेट से बाहर आ गई। सिपाही ने टुनटुनी पर वार किया, पर तलवार की धार राजा की नाक पर गिरी और राजा की नाक कट गई। तभी टुनटुनी गा उठी—

“नाक कटा राजा रे
देख तो कैसा मजा रे।”

उसके बाद वह उड़कर राज्य से पलायन कर गई। निश्चित रूप से यह एक रूपक कथा है। इसमें राजा सबल है और टुनटुनी दुर्बल। लेकिन, कथा के अंत में दुर्बल की जीत दिखाई गई है। राजा यहाँ सामंतवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है एवं टुनटुनी प्रजा का प्रतिनिधित्व करती है। एक सामान्य कारण से राजा ने उसे भयंकर सजा देनी चाही थी। टुनटुनी ने न केवल राजा की चेष्टाओं को व्यर्थ किया, बल्कि उनके विरुद्ध प्रतिवाद भी किया।

तीसरी कथा एक टुनटुनी और बिड़ालनी की है। एक किसान के घर के पीछे एक बैगन के पौधे में टुनटुनी ने अपना घोंसला बनाया था। उस घोंसले में उसके तीन छोटे-छोटे बच्चे थे। एक लोभी बिड़ालनी की नजर उन बच्चों पर थी। वह टुनटुनी के बच्चों को खाने के फिराक में रहती थी। टुनटुनी यहाँ गरीब

जनता का प्रतिनिधित्व करती है और बिड़ालनी शोषक एवं भक्षक वर्ग की। बिड़ालनी बहुत धूर्त थी। एक दिन बैगन के उस पौधे के पास आकर अत्यंत मीठे स्वर में बोली, “क्या कर रही हो बहन टुनटुनी?” टुनटुनी उसका उद्देश्य समझती थी। अत्यंत विनम्र होकर वह बोली, “प्रणाम स्वीकार करें महारानी।”

उच्चवर्ग का आदमी निम्नवर्ग का अभिवादन सुनने का अभ्यस्त होता ही है। वह खुश होकर चली गई। समय-समय पर बिड़ालनी वहाँ आती, टुनटुनी का अभिवादन पाकर खुश होकर लौट जाती। टुनटुनी संभाव्य खतरे को भाँपकर स्वयं को एवं अपने शिशुओं को बचाती रही। कुछ दिनों के बाद उसके बच्चे उड़ने लायक हो गए तो अपनी माँ का निर्देश पाकर ताड़ पेड़ पर उनलोगों ने आश्रय लिया। बिड़ालनी फिर आई, परंतु इसबार टुनटुनी का रूप बदला हुआ था। बिड़ालनी ने जैसे ही पूछा, “क्या कर रही हो टुनटुनी?” टुनटुनी ने अपनी लात दिखाकर कहा, “चल भाग, दुष्ट बिड़ालनी” और वह उड़ गई।

प्रेमचंद के उपन्यास ‘गोदान’ के होरी का कथन है कि - “जिनके पैरों तले अपनी गर्दन फँसी हो, उनके पैरों को सहलाने में ही कुशल है।” इस लोककथा में भी टुनटुनी मुश्किल समय में बिड़ालनी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करती है, लेकिन जैसे ही वह मुश्किल समय से उबरती है, बिड़ालनी को ठेंगा दिखा देती

है।

यह लोककथा दुर्बलों को संदेश देती है कि विपत्ति के समय बुद्धि का सहारा लेकर आत्मरक्षा करो, टिककर रहो और समय आने पर प्रतिवाद भी करो। प्रतिवाद मुट्टियाँ लहराने या हथियार उठाये बिना भी शांत तरीके से हो सकता है। सुप्रसिद्ध कवि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने लिखा है—

“भेड़िया गुराता है
तुम मशाल जलाओ।
उसमें और तुममें
यही बुनियादी फ़र्क है
भेड़िया मशाल नहीं जला सकता।”
(भेड़िये की आँखें सुर्ख हैं)

उपर्युक्त सारी कथाएँ काल्पनिक हैं, परंतु सारी कथाओं में अत्याचारी के विरुद्ध प्रतिशोध लेने की भावना अत्यंत खूबसूरती से पिरोयी गई है। अत्याचारी को दंड मिलने से लोकसमाज को मानसिक तृप्ति मिलती है। उसके प्रतिशोध लेने की भावना चरितार्थ होती है। वर्षों की घनीभूत हताशा, क्षोभ एवं असंतोष का प्रशमन होता है। उनका मानस मुक्त होता है।

सत्ता की विसंगतियों के विरुद्ध, किसी भी प्रकार के अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध लोक-प्रतिरोध वास्तव जगत में संभव भले न हो, परंतु बंगाल की लोककथाओं में संभव हो उठा है।

झपाटापुर (ईगल हाउस के पास)
खड़गपुर - 721301 (प. बंगाल)
मो. : 9434894190

लोक-साहित्य का भाषिक सौंदर्य

- परमजीत कुमार पंडित

मानव संप्रेषण का प्रमुख माध्यम भाषा है। संप्रेषण के मुख्यतः तीन प्रकार माने गए हैं— मौखिक या वाचिक, लिखित और सांकेतिक। वाचिक और लिखित भाषा के लिए सार्थक शब्दों के समूह की आवश्यकता होती है। सांकेतिक भाषा में संकेत करने वाला (इनकोडर) और संकेत ग्रहण करने वाला (डिकोडर) मुख्य होते हैं। मनुष्य शारीरिक चेष्टाओं के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है; जैसे— हाथ हिलाना, मुख की विविध मुद्राओं द्वारा। भाषा अपनी विकास यात्रा में सांकेतिक भाषा से वाचिक और फिर लिखित रूप में आई है। इसकी विकास यात्रा एक शिशु से समान है जो माँ की कोख से जन्म लेने के बाद अस्फुट तथा अमूर्त स्वरों में अभिव्यक्त करते हुए कालांतर में उसकी तुतली बोली के संयोजन के मध्य भाषा का अदृश्य रूप मूर्तिमान हो उठा होगा। बाल-सुलभ बोली ज्यों-ज्यों सार्थक बनती गयी होगी, त्यों-त्यों उस समाज और देश के साहित्य की आधारशिला बनी होगी।

मानव-जीवन के साथ ही साहित्य अपनी वाचिक भाषा के परंपरा में मूर्तिमान होता रहा है। कहने का तात्पर्य है कि लोकसाहित्य वाचिक परंपरा का साहित्य है जो कालान्तर में लिपिबद्ध होकर संगृहीत हुई है। वाचिक परम्परा व साहित्य में जन समुदाय की अनुभूतियाँ अनगढ़ रूप में रूपायित होते हुए कालान्तर में परिष्कृत एवं परिमार्जित होकर सार्थक स्वरूप में ढलती गई है। भाषा और साहित्य का जन्मदाता लोक-कंठ ही तो है जिसमें मनुष्य ने अपनी भावनाओं, संवेदनाओं और अनुभूतियों को भाषिक रूप देकर प्रवहमान बनाया होगा। वाचिक साहित्य का लेखक अज्ञात होता है। लोकसाहित्य समाज का सामूहिक दस्तावेज होता है। वाचिक साहित्य समाज के हरेक वर्ग को साथ लेकर

चलता है। वह मनुष्य के दुःख-सुख, हर्ष-विषाद, भविष्य की मंगलमयी आकांक्षाएँ, कल्पना, यथार्थ, आक्रोश, प्रतिशोध, करुणा, विरोधी विचारों की अभिव्यक्ति, दमित कामनाओं का विवेचन आदि भी सहजता से करती है। लोकसाहित्य के मर्मज्ञ डॉ. दिनेश्वर प्रसाद ने मनुष्य की संप्रेषणीयता के संबंध में उचित ही कहा है— “मनुष्य के मानस की संप्रेषणीयता की दृष्टि से भाषा न केवल बुनियादी महत्त्व रखती है, बल्कि यह मनुष्य के मानस की विभिन्न अवस्थाओं और संवेगों से कहीं-न-कहीं स्वाभाविक रूप से जुड़ी हुई भी है। संभव है भाषा और मानस की अवस्थाओं और संवेगों का संबंध किसी आदिम युग में अर्थात् किसी आदिम भाषा में प्रत्यक्ष रहा है। आज जो भाषाएँ प्रचलित हैं उनमें यह संबंध बहुत धूमिल रूप से मिलता है और केवल, तीव्र संवेदनात्मक शब्दों के प्रसंग में ही खोजा जा सकता है। लेकिन भाषा केवल, संवेगों और संवेदनाओं को प्रकट करने का माध्यम नहीं है। यह हमारी धारणाओं और विचारों को भी प्रकट करती है।”¹ डॉ. प्रसाद के इस कथन से स्पष्ट पता चलता है कि वर्तमान समय की खड़ी- बोली हिन्दी या अन्य भाषाएँ अपने आरंभिक काल यानी आदिम युग में सांकेतिक और मौखिक रूप में विद्यमान थी। इसलिए भाषाशास्त्रियों ने ‘भाषा’ को यादृच्छिक वाचिक ध्वनि-संकेतों की वह पद्धति माना है, जिसके द्वारा मानव परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है।

लोकसाहित्य विविध विधाओं में जन समुदाय की अभिव्यक्ति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित करता है। लोककथा, लोकगीत, लोकनाट्य, लोकसंगीत, लोक नृत्य आदि विधाएँ लोकभाषा में प्रकाश पाती हैं। सभी भाषाओं जिसका साहित्य आज निरंतर फल-फूल रहा है, की अपनी-अपनी लोकभाषाएँ रही हैं। खड़ी-बोली

॥ शोधार्थी की कलम से ॥

हिंदी का विपुल साहित्य भंडार है और इसका कारण उसकी लोकभाषाएँ और उसमें रचा गया लोक साहित्य है, जिसकी महत्ता अक्षुण्ण है। हिन्दी विस्तृत भारत के दस प्रदेशों की बोली है और उन प्रदेशों में कई लोकभाषाएँ प्रचलित हैं जिनमें हरियाणवी, खड़ीबोली, ब्रज, बुंदेली, कन्नौजी, अवधी, निमाड़ी, दक्खिनी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, मगही, मैथिली, भोजपुरी, मालवी, मारवाड़ी, हड़ौती, मेवाती, भीली, बंजारा, कुमायूनी, गढ़वाली, इत्यादि प्रमुख हैं। इन जनपदीय बोलियों का विकास क्रमशः वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत से होते हुए पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से विकसित होते हुए कालान्तर में आधुनिक आर्यभाषाओं में हुआ। लोकभाषा में साहित्य का सृजन ही उस भाषा को समृद्ध बनाती है। लौकिक संस्कृत सामान्य जनता की भाषा थी। इस लोकभाषा का प्रयोग संस्कृत नाटककारों ने अधम पात्रों के संवाद के लिए किया है। कालिदास, भवभूति आदि के नाटकों में प्राकृत का प्रयोग उपलब्ध है। कालान्तर में महात्मा गौतम बुद्ध ने पालि जनभाषा में अपने उपदेश दिये। ‘गाहासत्तसई’ (वत्सल हाल), ‘वज्जलंग’ (जयवल्लभ), ‘सेउबंधो’ (प्रवरसेन), ‘गउडवहो’ (वाक्पतिराज), ‘कुमारवालचरियं’ (आचार्य हेमचन्द्र) आदि प्राकृत लोकभाषा की रचना है। तत्कालीन समय में इसकी समृद्ध साहित्यिक विरासत थी। ‘गाहासत्तसई’ के रचयिता महाकवि वत्सल हाल ने अपने मुक्तक काव्य में लोक जीवन के विविध चित्रों को उकेरा है। कवि ने प्रकृति की गोद में निवास करने वाले ग्रामवासियों के उनमुक्त जीवन, उनकी सरलता, आदर्श-प्रेम व मानवीय संवेदनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। सामान्य नायक-नायिकाओं को लक्ष्य करके उनके विभिन्न मनोभावों को चित्रित करने का प्रयास किया है। शृंगारिक भावनाओं तथा प्रेम की पीड़ा की अभिव्यक्ति का अत्यंत मार्मिक चित्र द्रष्टव्य है—

‘धण्णा ता महिलाओ जा दइयं सिविणए वि पेच्छन्ति ।
णिद्विअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणम् ।।’

(गा.4.97)

अर्थात्— वे महिलाएँ धन्य हैं, जो प्रिय को स्वप्न में देखती हैं। उसके बिना तो नींद भी नहीं आती। स्वप्न क्या देखेंगे ?²

अपभ्रंश में स्वयंभू, पुष्पदंत, सरहपा आदि नाथों और सिद्धों की वाणियाँ प्राप्त होती हैं जिसमें लोकजीवन की अनुभूतियों के साथ नैतिक कथाएँ, धर्म, दर्शन, अध्यात्म आदि से संबंधित विषयों का सुन्दर विवेचन हुआ है। सरहपा की दो पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

“जहि मन पवन न संचरई रवि ससि नहीं पवेस ।
तहि वट चित्त वसाम करु सरहै कहिस उसेस ।।”³

अपभ्रंश भाषा में चंदबरदाई कृत ‘पृथ्वीराजरासो’ नामक महाकाव्य का प्रणयन हुआ जिसे अधिकतर विद्वान प्रामाणिक मानते हैं। विद्यापति ने अपनी ‘कीर्तिलता’ और ‘कीर्तिपताका’ की भाषा को ‘अवहट्ट’ कहा है जो उस समय की देशवाणी थी— ‘देसिल बयना सब जन मिट्ठा । ते तैसन जम्पओ अवहट्टा ।।’ अमीर खुसरो की पहेलियों और मुकरियों में खड़ीबोली के प्रारंभिक शुद्ध रूप का दर्शन होता है। पहेली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

‘एक थाल मोती से भरा । सबके सिर औंधे धरा ।।’
(आकाश अभीष्टार्थ हैं)

भक्तिकाल और शैतिकाल के कवियों ने तत्कालीन लोकभाषा में ही सृजन को महत्व दिया। ब्रजभाषा, अवधी आदि प्रादेशिक बोलियों में रचित कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, जायसी, केशवदास, पद्माकर, भूषण, बिहारी, रसखान, सेनापति आदि की रचनाओं को हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अवधी में तुलसीकृत ‘रामचरित मानस’ जनसमुदाय की जिह्वा पर विद्यमान है और घर-घर पूजनीय है, वहीं ब्रज भाषा में सूरदास और मीराबाई का कृष्ण काव्य भारत की गलियों में गुंजायमान है तो सधुक्कड़ी भाषा में कबीर की उलटबासियाँ जन मानस को मोहित करती हैं। तात्पर्य यह है कि लोकभाषा ही लोक के प्राणों की वाणी बनती है। हिन्दी साहित्य की बुनियादी संरचना

॥ शोधार्थी की कलम से ॥

भी लोकभाषा पर ही टिकी है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लोकसाहित्य के महत्व को समझा था। उन्होंने मई, 1879 ई. में ‘कविवचनसुधा’ नामक पत्रिका में प्रकाशित विज्ञप्ति में स्पष्ट रूप से लिखा था कि “जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनाकर उन्हें गाँव, शहर और पूरे देश में फैलाकर उसका प्रचार सार्वदेशिक करना चाहिए क्योंकि ग्राम गीत एवं काव्य के संगीत का त्वरित प्रभाव चित्त पर पड़ता है और मनुष्य का संस्कार बदल जाता है। अतः ग्राम गीतों का संग्रह कर छोटी-छोटी पुस्तकों में उसे मुद्रित करूँ यह मेरी हार्दिक इच्छा है।”⁴ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मातृभाषा के प्रति प्रेम को निम्न पंक्तियों में देख सकते हैं जो आज भी प्रासंगिक है—

‘निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

बिनु निज भाषा-ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।।’

जाहिर है निज भाषा और छोटे-छोटे छन्दों और लोकभाषाओं में बने गीत मनुष्य को अत्यधिक संवेदित करते हैं।

कालान्तर में कई शोधकर्त्ता एवं विद्वान ऐसे हुए जिन्होंने लोकसाहित्य के संरक्षण को महत्व दिया। सन 1926-27 के पश्चात पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने ‘कविता कौमुदी, भाग-5’, ‘हमारा ग्राम साहित्य, तथा ‘मारवाड़ी गीत संग्रह’ का प्रकाशन किया। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोकगीतों की खोज में भारत के ही नहीं बल्कि बर्मा, श्रीलंका आदि देशों के सुदूर ग्रामों की यात्रा कर गीतों का संकलन किया। इनके बाद पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, राहुल सांकृत्यायन, कृष्णानंद गुप्त, कृष्णदेव उपाध्याय, श्यामाचरण दुबे, रामनारायण उपाध्याय, श्याम परमार, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. सत्येन्द्र, डॉ. शिवसहाय चतुर्वेदी, कन्हैयालाल सहल, लक्ष्मीलाल जोशी, अनसूया अग्रवाल, डॉ. शांति जैन, डॉ. रामनिवास शर्मा, डॉ. दिनेश्वर प्रसाद, डॉ. श्रीराम शर्मा, विद्या सिन्हा प्रभृति लोक साहित्य के मर्मज्ञ

विद्वानों, शोधकर्त्ताओं ने लोकगीतों, लोककथाओं, लोकनाटकों, प्रकीर्ण साहित्य आदि का संग्रह किया एवं उसका विवेचन-विश्लेषण तर्कपूर्ण ढंग से कर सैद्धांतिक दृष्टिकोण से भी स्वरूप को निखारने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

लोकभाषा का लोकमानस पर सीधा प्रभाव पड़ता है। खड़ी-बोली की लोक बोलियाँ अपनी विशेषताओं और संस्कृति और सभ्यता की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में निरंतर समृद्ध और परंपरा को जीवित रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। लोक भाषा का सौंदर्य उसके तद्भव और देशज शब्द-रूप में तो है ही; लोकोक्तियों, मुहावरों, पहेलियों, मुकरियों और कहावतों का प्रयोग उसके सौंदर्य में चार-चाँद लगाकर अर्थ-गांभीर्य में समुचित वृद्धि करते हैं। सम्भवतः मानव-सभ्यता के साथ ही लोकोक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ जो अब तक जनता की जुबान पर चढ़ी हुई हैं। इसकी परंपरा अत्यंत प्राचीन है। महाकवि कालीदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, राजशेखर की कृतियों में उसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। पंचतंत्र, हितोपदेश आदि कृतियों में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है; जैसे— ‘शठे शाठ्यं समाचरेत।’ संस्कृत की सूक्तियों का सामान्य लोगों के द्वारा प्रयोग के कारण लोकोक्ति नाम चल पड़ा। लोकोक्ति अपनी लाघत्व, सप्राणता, सारगर्भिता, विदग्धता, सरसता आदि विशेषताओं के कारण अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है। जैसे— नौ दिन चले अढ़ाई कोस, अंधी पीसे कुत्ता खाय, चिराग तले अँधेरा इत्यादि। एक पद्यमय लोकोक्ति का उदाहरण प्रस्तुत है—

“नसकट पनही, बतकट जोय,

जो पहिलौंठी बिटिया होय।

पातर कृषि, बौरहा भाय,

घाघ कहै दुःख कहाँ समाय।।”⁵

अर्थात् पैर की नस को काटने वाला जूता और बात काटने वाली (लड़ाकू या झगड़ालू) स्त्री अत्यंत दुःखदायी होती है।

॥ शोधार्थी की कलम से ॥

मुहावरा अरबी भाषा का एक शब्द है जिसका अर्थ होता है- परस्पर बातचीत और सवाल-जवाब करना। मुहावरों की उत्पत्ति के संबंध में द्विवेदी युग के सुप्रसिद्ध साहित्यकार पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’ लिखते हैं- “मनुष्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत हैं। उसके मानसिक भाव भी अनंत हैं। घटना और कार्य-कारण-परम्परा से जैसे असंख्य वाक्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मुहावरों की भी। अनेक अवसर ऐसे उपस्थित होते हैं जब मनुष्य अपने मन के भावों को कारण विशेष से संकेत अथवा इंगित कर या व्यंग्य द्वारा प्रकट करना चाहता है। कभी कई एक ऐसे भावों को थोड़े शब्दों में विवृत करने का उद्योग करता है, जिसके अधिक लम्बे, चौड़े वाक्यों का जाल छिन्न करना उसे अभीष्ट होता है। प्रायः हास, परिहास, घृणा, आवेग, उत्साह आदि के अवसर पर उस प्रवृत्ति के अनुकूल वाक्य-योजना होती देखी जाती है। सामयिक अवस्था और परिस्थिति का भी वाक्य-विन्यास पर बहुत-कुछ प्रभाव पड़ता है और इसी प्रकार के साधनों से मुहावरों का आविर्भाव होता है।”⁶ मुहावरे का प्रयोग सदैव वाक्यों के साथ होता है। सरसता, सहजता, नैसर्गिकता और भाषा में चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता के कारण मुहावरा लोक जीवन के रोम-रोम में बसा है। लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की विशेषताओं के कारण भाषा का सौंदर्य बढ़ जाता है। मुहावरे का प्रयोग प्रसंगानुकूल होता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है- ‘अंक भरना’।

प्रयोग देखें- ‘माता ने देखते ही बेटे को अंक में भर लिया।’ यहाँ पर अंक में भर लिया अर्थात् हृदय से लगा लिया।

‘ईश्वर तुम्हारा अंक भरे’- यहाँ पर अंक भरने का तात्पर्य गोद भरने से है अर्थात् ‘तुम्हारी संतान हो।’ अलग-अलग बोलियों में मुहावरे पर प्रादेशिकता या स्थानीयता की छाप होती है और समयानुसार थोड़े-बहुत परिवर्तन होते हैं।

कहावत का शाब्दिक अर्थ होता है- कही हुई बात।

कहावत लोक जीवन के ज्ञान और अनुभव से उद्भूत होती है। कहावत मनुष्य के मनःस्तिष्क को झकझोरती ही नहीं, बल्कि तत्काल क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणाम तक ले जाने में भी समर्थ होती है। यह मनुष्य को गहरे तक संवेदित भी करती है। अपनी बुनावट में कसावपूर्ण और वाचन में सहजता के कारण वक्तृत्व में अधिक आकर्षण पैदा करता है। मनुष्य की प्रत्येक अवस्था; सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, प्रेम-क्रोध, युद्ध-शांति, आनंद-अवसाद इत्यादि के लिए कहावत अत्यंत संक्षिप्त (मात्र कुछ शब्दों का) और प्रभावशाली माध्यम है। कहावत कभी व्यंग्य करती है, कभी गुदगुदाती है, कभी तिलमिला देती है और कभी शांत भी कर देती है। साहित्य की विविध विधाओं में कहावतों का व्यापक महत्व है। निमाड़ी लोकसाहित्य के अध्येता श्री रामनारायण उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है- ‘लोक कहावतों को यदि सामाजिक न्याय की चलती फिरती अदालतें कहें तो भी अत्युक्ति नहीं। किसी बड़े से बड़े विवाद का समय और शब्दों में अचूक निर्णय देने की इनमें अद्भुत क्षमता होता है। दलीलें और उपदेश भी जहाँ हार मान जाते हैं, वहाँ कहावते अपना रंग जमाती आई हैं।’⁷ अपनी काव्यमयी भाषा लोक-रंजकता और रूपक, उपमा, श्लेष, यमक, अन्योक्ति इत्यादि अलंकार प्रयोग के कारण लोक मानस में प्रभावशाली उपस्थिति दर्ज करवाती है। उदाहरणार्थ-

‘साँझ को आयौ पाहुनों, औरु सबेरे कौ मेहु।’

इसका तात्पर्य है- पाहुन और मेहु दोनों लौटकर नहीं जाते हैं।

अन्य उदाहरण-

1. सौकीन डुकरिया चटाई को लहँगा।

2. अरहर की टटिया गुजराती तारौ।

पहेली की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। संस्कृत में इसे ‘प्रहेलिका’ कहा जाता है। इसे बुझावल, कूटपद, पाड़छी, ढकोसला आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। पहेलियों के उद्भव एवं विकास के संबंध में ‘फ्रेजर’ का कथन है कि “इनका उदय उस समय हुआ होगा, जबकि किन्हीं कारणों से वक्ता को किसी

॥ शोधार्थी की कलम से ॥

बात को स्पष्ट शब्दों में कहने में किसी प्रकार की अड़चन हुई होगी। मानव में बुद्धि के विकास के साथ ही मनोरंजन की भावना पैदा हुई होगी। अतः अपने ज्ञान को रहस्यात्मक रूप में कहकर उसने दूसरों की बुद्धि-परीक्षा ली होगी और उसके साथ ही मनोरंजन भी हुआ होगा।”⁹

पहेलियों में मनुष्य के मनोविज्ञान, जिज्ञासा, हास्य, आश्चर्य, बुद्धिकौशल, सामाजिक वैविध्य को देखा-परखा-समझा और उजागर किया जा सकता है। समय के साथ परिवर्तनों को स्वीकार कर ही पहेलियाँ आज तक जीवित हैं। कुछ पहेलियाँ कुछ शब्दों से मिलकर बने होते हैं, कुछ छंदबद्ध होते हैं। प्रत्येक पहेली अपना निश्चित उत्तर या अर्थ रखती है। पहेली अपने उद्देश्य में जिज्ञासा, ज्ञान-वृद्धि, कौतूहल, लाक्षणिकता, मनोरंजकता आदि के साथ ही बुद्धि को तराशने का भी काम करती है। इसलिए पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने पहेलियों को बुद्धि पर शान चढ़ाने का यंत्र कहा है। डॉ. दिनेश्वर प्रसाद ने पहेलियों की व्यापकता के संबंध में ठीक ही लिखा है— “पहेली की संरचना में कहीं बहुत गहराई में यह विश्वास बद्धमूल है कि जटिल और गूढ़ शैली का अर्थ जटिल और गूढ़ ज्ञान है। यही कारण है कि पहेलियाँ वेदों से लेकर संत साहित्य तक तत्त्वज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होती रही हैं।”¹⁰ कबीर की उलटबासियां तथा सूरदास के दृष्टकूट पदों में अभीष्टार्थ गोपन का भाव सुरक्षित है। अमीर खुसरो की पहेलियाँ भी अत्यंत प्रसिद्ध हैं। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने पहेलियों को सात वर्गों में विभक्त किया है— खेती, भोज्य-पदार्थ, घरेलू-वस्तु, प्राणी, प्रकृति, शरीर संबंधी पहेलियाँ और प्रकीर्ण (फुटकल, विभिन्न) पहेलियाँ। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कृषि संबंधी पहेली—

“हरी थी मन भरी थी, नौ लाख मोती जड़ी थी।
राजा जी के महल में दुसाला ओढ़ाया खड़ी थी।।”
मेरा हरा रंग मन को लुभाने वाला था। नौ लाख
मोती अर्थात् पीले-पीले दाने मेरे अंग की शोभा को

बढ़ा रहे थे और किसान के महल (खेत) में दुशाला (भुट्टे के ऊपरी छिलके) ओढ़ कर खड़ी हुई थी।
अभीष्टार्थ है— भुट्टा।

फल संबंधी पहेली —

“आकाश मारयां मीमला पाताल काढ़ी खाल।
इसा फल कूण सा जिसके भीतर बाल।।”
अभीष्टार्थ है— आम।

कभी-कभी लोक की मौखिक शास्त्रार्थ की चुनौती के समक्ष आचार्यों की बुद्धि भी चकरा जाती है। श्लेष के द्वारा बुद्धि-परीक्षा का उदाहरण—

“घर में उपजै घर बह जाये,
खेत में उपजै सब कोई खाये।”
अभीष्टार्थ है— फूट।

घर में यानी आपस में पैदा हुआ फूट घर के सौहार्द का विनाश करती है। सुख-चैन छिन जाता है और दूसरे अर्थ में ‘फूट’ नाम का फल जो खीरा की जाति का होता है।

खान-पान से संबंधित पहेली का उदाहरण —

“छोटा सा सिपाही वाके पेट में बिवाई।” (अभीष्टार्थ है— गेहूँ)

“नुहाया धुवाया गुलचे मार सुवाया।।” (गूंथा हुआ आटा)

लोक मानस ने अपनी पैनी सूझ-बूझ, सादृश्य-निरूपण की क्षमता, रूपकात्मक बिम्ब सृष्टि कर अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। आज भी विवाह के अवसर पर नारियाँ वर से पहेली पूछती हैं और सही जबाब देने पर ही कोहबर में प्रवेश करने देती हैं। “पहेली में जिस वस्तु का वर्णन होता है उसके गुण, रूप-रंग, आकार-प्रकार का उपयोग या स्वभाव के बारे में श्लेषात्मक संकेत रहता है उनके भीतर भेद किसी न किसी रूप में चिपका रहता है। बस, उसी को पकड़ कर मूल-वस्तु की खोज की जाती है। यह कभी-कभी बंद डिबिया-सी भी दिखाई देती है परन्तु उसकी चाबी आस-पास ही होती है।”¹¹

‘मुकरी’ शब्द ‘मुकरना’ शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है किसी बात को कहकर बदल जाना या

वादा की गयी बात से बाद में मुकर जाना। मुकरी लोकप्रचलित पहेलियों का ही एक रूप है जिसका लक्ष्य मनोरंजन के साथ-साथ बुद्धि-चातुर्य की परीक्षा लेना होता है। इसमें जो बातें कही जाती हैं, वे द्विअर्थी या श्लिष्ट होती हैं, पर उन दोनों अर्थों में से जो प्रधान या उद्देश्य होता है, उससे मुकर कर दूसरे अर्थ को उसी छंद में स्वीकार किया जाता है, किंतु यह स्वीकारोक्ति वास्तविक नहीं होती। अर्थात् बाद में उसी कही गयी बात से मुकर कर कोई सामान्य अर्थ का द्योतक बात को कह दिया जाता है जिससे लक्ष्य या सुननेवाला आदमी कुछ का कुछ समझने लगता है। इसमें प्रत्यक्ष रूप से व्यंग्य करके अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा दी जाती है। लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्ति के कारण भाषा का अर्थ-गांभीर्य बढ़ जाता है। वक्रोक्ति कथन से भाषा की चारुता बढ़ जाती है और श्रोता का मनोरंजन भी हो जाता है। अमीर खुसरो और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मुकरियाँ अत्यंत प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ—

“फ़ारसी बोली आईना।

तुर्की ढूँढ़ी पाईना।।

हिन्दी बोलूँ तो आरसी आए।

खुसरो कहे कोई न बताएँ।” - अमीर खुसरो

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ‘नये जमाने की मुकरी’ नाम से मुकरियों की रचनाएँ की हैं जिसमें अंग्रेजों के कृत्यों का उद्घाटन होता है—

“भीतर भीतर सब रस चूसै।

हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै।।

जाहिर बातन में अति तेज।

क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेज।।”

मुकरियाँ लोकभाषा की अभिव्यक्ति रूप को अत्यंत सुरुचिपूर्ण, गंभीर और मनोरंजक बनाती है।

प्रतीक लोक जीवन की ही देन हैं। भारतीय लोक में संवेदनशील तथ्यों को प्रतीक के माध्यम से कहने की परम्परा रही है। भाषा स्वयं एक प्रतीक है। मौखिक साहित्य में शब्द, चित्रकला में रंग-रेखाओं एवं आकृतियों तथा प्रदर्शन अथवा मंचन कलाओं में स्वर, लय,

ताल, नृत्य और अभिनय के माध्यम से प्रतीक साकार होते हैं। अर्थ, बिम्ब एवं अभिप्राय से मिलकर प्रतीक निर्मित होता है। हिन्दी में ध्वनि चिह्न भी प्रतीक ही है। मनुष्य ने प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को समझने के लिए ही प्रतीक का निर्माण किया होगा। प्रतीक के माध्यम से कई बात, विचार या भाव का चित्र मानव-मस्तिष्क पर तुरंत बनने लगता है और प्रभावशाली रूप से जल्दी भुलाये भी नहीं जा सकते। उदाहरणस्वरूप वृक्ष को लिया जा सकता है। प्रारंभिक अवस्था में मानव ने पेड़-पौधों में देवताओं की कल्पना की होगी। तब से वृक्ष देवता के प्रतीक बन गये। वृक्षों की पूजा इस अवधारणा का प्रमाण है। गुणों के सादृश्यता के कारण भी प्रतीक निर्मित हुआ है; जैसे— अच्छाई का प्रतीक देवता, विद्या की देवी सरस्वती इत्यादि। ॐ, स्वस्तिक, क्रॉस आदि प्रतीक जो आज भी लोक समाज में प्रचलित हैं वे केवल प्रतीक चिह्न भर नहीं हैं, बल्कि इनमें पूरी संस्कृति और सभ्यता की पहचान छिपी होती है। लोक जीवन में सर्वाधिक प्रतीक प्रकृति से जुड़े हुए हैं क्योंकि प्राणी जगत और प्रकृति का साहचर्य सदैव से विद्यमान है। समयानुकूल प्रतीक के अर्थ बदलते भी रहते हैं तथा कुछ प्रतीक सार्वकालिक होते हैं। आधुनिक काल के साहित्यकारों ने नये-नये प्रतीकों का प्रयोग कर भाषिक सौंदर्य को बढ़ाया एवं अभिव्यक्ति को पुष्ट किया।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोकभाषा मनुष्य के विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। जिस प्रकार नारी विभिन्न प्रकार के शृंगार साधनों से सजकर अति सुन्दर लगने लगती है, उसी प्रकार लोकभाषा कहावतों, मुहावरों, लोकोक्तियों, पहेलियों, मुकरियों, प्रतीक, बिम्ब एवं देशज शब्दों आदि के प्रयोग द्वारा अपनी संप्रेषणीयता, प्रभावशीलता, आकर्षणीयता आदि में वृद्धि करती है। प्रत्येक भाषा अपने समय में लोकभाषा ही होती है और उन्हीं लोकभाषाओं में से जनप्रियता, सहजता, सरसता, जीवंतता के कारण मुख्य भाषा के रूप गृहीत होकर साहित्य सृजन का माध्यम बनती है। मध्यकाल में ब्रजभाषा और अवधी

॥ शोधार्थी की कलम से ॥

मुख्य भाषा के पद पर विराजमान थीं जिसमें विपुल मात्रा में हिन्दी साहित्य रचा गया। अब खड़ी बोली में रची जा रही हैं। कालान्तर में अन्य बोलियाँ मुख्य भाषा के रूप में विराजमान हो सकती हैं। जो भाषा जितनी लोकप्रचलित होगी वह उतनी ही भाषा के केन्द्र में अपना स्थान बनायेगी। लोकभाषा लोक के ज्ञान और अनुभव से पूर्ण होते हुए रीति-रिवाज, विश्वास, उत्सव, त्यौहार, पर्व, आदि कुल मिलाकर संस्कृति, सभ्यता और परंपरा की पूर्ण अभिव्यक्ति का माध्यम होती है। लोकभाषा के शब्द-बंधों और शब्दों में

कोमलता, चारुता, मिठास, अर्थ-गांभीर्य, चमत्कारोत्पादक क्षमता, सामासिकता, अर्थ-विन्यास आदि गुणों से समृद्ध होने के कारण ही जनता के बीच जीवित है। लोक साहित्य की अध्येता विद्या सिन्हा ने ठीक ही लिखा है- “लोक की बोलचाल की भाषा में अभिव्यक्ति क्षमता इसलिए बहुत अधिक होती है क्योंकि वह कम से कम समय में अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच जाती है।”¹² वस्तुतः समाज में लोकभाषा का महत्व जीवन के प्रत्येक क्षण में है।

संदर्भ सूची

1. प्रसाद, डॉ. दिनेश्वर, संपादन - प्रसाद, डॉ. मृदुला, लोक, लोकवार्ता और लोकसाहित्य, नीरज बुक सेंटर, दिल्ली, प्रथम संस्करण - सन् 2021, पृष्ठ संख्या - 72
2. डागा, डॉ. तारा, प्राकृत साहित्य की रूप-रेखा, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर, पृष्ठ संख्या- 85
3. मिश्र, डॉ. राजेन्द्र, हिन्दी साहित्य का नया इतिहास, तक्ष-शिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2012, पृ.सं. - 25
4. अग्रवाल, डॉ. अनसूया, हिन्दी लोकसाहित्यशास्त्र सिद्धांत और विकास, नीरज बुक सेंटर, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2009, पृष्ठ संख्या - 275
5. अंसारी, डॉ. परवीन निज़ाम, लोक साहित्य के विविध आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण - 2016, पृष्ठ संख्या - 288
7. हरिऔध, अयोध्यासिंह उपाध्याय, बोलचाल, पृष्ठ संख्या - 36-37
8. निरगुणे, वसन्त, लोक संस्कृति, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, संस्करण - पंचम (आवृत्ति) 2012, पृष्ठ संख्या - 117
9. अंसारी, डॉ. परवीन निज़ाम, लोकसाहित्य के विविध आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण- 2016, पृष्ठ संख्या - 297
10. अग्रवाल, डॉ. अनसूया, हिन्दी लोकसाहित्यशास्त्र, सिद्धांत और विकास, नीरज कुमार सेंटर, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2009, पृष्ठ संख्या - 177
11. शर्मा, डॉ. रामनिवास, लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति, पंकज बुक्स, दिल्ली, संस्करण-2019, पृष्ठ संख्या-125
12. सिन्हा, विद्या, भारतीय लोक साहित्य परंपरा और परिदृश्य, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, प्रथम संस्करण- 2011, पृष्ठ संख्या - 34

शोधार्थी, कलकत्ता विश्वविद्यालय
मो. : 9932232314
pkp2202@gmail.com

लोक साहित्य का सामाजिक संदर्भ

- निधि कुमारी सिंह

लोगों को मनोरंजित व आनंदित करने वाले लोक साहित्य की परंपराएँ प्रत्येक देश व समाज में पायी जाती हैं। लोक साहित्य द्वारा ही युग-युग की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों का परिचय मिलता है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक तथा एक समुदाय से दूसरे समुदाय तक पहुंचने वाले लोक साहित्य की परम्पराएँ आज हम तक पहुँची हैं। ये ही वे कड़ियाँ हैं, जिन्होंने हमें इतिहास की लुप्त होती हुई कड़ियों को जोड़ने में सहायता पहुँचाई है। अतीत को वर्तमान से जोड़कर उसमें परस्पर समन्वय स्थापित करना इस साहित्य की एक अलग विशेषता रही है, जिसके परिणाम स्वरूप ही यह केवल सांस्कृतिक धरोहर एवं बीते हुए कल की आवाज मात्र न होकर आज भी जीवन्त सर्जना है। आज लोक साहित्य, वाणी है, इसी कारण लोक साहित्य का महत्व शैक्षणिक एवं ऐतिहासिक क्षेत्रों में भी स्वीकार कर उपयोग किया जाता है।

प्रस्तावना : एक व्यापक और गहन विषय है ‘लोक साहित्य का सामाजिक संदर्भ’। जो समाज की सांस्कृतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और सामाजिक मान्यताओं को उजागर करता है। लोक साहित्य, जिसका अर्थ है ‘जनता का साहित्य’, मौखिक परंपराओं, गीतों कहानियों, नृत्यों, पर्वों और अन्य सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से समाज की सामूहिक चेतना और अनुभवों को संरक्षित करता है। लोक साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, इसलिए उसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समाज और प्रकृति सभी कुछ समाहित है। ‘लोक’ मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। जनसाहित्य (लोकसाहित्य) का आदर्श विशिष्ट साहित्य से पृथक् होता है। किसी देश अथवा क्षेत्र का लोकसाहित्य वहाँ के आदिकाल से

लेकर अब तक की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है, जो साधारण जनस्वभाव के अंतर्गत आती हैं। इस साहित्य में जनजीवन की सभी भावनाएँ समाहित होती हैं। अगर हमें कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो तो वहाँ के लोकसाहित्य का विशेष अवलोकन करना होगा।

लोक साहित्य का विषय क्षेत्र जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त भावों को संजोए हुए है। यह साहित्य मनुष्य के अतीत पर प्रकाश डालता है। यह जनसामान्य की प्रधान संस्कृति, मान्यताओं एवं परंपराओं में पूर्ण विश्वास की अभिव्यक्ति करता है। हिंदी में प्रचलित लोक साहित्य शब्द अंग्रेजी के Folk literature शब्द का अनुवाद है।

लोक साहित्य में काव्य कला संस्कृति और दर्शन सभी कुछ एक साथ है। यह शब्द विनियम का प्रथम कला पूर्ण प्रारम्भ भी है, जिसके द्वारा यंत्र-मंत्र, जंत्र-तंत्र, पहेली, मुहावरे, लोकोक्तियों, लोककथाओं, गीतों आदि के रूप में प्रत्येक जाति अपनी जीवन पद्धति और उसकी प्रणालियों को आगे आने वाली पीढ़ी को सौंपती रही है। यही कारण है कि इसमें प्राचीन युग का साहित्य, धर्म दर्शन, विश्वास, संस्कार, कर्मकाण्ड तथा काल आदि सभी कुछ एक साथ प्राप्त होता है और इसी के द्वारा किसी भी देश, समाज व जाति की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा बौद्धिक उन्नति को समझा जा सकता है।

लोक साहित्य के मूलतः चार रूप देखने को मिलते हैं— लोक-गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा और लोक-नाट्य।

1. लोक गीत : लोक गीत जनपदीय साहित्य का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप है। इसका प्रभाव सबसे अधिक व्यापक है। इनकी मात्रा भी अन्य साहित्य रूपों की तुलना में अधिक है। लोक गीत अपनी सहजता,

रसमयता तथा प्रवहमयता के कारण महत्वपूर्ण होते हैं। ये लयबद्ध और मधुर होते हैं। ये आम जनो के मनोभावों की सहज अभिव्यक्ति होते हैं। इनमें उनका सुख-दुःख, हानि-लाभ, हाट-बाजार, क्रोध-आशीर्वाद सभी अभिव्यक्त होता है। उदाहरण : संस्कार गीत, व्रत, उत्सवों के गीत, ऋतु संबंधी गीत, श्रम संबंधी गीत, विवाह गीत, आदि।

2. लोक गाथा : लोक गीतों का ही एक रूप लोक गाथा है। लोक भाषा के माध्यम से जब संगीत के आवरण में कथा वस्तु को अभिव्यक्त किया जाता है उसे लोक गाथा कहते हैं।

3. लोक कथा : लोक भाषा के माध्यम से सामान्य जनजीवन में प्रचलित विश्वास, आस्था और परंपरा पर आधारित कथाएं लोक कथा के अंतर्गत आती हैं। लोक साहित्य के अध्ययन में लोक कथाएं महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उदाहरण :- व्रत कथा, प्रेम कथा, दंत कथा, पौराणिक कथा, नाग कथा, आदि।

4. लोक नाट्य : लोक नाट्य में दो शब्द जुड़े हुए हैं 'लोक' और 'नाट्य'। जनसमूह या लोक की कृति जब नाटक के रूप में किसी कथावृत्त को प्रस्तुत करती है तो उसे लोक नाट्य या नाटक कहा जाता है। संवाद के माध्यम से मंच पर अभिनय तथा गीत-संगीत के साथ प्रस्तुत ऐसी कृतियाँ, जिनका रचयिता व्यक्ति विशेष न होकर संपूर्ण लोक होता है, जो परंपरा से मौखिक रूप में चली आयी है, लोक नाटक कहलाती हैं। उदाहरण : रामलीला, स्वांग, यक्षगान, भवाई, तमाशा, नौटंकी, जात्रा, कथकल आदि।

इसका सामाजिक संदर्भ निम्नलिखित बिंदुओं में विस्तार से समझा जा सकता है :

1. सांस्कृतिक धरोहर का संरक्षण : लोक साहित्य समाज की सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करता है। यह पीढ़ी दर पीढ़ी संप्रेषित होता है और सामूहिक स्मृति का हिस्सा बनता है। जैसे- लोक कथाएं, लोक गीत और लोक नृत्य समाज की सांस्कृतिक पहचान और मूल्यबोध को संरक्षित करते हैं।

2. सामाजिक मूल्यों और आदर्शों का प्रचार-प्रसार: लोक साहित्य सामाजिक मूल्यों, आदर्शों और

नैतिकता का प्रचार-प्रसार करता है। कहानियों और गीतों के माध्यम से सद्गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की निंदा की जाती है। उदाहरण के लिए पंचतंत्र की कहानियाँ नैतिकता और व्यावहारिक बुद्धि का प्रचार करती हैं।

3. सामाजिक एकता और सामुदायिक भावना : लोक साहित्य सामाजिक एकता और सामुदायिक भावना को प्रोत्साहित करता है। सामूहिक उत्सवों, पर्वों मेलों के दौरान लोक गीत और नृत्य समुदाय के लोगों को एकजुट करते हैं सामुदायिक भावना को मजबूत करते हैं। इससे सामाजिक सौहार्द और भाईचारा बढ़ता है।

4. सामाजिक बदलाव और प्रगति : लोक साहित्य समाज में हो रहे बदलावों और प्रगति को भी अभिव्यक्त करता है। यह समाज की बदलती परिस्थितियों, संघर्षों और उपलब्धियों का दस्तावेजीकरण करता है। उदाहरण के लिए, स्वतंत्रता संग्राम के दौरान रचे गए लोक गीत और कविताएं उस समय के सामाजिक और राजनीतिक बदलावों को दर्शाती हैं।

5. स्त्री समाज की स्थिति और अधिकार : लोक साहित्य में स्त्री समाज की स्थिति और अधिकारों का भी उल्लेख होता है। लोक कथाओं और गीतों में नारी के संघर्ष, उसकी पीड़ा और उसकी भूमिका का वर्णन मिलता है। इससे समाज में नारी के प्रति दृष्टिकोण और उसकी स्थिति का पता चलता है।

6. धार्मिक और आध्यात्मिक संदर्भ : लोक साहित्य धार्मिक और आध्यात्मिक संदर्भों से भी भरपूर होता है। इसमें देवी-देवताओं की कथाएं, धार्मिक अनुष्ठान, त्योहार और लोक मान्यताएं सम्मिलित होती हैं। इससे समाज के धार्मिक विश्वास और आस्था का पता चलता है।

7. आर्थिक और पेशागत संदर्भ : लोक साहित्य में समाज के आर्थिक और पेशागत संदर्भ भी प्रमुखता से उभरते हैं। कृषक, शिल्पकार, मछुआरे और अन्य पेशागत समूहों की जीवनशैली, उनके कामकाज और उनकी चुनौतियों का चित्रण लोक साहित्य में मिलता है।

लोक साहित्य का महत्व : लोक साहित्य का महत्व सामाजिक परिवेश में अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह न केवल सांस्कृतिक धरोहर को संजोता है, बल्कि समाज के विभिन्न

॥ शोधार्थी की कलम से ॥

पहलुओं को भी उजागर करता है। यहाँ कुछ प्रमुख बिंदुओं के माध्यम से इसका महत्व समझ सकते हैं :-

1. सांस्कृतिक पहचान : लोक साहित्य किसी भी समाज की सांस्कृतिक पहचान का प्रतिबिंब होता है। यह समाज की परंपराओं, रीति-रिवाजों, और मान्यताओं को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाता है।

2. मानवीय मूल्यों का संचार : लोक साहित्य के माध्यम से नैतिक और मानवीय मूल्य बच्चों और युवाओं तक पहुँचाए जाते हैं। कहानियाँ, गीत, और कविताएँ जीवन के महत्वपूर्ण पाठ पढ़ाने का काम करती हैं।

3. सामाजिक एकता : लोक साहित्य समुदाय के लोगों को एकजुट करता है। त्योहारों, विवाह, और अन्य सामाजिक समारोहों में लोक गीतों और कहानियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है, जो सामाजिक एकता को बढ़ावा देता है।

4. शिक्षा और मनोरंजन : पारंपरिक कहानियाँ और गीत शिक्षा और मनोरंजन दोनों का माध्यम होते हैं। वे मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवर्धक भी होते हैं।

5. इतिहास का संरक्षण : लोक साहित्य में समाज के ऐतिहासिक घटनाओं, वीर गाथाओं, और पुरानी कथाओं का संग्रह होता है। ये इतिहास के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं।

6. भाषाई विकास : लोक साहित्य विभिन्न भाषाओं और बोलियों के विकास में सहायक होता है। यह स्थानीय भाषाओं और बोलियों को जीवित रखने का काम करता है।

7. समाज की समस्याओं का चित्रण : लोक साहित्य में समाज की समस्याओं, संघर्षों, और उनके

समाधान का चित्रण मिलता है। यह समाज में सुधार के लिए प्रेरणा देता है।

8. आर्थिक योगदान : लोक साहित्य और इससे जुड़ी कलाएँ, जैसे लोक नृत्य और नाट्य, पर्यटन और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से आर्थिक लाभ प्रदान करती हैं।

लोक साहित्य का सामाजिक परिवेश में व्यापक प्रभाव होता है और यह समाज के समग्र विकास में सहायक सिद्ध होता है। इसके माध्यम से समाज अपनी जड़ों से जुड़ा रहता है और आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

निष्कर्ष : लोक साहित्य समाज का दर्पण है, जो समाज की सामूहिक चेतना, अनुभवों, संघर्षों, साथ ही जो जनसाधारण के जीवन, विचार और भावनाओं का प्रतीक होता है, भारतीय संस्कृति की एक अमूल्य धरोहर है। यह साहित्य सदियों से लोगों की मौखिक परंपराओं के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता रहा है। लोकगीत, लोककथाएँ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ और लोकनाटक इसके मुख्य रूप हैं। इनकी सरल भाषा और सहज शैली के कारण यह लोगों के दिलों में बसता है और उनकी संस्कृति और परंपराओं को सजीव बनाए रखता है। लोक साहित्य समाज का आईना है, जिसमें उसकी उम्मीदें, दुख, संघर्ष और खुशियाँ झलकती हैं। यह समाज की सांस्कृतिक धरोहर, सामाजिक मूल्य, एकता और प्रगति को संरक्षित और प्रचारित करता है। इसके माध्यम से हम अपने अतीत को समझ सकते हैं और वर्तमान को बेहतर बना सकते हैं। लोक साहित्य का अध्ययन और संरक्षण समाज की सांस्कृतिक पहचान और मूल्यबोध को बनाए रखने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

संप्रति : एम.ए. विद्यार्थी, कलकत्ता विश्वविद्यालय
ड्रीन लैंड पाठागार रोड बाई लेन पनिहाटी,
उत्तर 24 परगना, पश्चिम बंगाल - 700 114
मो. : 6291149178
ई-मेल : ns510334@gmail.com

लोकसाहित्य में लोकगीतों के माध्यम से दीखती है भारतीय संस्कृति

- विवेक तिवारी

प्राचीन समय से ही लोक परम्परा को जीवंत रखने का कार्य लोकसाहित्य करता आ रहा है। लोकसाहित्य से बिना जुड़े आप किसी भी देश की संस्कृति या परंपरा से नहीं जुड़ सकते। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियाँ, आचार-विचार, रहन-सहन एवं रीति रिवाजों की पहचान वहाँ के लोक साहित्य के अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है।

लोक साहित्य समस्त लोक का प्रतिबिंब खींचता हुआ हमारे सामने आता है। लोक सभ्यता और लोक संस्कृति का जो स्पष्ट रूप लोकसाहित्य में दृष्टिगत होता है, वह और कहीं नहीं देखने को मिलता। लोक साहित्य के अंतर्गत उन सभी रूपों का समावेश होता है, जो लोगों में मौखिक रूप से प्रचलित होती हैं। जिसमें लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, मुहावरे, कहावतें आदि प्रमुख होते हैं। इस आलेख में लोकगीत तथा उसके रूपों के माध्यम से भारतीय संस्कृति और परम्परा को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

लोकगीत हमारे जीवन विकास की गाथा है। उसमें जीवन के सुख दुःख, मिलन विरह, उतार चढ़ाव की भावनाएं व्यक्त होती हैं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का कहना है कि लोकगीत का मूल जातीय संगीत में है। लोक गीत का विस्तार कहाँ तक है यह बताना असंभव है। इसमें सदियों से चले आ रहे धार्मिक विकास एवं परंपराएं जीवित रहती हैं। लोकगीत श्रुतिपरंपरा से ही अपना मार्ग बनाती हुई आज भी लोक में प्रचलित है। इसमें तर्क कम और भावना का समावेश अधिक होता है। लोक गीत लोकमानस के स्वच्छ और पावन

गंगा यमुना के प्रवाह के समान है, जिसमें सुख-दुःख, प्रेम और करुणा के विविध रंग समाहित होते हैं। कहीं पुत्र के जन्म के अवसर पर हर्षोल्लास के स्वर गूँजते हैं तो कहीं कन्या की विदाई या प्रिय वियोग की बेला में करुणा के गीत मुखर होते हैं।

लोकगीत हमारी संस्कृति विरासत का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है और यही कारण है यह गीतकारों और सभी कलाकारों के लिए प्रेरणास्रोत बने हैं। लोकगीत का इतिहास लंबा और समृद्ध है, जो मानव जीवन के शुरुआती दिनों से जुड़ा हुआ है। लोकगीत आमतौर पर पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से पारित किया जाता है। यह अक्सर बनाने वाले लोगों की संस्कृति और इतिहास को दर्शाता है।

लोकगीत हमारे पारंपरिक मूल्यों और विश्वासों को संरक्षित तथा प्रसारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह प्रकृति और अतीत से जुड़ने में भी हमारी बहुत मदद करता है तथा लोगों के लिए खुद को और अपनी संस्कृति को अभिव्यक्त करने का एक तरीका है। लोक गीत समाज के लोगों को संगठित करने में अपनी अहम भूमिका अदा करता है।

लोकगीत के विषय में और गहनता से जानने के लिए आवश्यक है कि हम उसके रूपों को जानें। लोकगीत के अध्ययन के पश्चात हमें इसके चार रूप देखने को मिलते हैं, जिनका वर्गीकरण हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं :-

(क) **संस्कार के गीत** : ऐसे गीत जो मानव जीवन के 16 संस्कारों के प्रयोजन में गाए जाते हैं, वे संस्कार गीत कहे जाते हैं। इसके अंतर्गत गाए जाने वाले गीतों

॥ शोधार्थी की कलम से ॥

में लोक की भावना तथा भारतीय संस्कृति परिलक्षित होती है। संस्कार गीत भी अपने अंदर कई प्रकार के गीतों को समाहित किए हुए है, जिसमें सोहर, खेलवना, मुंडन, जनेऊ, विवाह आदि के गीत प्रमुख हैं। इन गीतों का सामान्य परिचय इस आलेख में प्रस्तुत कर भारतीय संस्कृति को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

1. सोहर : सोहर उस गीत को कहा जाता है जो पुत्र के जन्मोत्सव पर गाया जाता है। परन्तु इसका मुख्य नाम मंगल गीत है। तुलसीदास जी ने भी रामचरितमानस में राम के जन्म पर मंगल गीत ही गवाया है—

“गावहिं मंगल मंजुल बानी। सुना कलरव कल कंठ लजानी।”

आज भी ग्रामों में इस परंपरा को जीवंत रखा गया है। आज भी जब किसी के घर पुत्र रत्न पैदा होता है तब टोले मोहल्ले की स्त्रियां उसके यहाँ एकत्र होकर सोहर या मंगल गीत गाती हैं। यह गीत 12 दिनों तक गाया जाता है और जब तक बालक का बरही संस्कार समाप्त नहीं होता, तब तक इन गीतों की समाप्ति नहीं होती। सोहर का एक उद्धरण द्रष्टव्य है—

“कवना नगर में राम जनमले,
कवना नगर भये शोर।”

2. खेलवना : खेलवना के गीतों को भी सोहर के अंतर्गत ही समझना चाहिए, क्योंकि सोहर की भाँति इन गीतों का विषय भी पुत्र जन्म से ही होता है। सोहर और खेलवना में बहुत ही सूक्ष्म अंतर देखने को मिलता है। सोहर पुत्र जन्म के बाद मंगल गीत या बधाई के लिए गाया जाता है तथा खेलवना में कहीं-कहीं पुत्र जन्म से पूर्व का ही वर्णन गीत के माध्यम से किया जाता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

“वेदों में सुन आए हैं, गोपाल सुंदर है लालना”

3. जनेऊ के गीत : भारतीय संस्कृति में जनेऊ (यज्ञोपवीत) संस्कार प्रधान माना जाता है। मुख्यत

उच्च वर्गीय समाज बड़े उत्साह के साथ अपने बालकों का यज्ञोपवीत संस्कार कराते हैं। जनेऊ देने से पहले बालक का चूड़ाकर्म संस्कार घर परिवार की स्त्रियों द्वारा किया जाता है, जिसमें वे बालक को हल्दी लगाकर स्नान कराती हैं। और अपने कंठ से गीत गाती हैं—

“पाँच सखी हो मीलिके, हरदी चढ़ाव हमरा लाल के।

बारहो बाजन बजायके, हरदी चढ़ाव हमरा लाल के।।”

4. विवाह का गीत : अन्य संस्कारों के समान भारतीय परम्परा में विवाह एक अत्यंत महत्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। भारतीय समाज में एक स्त्री या पुरुष का जीवन तब तक पूर्ण नहीं माना जाता, जब तक उसका विवाह संस्कार सम्पन्न नहीं हो जाता है। विवाह संस्कार में भी बहुत की रस्में होती हैं। वर पूजन (तिलक) से शुरू होकर वधू विदाई तक की रस्मों तक चलने वाले इस संस्कार में ग्रामीण स्त्रियों द्वारा अलग-अलग रस्म के अलग-अलग गीत गाए जाते हैं—

तिलक के गीत :

“गाय के गोबर से अंगना लिपायो रघुनंदन हरि,
गजा मोती चउका पुरायो सुनहु रघुनंदन हरि।”

द्वार पूजा के गीत :

“आपन खोरिया बहार हो कवन बाबा,
आइ गइले दुलहा दमाद ए बाबा।”

डाल पूजा (गुरहस्ती) के गीत :

99आइ गइले डाल दउरी, आइ गइले माथ मउरी।
अरे माइ आइ गइले धिया के सोहाग।”

कन्यादान के गीत :

“जोड़ल पराया संगे प्रीतिया के तार हो,
आज तू उतरल ए पापा सिरवा के भार हो।”

विदाई के गीत :

॥ शोधार्थी की कलम से ॥

“हम दे रहे हैं तन के कलेजा निकाल के
प्रिय बेटी को रखना ओ! प्रियवर संभाल के”

स्त्रियों द्वारा हर रस्मों के अलग-अलग गीत हमारी
भारतीय परम्परा और सभ्यता को दर्शाते हैं कि हमारी
संस्कृति किस प्रकार आज भी प्रौढ़ बनी हुई है।

(ख) गाथा गीत या लोक गाथा : देश के
प्रचलित विभिन्न अंचलों में प्रसिद्ध राजाओं के जीवन
संघर्ष, उनके द्वारा किए युद्ध तथा उनके किए अनेक
कार्यों पर आधारित गीत लोकगाथा के अंतर्गत आते
हैं, जिसमें आल्हा, सलहेस, बाउल आदि गीत प्रमुख
हैं।

आल्हा गीत बुंदेलखंड के दो भाइयों आल्हा और
ऊदल की वीरता की कहानियों को बताता है। जिसके
बोल हैं—

“आल्हा-ऊदल बड़े लड़ैया, चम-चम चमक रही
तलवार।

मची खलबली रण में भारी, होने लगे वार पर
वार।।”

सलहेस एक मालिन प्रेमी सलहेस और उसके एक
शत्रु के बीच झगड़े पर आधारित लोक गाथा है,
जिसके भाव व्यक्त हैं—

“भेल भिनसरवा ठाढ़ि दरबाजा गै मालिनी कर
जोरि मनती करै छथि देव मुनिक नाम,

सुनु इन्द्रासन छपन कोटि देवता जे इन्द्र जनम
देलैन्हि छठि राति सोइरीघर में ताहि दिन लिखि देल
सलहेस सन बर।”

बाउल बंगाल प्रांत के लोकगायकों का एक प्राचीन
गान है जिसका मुख्य उद्देश्य जीवन में सादगी और
प्रेम को बढ़ावा देना है। गीत की पंक्तियाँ हैं—

“तुम्हारी बांसुरी में सौंदर्य का संगीत नहीं हो
सकता,

यदि तुम्हारा आनंद मेरे प्रेम में न होता”

(ग) पर्व गीत : ऐसे गीत जो भारतीय पर्व त्योहारों

पर आधारित होते हैं, वे पर्व गीत कहे जाते हैं। इन
गीतों में पर्वों के अलावा भारतीय परम्परा की झलक
साफ-साफ दिखाई पड़ती है। इनमें फगुआ, छठ,
पचरा, देवी गीत, कजरी आदि जैसे गीतों को प्रमुखता
प्राप्त है।

फगुआ : रंगों के त्यौहार होली में गाए जाने वाले
गीत फगुआ कहे जाते हैं। इसमें गाँव के लोग अपने
मोहल्ले आदि में जाकर एक दूसरे के दरवाजे पर
फगुआ गाते हैं। एक गीत के बोल हैं—

“गोरिया करी के शृंगार
अंगना में पिसेली हरदिया”

होली केवल धरती पर ही नहीं बल्कि देव लोक में
भी मनाई जाती है। भगवान शंकर किस प्रकार अपनी
होली मना रहे हैं इसका एक उदाहरण फगुआ के इस
गीत में देखा जा सकता है—

“खेले मसाने में होली दिगंबर, खेले मसाने में
होली।

भूत पिशाच बटोरी दिगम्बर खेले मसाने में होली।।”

छठ गीत : पूर्वी भारत का महापर्व माना जाने वाला
त्योहार है छठ पूजा। इस त्यौहार की खासियत है कि
इसमें मंत्र की आवश्यकता नहीं होती। पूजा की सारी
विधि गीतों के माध्यम से ही की जाती है। एक गीत
द्रष्टव्य है—

“कोपी कोपी बोलेली छठिय मईया सुन हे सेवक
लोग

मोरे घाटे दुबिया जनम लेले मकरी बसेर लेले हो।।”

इस गीत में छठी मईया अपने सेवक से दुःखी होकर
बोल रही हैं कि हमारे घाट पर दूब जन्म ले लिया है
और मकरी का बसेरा हो गया है।

देवी गीत : भारत में चैत्र और क्वार के महीने में
नवरात्रि का पर्व बृहद स्तर पर मनाया जाता है। इसमें
माँ दुर्गा के रूपों की पूजा पूरे मन और विधि-विधान
से होती है। नवरात्रि पूजन में घर की महिलाएं गीत

॥ शोधार्थी की कलम से ॥

के माध्यम से माँ दुर्गा की आराधना करती हैं, जिसका एक उद्धरण है—

“निमिया के दाढ़ी मईया लावेली झुलुअवा, हो की झूली झूली न

मईया मोरी देबे ली आशीषवा हो की झूली झूली न”

कजरी : सावन का महीना समस्त भारत में शिव पूजन के लिए विशेष माना जाता है। इस महीने में गाँव के हर छोटे-बड़े पेड़ों पर झूले लगाए जाते हैं और परम्परा के अनुसार घर की महिलाएं झूलते समय जिस गीत को गाती हैं उन्हें कजरी कहा जाता है। कजरी मुख्य रूप से उ.प्र. के प्रांतों में अधिक गाई जाती है। कजरी गीत का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

“सखी झूल ल तू असों के सवनवा बा,
फिर नइहर सपनवा बा न”

इस गीत में एक सखी अपनी दूसरी सखी से कह रही है कि ऐ! सखी इस सावन तुम झूला झूल लो क्योंकि इसके बाद शादी हो जाने पर नैहर (पीहर) सपने के समान हो जाता है।

(घ) श्रम गीत : आज से विगत 30 वर्ष पीछे तक श्रम गीत के बोल लगभग हर किसी के घरों में सुनाई पड़ते थे। परन्तु बढ़ती आधुनिकता के कारण अब यह लुप्त होने की दहलीज पर खड़े हैं। किसी भी कार्य को करते समय हमारे घर की प्रौढ़ महिलाओं द्वारा जिस गीत को गाया जाता था, उसे श्रम गीत कहते हैं। इसमें अलग-अलग श्रम के अपने-अपने गीत हैं। जैसे जांत पिसते हुए जंतसारी, खेतों में धान की रोपाई

करते समय रोपनी तथा सोहनी के गीत आदि।

जंतसारी : घर की महिलाओं द्वारा जांत में गेहूँ पिसते समय जिस गीत को गाया जाता है उसे जंतसारी कहा जाता है। ससुराल में सास द्वारा कष्ट दिए जाने पर भावज अपने देवर से किस प्रकार प्रार्थना कर रही है, उसके बोल कुछ इस प्रकार हैं—

“सासु मारे हुथुका, ननदिया पारे गारी हो।
ए चदरिया अलोटवा, हो देवरा हमरो ना।।”

रोपनी एवं सोहनी के गीत : खेतों में धान की रोपाई के समय रोपनहरिन (धान को रोपने वाली स्त्री) द्वारा जो गीत गाए जाते हैं, उन्हें रोपनी एवं सोहनी के गीत कहा जाता है। इसके बोल कुछ इस प्रकार के होते हैं—

“केकरे दुआरे घन बँसवारी
केकरे दुआरे फुलवारी, नैन रतनारी हो
बाबा दुआरे घन बँसवारी
सैया दुआरे फुलवारी, नैन कतनारी हो”

उपर्युक्त दिए गए गीतों के उदाहरण से हमें यह समझना चाहिए कि लोक परम्परा को आज भी अपने अंदर आत्मसात भारतीय लोकगीतों ने ही कर रखा है। किसी भी अवसरों पर गाए गए लोकगीत हमारी अपनी संस्कृति और परम्परा को प्रदर्शित करते हैं। वर्तमान में बढ़ती आधुनिकता के इस दौर में इनका विलुप्त होना हमें अपनी संस्कृति से दूर होने का इशारा करता है। अतः यह हमारा कर्तव्य बनता है कि हम इस परंपरा को आगे जीवंत रखें, जिससे हमारी लोक परम्परा समृद्ध बनी रहे।

स्नातकोत्तर (प्रथम सत्र)
कलकत्ता विश्वविद्यालय (कोलकाता)
मो. : 9038468843
ईमेल - vivekt10763@gmail.com

बुढ़िया और चोर

बहुत साल पहले की बात है। बंगाल के एक गाँव में एक बुढ़िया रहती थी। उसका अपना कोई नहीं था। वह भीख माँगकर अपना गुजारा करती थी। उसके सारे बाल सन की तरह सफेद हो गए थे। चेहरे पर झुर्रियाँ आ गई थीं। कमर झुक गई थी। वह एक लाठी के सहारे घर-घर से भीख माँगकर लाती थी। कभी-कभी वह दूसरे गाँव से भी भीख माँगकर लाती थी। उसे दिखाई भी कम देता था। रात में तो वह बिल्कुल नहीं देख पाती थी।

एक चोर की नजर उस बुढ़ी पर थी। बेचारी जो भी भीख माँगकर लाती, रात में चोर सब समेटकर ले जाता। बुढ़ी ने अगल-बगल के लोगों से पूछताछ की, पर किसी की भी नजर उस चोर पर नहीं पड़ी थी। बेचारी शिकायत करती तो किससे करती? राजा के पास उसे कौन ले जाता? उसने न्याय करने के लिए मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना की।

एक रात चोर जब बुढ़ी भिखारिन का सारा सामान लेकर भाग गया, तो बेचारी दुःखी मन से सुबह-सुबह एक थैला लेकर भीख माँगने निकली। वह थोड़ी ही दूर गई थी कि एक नारियल पेड़ से एक नारियल बुढ़ी के कदमों के पास आकर गिरा। उसने कहा, “ऐ बुढ़ी माँ, मुझे उठाकर अपने थैले में रख लो। हो सकता है, मैं तुम्हारे कुछ काम आ सकूँ।”

बुढ़िया को यकीन नहीं हुआ। यह नारियल भला उसके क्या काम आएगा? परंतु ईश्वर की मर्जी समझकर उसने उसे अपने थैले में रख लिया।

थोड़ा आगे जाने पर उसे मधुमक्खियों का एक छत्ता मिला। छत्ते की मधुमक्खियों ने उससे कहा, “ऐ बुढ़ी माँ! हमें अपने थैले में रख लो। हो सकता है, हम तुम्हारे कुछ काम आ सकें।”

बुढ़ी ने इसे भी ईश्वर की मर्जी समझा और छत्ता समेत मधुमक्खियों को थैले में रख लिया। कुछ दूर जाने के बाद उसने देखा कि एक चाकू मिट्टी पर पड़ा है। बुढ़ी को देखकर उसने कहा, “ऐ बुढ़ी माँ! मुझे अपने थैले में रख लो। हो सकता है कि मैं तुम्हारी कुछ सेवा कर सकूँ।”

बुढ़ी ने सोचा, यह छोटा सा चाकू मेरी क्या सेवा कर पाएगा? लेकिन ईश्वर की मर्जी मानकर उसने उसे भी अपने थैले में रख लिया। थोड़ा और आगे बढ़ने पर एक बिल्ली बुढ़िया की टाँगों से लिपट गई और बोली, “ऐ बुढ़ी माँ, मुझे भी अपने साथ ले चलो। हो सकता है, मैं तुम्हारे कुछ काम आ सकूँ।”

बुढ़ी ने कहा, “हाँ, मेरी नन्ही बिल्ली, हो सकता है तुम मेरी कुछ मदद कर सको।” यह कहकर उसने बिल्ली को भी अपने थैले में रख लिया।

रात को बुढ़ी भिखारिन अपने घर लौटी। सोने से पहले उसने नारियल को गरम चूल्हे के पास रख दिया, ताकि वह कछ नरम हो जाए और सुबह खाया जा सके। मधुमक्खियों के छत्ते को उसने दरवाजे के पास खूँटी में लटका दिया। चाकू को उसने एक तरफ फेंक दिया। बिल्ली खुद उछलकर चूल्हे के करीब सिकुड़कर बैठ गई।

आधी रात को वह शातिर चोर चुपके से बुढ़ी भिखारिन के घर में घुसा। वह धीरे-धीरे चूल्हे की ओर गया, जहाँ हर रात उसे कुछ-न-कुछ भोजन मिल जाता था। अँधेरे में ज्योंही वह भोजन की हाँड़ी टटोलने लगा, बिल्ली ने अपने तेज पंजों से उसपर भरपूर हमला कर दिया। घबराकर उसने भागना चाहा तो फिसलकर चाकू के ऊपर गिर पड़ा, जिससे वह जखमी हो गया। भागने के लिए वह उठा, तो उसका पैर नारियल पर पड़ गया। जिससे उसके पैर में मोच आ गई। मधुमक्खियों को चोर के आने की भनक मिल गई थी। जैसे ही चोर भागने के लिए दरवाजे के समीप आया, मधुमक्खियों ने उस पर हमला कर दिया। दर्द से चोर चिल्लाने लगा। उसकी चीख सुनकर आस-पास के लोग जाग गए और उन्होंने बुढ़िया के घर से उसे रंगे हाथ पकड़ लिया।

बुढ़िया ने चाकू और नारियल को चूमा और बिल्ली तथा मधुमक्खियों के छत्ते को अपने सीने से लगा लिया। पड़ोसी यह सब देखकर हैरान रह गए, पर किसी को इस बात की भनक तक नहीं लगी कि चोर को पकड़वाने में चाकू, नारियल, बिल्ली एवं मधुमक्खियों की क्या भूमिका थी।

टूटा अहंकार

श्री जगन्नाथ जी के दर्शन करने हेतु एक सेठ जी पुरी पहुँचे। उसे अपने धन का बहुत अहंकार था। वे जगन्नाथ जी के महाप्रसाद से भी बड़ा प्रसाद लगाना चाहते थे। वे एक धर्मशाला में ठहरे थे। पंडे उनका बहुत ख्याल रखते, उनकी सारी जरूरतों को पूरा करते। सेठ जी अपने साथ खाने-पीने का सारा सामान लेकर आये थे। उनके साथ नौकर-चाकर, रसोइया सब आये थे। जिस चीज की कमी होती, उसे बाजार से मँगवा लेते।

एक दिन सेठ जी आराम कर रहे थे तभी उनके वंश का पंडा बही लेकर पहुँचा। सेठ ने कहा, “बही हम बाद में देख लेंगे, पहले भगवान के प्रसाद की व्यवस्था कीजिए। मैं एक लाख रुपयों का भोग लगाना चाहता हूँ। आज शाम का भोग-चढ़ावा मेरी ओर से। तुरंत व्यवस्था कीजिए।”

सस्ती का जमाना था। बीस-पच्चीस रुपयों में ही सौ-सवा सौ लोग मजे से भरपेट खा सकते थे। तब पुरी का बाजार उतना बड़ा नहीं था कि लाख रुपयों के सामान खरीदा जा सके। फिर लाख रुपये का भोग खायेंगा कौन? बेचारे पंडा चिंतित हो गये। क्या करे, उसे कुछ सूझ नहीं रहा था। तब वे बड़े पंडा (महाप्रभु का प्रमुख पुजारी) के पास गये। साष्टांग प्रणाम कर अपनी समस्या बतायी। बड़े पंडा ने महाप्रभु

को देखकर कहा, “हे अंतर्दामी! इस मुसीबत से आप ही उद्धार करें। तभी बड़े पंडे की नजर महाप्रभु के लाल सुर्ख होठों पर पड़ी। वे उछल पड़े। उन्हें प्रभु की इच्छा समझ में आ गयी। उन्हें लगा मानों महाप्रभु मुस्कुराकर कह रहे हैं कि बहुत दिनों से ताँबूल नहीं खाया।” बड़ा पंडा सेठ के पास पहुँचे। सेठ ने अहंकार भाव से पूछा, “पंडा जी, प्रभु जी के भोग की व्यवस्था हुई या मेरी मनोकामना अधूरी रह जायेगी?”

बड़े पंडे ने कहा- “आपकी मनोकामना अवश्य पूरी होगी, लेकिन पहले तीनों विग्रहों के लिए तीन ताँबूल की व्यवस्था करवायें।”

सेठ ने प्रश्नवाचक दृष्टि से उनकी ओर देखा तो बोले- “ताँबूल में साधारण चूना नहीं लगता। उन्हें गजमुक्ता से बने चूने वाला ताँबूल चाहिए। पहले ताँबूल खिलायें, बाद में भोग लगेगा।”

सेठ जी घबराये। गजमुक्ता का चूना लगा ताँबूल। वह भी तीन विग्रहों को! उनकी उसकी औकात नहीं थी। उसने जमीन पर सर रखकर कहा- “हे जगन्नाथ जी! मुझे क्षमा कर दें। मेरे लिए आपको ताँबूल देना संभव नहीं। आप जगत के पालनहार हैं। आपकी लीला मैं क्या जानूँ? मैं तो एक तुच्छ प्राणी हूँ। मेरा अहंकार टूट चुका है। मुझे क्षमा करें।”

झारखंड की लोक कथा

छऊ नृत्य

एक बंदर था। वह जितना वीर था, उससे कहीं अधिक नटखट था। एकबार खेलते हुए उसने सूरज की ओर देखा। सूरज उसे भा गया। उसे खिलौना समझकर उसे पाने के लिए उसने जोर की छल्लाँग लगायी। परंतु वह सूरज तक नहीं पहुँच पाया और धरती पर गिर गया। गिरने से उसकी एक पसली टूट गयी। उधर उसकी छल्लाँग देखकर देवता डर गये। उन्हें लगा कि यदि बंदर और जोर से उछलेगा, तो संभव है सूरज तक पहुँच जायेगा और जल जायेगा। उसे ऐसा करने से रोकने के लिए उन्होंने एक उपाय सोचा। वे बंदर के सामने अनेक प्रकार का शृंगार कर उछलते-कूदते हुए शोर करने लगे। बंदर को उनकी उछल-कूद बहुत अच्छी लगी। वह सूरज को पाने की बात भूल गया एवं देवताओं के संग नाचने लगा। कहते हैं कि उसी नृत्य

से छऊ नृत्य का आरंभ हुआ।

(छऊ नृत्य झारखंड का पारंपरिक लोकनृत्य है। इसे छौ नृत्य भी कहा जाता है। झारखंड के सराइकेला में यह सर्वाधिक लोकप्रिय है। इनके अलावा पश्चिम बंगाल के पुरुलिया एवं ओड़िशा के मयूरभंज जिलों में भी यह अत्यंत लोकप्रिय है। त्यौहारों के समय, विशेषकर वसंत ऋतु में अधिकांशतः पुरुष विभिन्न प्रकार के मुखौटे लगाये यह नृत्य करते हैं। कहीं-कहीं नर्तकियाँ भी यह नृत्य करती हैं। यह नृत्य शास्त्रीय हिंदू-नृत्यों तथा प्राचीन जनजातीय परंपराओं का मिश्रण है। इस नृत्य में उत्सव भावना एवं धार्मिक भावना दोनों निहित हैं। पुरुलिया जिले का छऊ नृत्य अपनी सुंदरता और पूर्णता के लिए दुनिया भर में जाना जाता है।

- अतिथि संपादक)

अँजोर : एकान्त श्रीवास्तव की छत्तीसगढ़ी कविताएँ

- डॉ. रितु होता

बहुचर्चित कवि एकांत श्रीवास्तव उत्कट जिजीविषा के कवि हैं। वे कन्हार के लोकजीवन के आत्मीय कवि हैं। एकांत श्रीवास्तव जी की कविताओं में निहित लोकजीवन की गमक ही समकालीन हिन्दी काव्य परिदृश्य में उनकी अलग पहचान बनाती है। आज के मार-काट और शोर-शराबे से भरे जीवन में एकांत का काव्य स्वर हमें लोक जीवन और प्रकृति के बीच वापस बुलाता है।

एकांत श्रीवास्तव का पहला छत्तीसगढ़ी कविता संग्रह 'अँजोर' प्रकाशन संस्थान से सन 2022 में आया है। इस कविता संग्रह में छोटी-बड़ी 42 कविताएँ संकलित हैं। कवि ने पाठकों की सुविधा के लिए कविताओं के हिंदी अनुवाद भी दिए हैं ताकि उनकी कविता सहज संप्रेष्य हो सके। छत्तीसगढ़ी लोकजीवन एकांत की मूलभूत काव्यभूमि है, प्रेरणा का धरातल है। एकांत की कविता में आने वाली लोक-धरती और प्रकृति आभासी नहीं, बल्कि ठोस है। पंत की तरह यहाँ मनुष्य विहीन प्रकृति नहीं है, बल्कि यहाँ लोकांचल की चहल-पहल है।

पिछले दिनों काव्य परिदृश्य में उभरी लोकराग की काव्य प्रवृत्ति को प्रतिष्ठित करने में जिन कवियों का योगदान रहा उनमें एकांत महत्वपूर्ण कवि हैं। एकांत की कविताएँ लोक के सिर्फ उत्सवधर्मी स्वरूप को ही अभिव्यक्त नहीं करतीं बल्कि उसके अभावग्रस्त, कठोर जीवन श्रमशील क्रियाओं और अटूट संघर्ष को व्यक्त करती हैं। उनकी कविता अस्वीकार और निषेध तक ही सीमित न रह कर अपनी रचना प्रक्रिया में आक्रामक किंतु संयमित स्वर के साथ, आज पाषाण में बदलते समाज की आत्मा को स्पंदित करने में अहम भूमिका निभाती हुई, सामाजिक और साँस्कृतिक मूल्यों एवं परंपराओं से गहरा सरोकार रखती हैं। उनकी कविताओं में कोई ठहराव नहीं है। वे आज भी निज नवीन सारगर्भित रचनाएँ बिना किसी दोहराव के रच रहे हैं, क्योंकि उनका लोक से नाभिनाल संबंध है। गांव-घर, खेत-खलिहान,

किसान, मछेरे, कारीगर और शिल्पकार इन सबका जीवन उद्यम और उनके कर्म सौंदर्य को अपनी कविताओं में दर्ज करने के साथ-साथ समाज में हो रहे अनेक सूक्ष्म परिवर्तनों को, उस पर आम आदमी की प्रतिक्रियाओं को एकांत श्रीवास्तव ने अत्यंत सहज एवं मानवीय ढंग से प्रस्तुत किया है।

'कविता' तुलसी का लोकगीत है, सूर की वात्सल्य दृष्टि है, कबीर की फकीरी, मीरा की दीवानगी है। नानक, दादू और रैदास की दैन्य दृष्टि है वहीं कुम्हार, मोची, बढ़ई की कर्मशीलता है। कविता मानव समाज की एकता को प्रतिष्ठित करने का एक साधन है और यही उसकी उपयोगिता है। किसी भी साहित्य की लोकचेतना की मात्रा व गुणवत्ता का निर्धारण इस तथ्य से होता है कि वह अपने समय-समाज की विशिष्टताओं, प्रवृत्तियों और समस्याओं को किस सीमा तक अपने में समाविष्ट करता है।

एकांत की जड़ें एक पिछड़े और अविकसित (अधखिला फूल) राज्य छत्तीसगढ़ के ग्रामीण लोक-अंचल से जुड़ी हुई हैं। स्वयं कवि का निजी जीवन भी अपने आस-पास के लोकजीवन की तरह ही भीषण, संघर्ष, पीड़ा, अभाव और दुःख की त्रासद गाथा है। जहाँ कुछ कवि कविता का जनपद रचते हैं वहीं एकांत जनपद की कविता रचते हैं। वे लोक जीवन के लिए सृष्टि एवं संहार के देवता भगवान शंकर से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

“कल नइ पड़े जीव म / विरक्त रहता है मन,
तड़फथ रहिथे परान / तड़पते रहते हैं प्राण, ओ मोर
नास अउ सिरजन के देव / ओ मेरे नाश और निर्माण
के देव, कर दे नास धरती ले / कर दो नष्ट धरती से,
भूख अउ दुकाल के / भूख और अकाल को, दगा अउ
लबारी के / धोखा और झूठ को, लरई-झगरा के कर
दे नास।” (पंचकोसी, पृ. 145) / लड़ाई-झगड़े को
कर दो नष्ट...”

कवि हृदय के दुःखों से आहत है। वे प्रार्थना करते हैं कि हे ईश्वर इस धरती से, भूख, अकाल, झूठ, धोखाधड़ी और लड़ाई-झगड़े का नाश कर दो जिससे मनुष्यता बची रहे और बचा रहे उसका आदिम प्रेम।

जहाँ त्रिलोचन की कविता में हमें अवध, केदारनाथ अग्रवाल की कविता में बुंदेलखण्ड, नागार्जुन की कविता में मिथिला, मुक्तिबोध की कविता में राजनांदगाँव, विजेन्द्र की कविता में ब्रज की धरती के दर्शन होते हैं, वहीं एकांत श्रीवास्तव की कविताओं में छत्तीसगढ़ के जनपदों के पदचाप साफ सुनाई पड़ते हैं।

कोई भी रचनाकार अपनी जड़ों से जनपद से अलग होकर लोक-जीवन को जीवंत नहीं कर सकता। कविता को वैश्विक होने से पहले जनपदीय होना आवश्यक है, क्योंकि कविता लोकजीवन से ही पोषक रस प्राप्त कर पुष्पित और पल्लवित होती है।

आज की कविता आम आदमी की कविता है अतः आम आदमी के जीवन-चित्र का चित्रण उन्हीं के शब्दों में बोलता हुआ चित्रित किया जाए तो वास्तविकता के अधिक निकट होगा तथा ‘कथ्य’ सहजता से संप्रेषित हो सकेगा।

शब्दों की इस अद्भुत शक्ति को पहचानते हुए एकांत श्रीवास्तव ने लोक-जीवन की अभिव्यक्ति छत्तीसगढ़ की लोकभाषा में की है। लोक जीवन से जुड़े चिर-परिचित शब्द ही उनके ‘कथ्य’ के संवाहक बने हैं। कवि ने मानवीय रागात्मकता की कुल पूँजी को लगभग निचोड़ लिया है। इस काव्य संग्रह में छत्तीसगढ़ के लोक जीवन के जीवंत दर्शन हो रहे हैं। इसे पढ़ते हुए हम भी उन्हीं चरित्रों में गुंथे हुए महसूस हो रहे हैं।

एकांत श्रीवास्तव की यह कृति लोक जीवन के रस से पगी एवं लोकभाषा से सुवासित है जो हमें छत्तीसगढ़ के लोकअंचल के बहाने पूरे देश के लोक सौंदर्य और लोक संघर्ष से परिचित कराती है, जिससे हम सभी लगभग दूर हो गए हैं। नगर अब महानगरों में तब्दील हो गए हैं और गाँव अब शहर बनने की ओर हैं, ऐसे विषम समय में एकांत की कविताएं लोकआस्था और लोकसंस्कृति को बचाए रखने की गुहार लगाती हैं। एकांत के यहाँ

श्रमशील किसान, मजदूर, बढ़ई, कुम्हार, मोची, दर्जी, नाई, मछेरे, गाड़ीवान और लोहार आदि हैं तो वहीं माँ की लोरी, तरबूज, नागकेसर और विष्णुभोग के खेत हैं। वहीं परमुटकी, हरदुलिया, पतंगिया, फूलचुहकी आदि चिड़ियों का गीत भी है। अकाल की त्रासद गाथा है तो वहीं पाहुन, आसाढ़, भादो, मया के जर, मड़ई, चिनहा, मतावर, बंबरी बन, दसना, लुवई, लालभाजी, पंचकोसी, कातिक पुत्री, सुखरू धीवर, सुक्खा नदी आदि लोक जीवन को करीब से दर्शाती कविताएँ हैं जो धीरे-धीरे हमें लोग रंग में रंग जाती हैं और ले जाती हैं ऐक ऐसी दुनिया में जहाँ प्रकृति का सान्निध्य है माँ का प्रेम है भाई बहन का रूठना-मनाना है।

लोकराग के कवि एकांत अपने कविता पियास में कहते हैं—

“फूल के रस ल फूलचुहकी पीथे/ “फूल के रस को फूलचुहकी पीती है, आँसू ल पीथे महतारी / आँसू को पीती है माँ, मइनसे के लहू ल टोनही चुहकते / जादूगरनी पीती मानुष का रक्त, गौंटिया ह पीथे गरीब के पछीना / साहूकार पीता गरीब का पसीना, कोन पानी ल पियँव के / कौन सा जल पियूँ, माढ़ जाए मोरो पियास”- पियास, पृष्ठ-35) / कि बुझ जाए मेरी भी प्यास...”

सामाजिक संघर्ष को दर्शाती यह पंक्तियाँ जिनमें कवि कह रहे हैं कि फूलचुहकी चिड़िया फूलों का रस पीकर प्यास बुझाती है, माँ के हिस्से में आँसू से प्यास बुझाना लिखा है। गाँवों में चुड़ैल जादूगरनी लोगों का खून पीकर प्यास बुझाती हैं तो वहीं साहूकार गरीबों का खून पसीना पीकर प्यास बुझाते हैं। कवि सवाल कर रहे हैं कि मैं कौन सा जल पियुं की मेरी प्यास भी बुझ जाए।

कवि अपने ही सवाल का जवाब देते हुए कहते हैं—

“अंतस के दोना म / “तर जाता यदि एक घूँट पी लेता, मया के पानी / हृदय के दोने में, एक घुटका पी लेतेंव / प्रेम का जल...” त तर जातेंव” पियास, पृष्ठ 36)

एकांत हृदय के दोने में प्रेम का जल पीकर प्यास बुझाना चाहते हैं। प्रेम ही है जो पत्थर होती दुनिया को बचा सकता है। इस विषम समय में जहाँ सब का मूल्य

है सिवाय आदमी के।

वहीं अपनी कविता ‘अँजोर’ में कवि समार्थिक विषमता से उपजी गरीबी और अभाव की पीड़ा का उद्गार करते हैं—

“हमर गांव म तीन कोरी छानी / हमारे गांव में हैं साठ घर, एक कोरी घर म कंडील बरथे / बीस घरों में जलती लालटेन, दू कोरी घर म अंगेठा के अँजोर / चालीस घरों में अंगीठी का उजाला, माटी तेल बर नइ हे पइसा / मिट्टी के तेल के लिए नहीं है पैसा, गौटिया के घर म / साहूकार के घर में, उगे हे चंदा / उगा है चंद्रमा, हमर कर नई हे कोनहो तारा।” (अँजोर, पृष्ठ 130), हमारे पास नहीं कोई तारा...”

कवि कह रहे हैं हमारे गाँव में साठ घर हैं जिनमें से सिर्फ बीस घरों में ही लालटेन जलती है, बाकी के चालीस घरों में अंगीठी से ही रोशनी हो पाती हैं, क्योंकि हम गरीबों के पास मिट्टी तेल खरीदने के भी पैसे नहीं है लेकिन साहूकार के घर में उगा है पूरा चंद्रमा। गरीबों के आसमान में एक सितारा भी नहीं जो उन्हें अंधेरे अभाव के जीवन से बाहर निकाल उनके जीवन में रोशनी करें। यह कविता देश के ‘संवेदनहीन वर्ग’ के चरित्र को उजागर करती है।

‘मनुष्य’ शीर्षक कविता में कवि धर्म की आड़ में दहशत फैलाने वाले लोगों को कह रहे हैं कि चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने के बाद मानव शरीर मिलता है तुम जाति, धर्म की आड़ में मनुष्य की और प्रकृति की हत्या मत करो। तुम भी तो मनुष्य हो, धरती जितनी उनकी है तुम्हारी भी उतनी ही है—

“कतेक चोला बदल के मिले हे ए चोला / कितने चोले बदलने पर मिला है यह चोला, मनुष्य के गीत गाओ / आदमी का गीत गाओ, मनुष्य ल झन मारो / आदमी को मत मारो, मोर जात तोर धरम / मेरी जात तुम्हारा धर्म, मोर देव तोर चऊरा / मेरे देव तुम्हारा चौरा, अइसे अलगाव झन / ऐसे अलगाव मत, धरम ल बचाए बर मनुष्य ल झन मारो। (मनुष्य, पृ. - 163)/ धर्म को बचाने आदमी को मत मारो...”

वहीं अपनी अगली कविता ‘धरती के कल्पवृक्ष’ में

कवि कह रहे हैं कि जिसे तुम सांप्रदायिकता, भूमंडलीकरण, अमानवीयता और साम्राज्यवादी शक्ति के कारण मार रहे हो पीड़ा दे रहो हो वो पत्थर नहीं है—

“पथना नह हे मइनसे / पत्थर नहीं है आदमी, नह हे ढूँढ / नहीं है टूट, ओ धरती के कल्पवृक्ष हे / वह धरती का कल्पवृक्ष है, जागे हे / उगा है, धरतीच्य के कलियान बर / धरती के ही कल्याण के लिए, बांस हे कटही / बांस है कँटीला, फूँकेस त बाँसरी / फूँको तो बाँसुरी, उठायेस त अस्त्र (धरती के कल्पवृक्ष, पृष्ठ-166) / उठाओ तो अस्त्र...”

मनुष्य का जन्म धरती के कल्याण के लिए ही हुआ है। धरती को नष्ट करने के लिए नहीं। यह बांस है कँटीला फूँको तो बाँसुरी है, और उठाओ तो अस्त्र।

“कविता के सौ बरस” शीर्षक किताब में लीलाधर मंडलोई ने कविता की संघर्षशील भूमिका को स्पष्ट व्यक्त किया है— “अब तक के इतिहास में वही कविता समाज के लिए जरूरी हुई है, जो अपने समय और समाज के हाशिए पर रखने वाले पराधीन या पीड़ित जन-समुदाय की यातना के अनुभवों की आवाज बनी और उनके संघर्ष की शक्ति भी।” (मंडलोई लीलाधर, नया ज्ञानोदय विशेषांक कविता के सौ बरस, पृ. - 415)

इस प्रकार एकांत की कविता समकालीन व्यवस्था के षड्यंत्र और उनके बीच फंसे हुए आ आदमी के जीवन-यथार्थ का बयान है।

जनपद के कवि एकांत श्रीवास्तव ने अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से साहित्य जगत में एक नए चरित्र को जीवंत किया है जिसके केंद्र में समस्त लोक और उसमें रहने वाले आमजन। कवि लोक को कविता के केन्द्र में रखकर भारतीय काव्य परंपराओं में सही अर्थ में कविता के प्रतिमान तलाश करने की निरंतर कोशिश करते रहे हैं।

विज्ञान के दौर में देश की मूल प्रकृति डाँवाडोल हो रही है। विश्व-बाजार के दबाव में सभ्यता की नींव हिल रही है। पूँजी की प्रतिष्ठा हो रही है। छल-कपट, बेईमानी, मुनाफाखोरी, कालाबाजारी जैसे उपकरणों से समाज के पूँजीपति आम जनता को लूट रहे हैं। यह धरती अब रहने लायक नहीं रह गई है। यह समस्या दिन प्रतिदिन

॥ पुस्तकायन ॥

बढ़ती ही जा रही है। एकांत अपनी 'बड़ला' शीर्षक कविता में अपने आक्रोश को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

“रिस म बड़ला मारत हे सींग मेड़ म / क्रोध में बैल मार रहा है सींग मेड़ में, अउ अब दंगर-दंगर आवथे / और अब तेज-तेज आ रहा, गांव डाहर / गाँव की ओर, जइसे धरती ल बोह ले हे / जैसे धरती को किया है धारण, दूनों सींग म / दोनों सींग में, जइसे संसार ल / जैसे संसार को, जइसे पटक दिही अभीच्चे / और जैसे पटक देगा अभी, रिस म / क्रोध में, के नह हे ए जग जिए के लइक / कि नहीं है यह दुनिया जीने के लायक...” (बड़ला, पृ. 67)

एकांत श्रीवास्तव का यह काव्य संग्रह 'अँजोर' लोकजीवन की रागमयता और मानवीय जिजीविषा के विभिन्न पहलुओं को उजागर करती है। इन कविताओं में लोक जीवन के सहज ही दर्शन हो जाते हैं जहाँ मड़ई है, कातिक पुत्री, पाहुन, फूल धर के जाना, मया के जर, कलंदर बारी, दसना, दाई के गीत, माटी के घर, जयफूल, लालभाजी, रक्सी, टोटका आदि हमारे मन को भिगो जाती हैं। कभी करुणा से तो कभी प्रेम से तो कभी आश्चर्य से। कवि की हर कविता उन लोक शब्दों को सहेजे हुए है जो आज आम बोल-चाल की भाषा में विलुप्तप्राय हो चुके हैं जिनमें— पथना, घाम रड़चुली, बटकी, दियना, पीरा, ऊसर, चिटरा, रद्दा, डोंगरी, बरना, बड़ला, पियास, खोंधरा, छानी, दुआरी, बुताना, लउठी, नोनी, कथरी, टाँगी, अंतस, जुन्ना, पनही, लुगरा इत्यादि हैं।

बहुआयामी प्रतिभा के धनी एकांत श्रीवास्तव ने अपने समय, समाज और समाज के केन्द्र में बसे आम आदमी का स्वरूपांकन उसके ही लोक शब्द-तेवरों के साथ, उसी के चरित्र को स्वर देकर बड़ी सतर्कता और सार्थकता

से किया है।

समकालीन समाज और जीवन के बदलाव के अनुसार साहित्य के विषय में भी परिवर्तन होता है। कविता की पहली जरूरत भाषा की सिद्धि है। यह सिद्धि कवि को स्रष्टा बनाती हैं। एकांत उन विरले कवियों की श्रेणी में आते हैं, जिन्हें यह जादुई सिद्धि प्राप्त है।

प्रतिष्ठित कवि आलोचक नामवर सिंह कहते हैं— “कविता को बोलचाल की भाषा के निकट लाने का अर्थ केवल बोलचाल के शब्दों को अपनाने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सही मायने में आज के जीवन की धड़कन को व्यक्त करने वाली लय को गहरे स्तर पर पकड़ना है।” इस दिशा में एकांत सफल भी हुए हैं।

एकांत के कवि कर्म में कलापक्ष एवं भावपक्ष अत्यंत समृद्ध एवं सशक्त हैं। उनकी काव्य-भाषा-शैली, अलंकार, बिम्ब, प्रतीकों का संयोजन आदि उनकी भावनाओं का अनुसरण करती है। निःसंदेह एकांत श्रीवास्तव कन्हार के लोकजीवन के कवि हैं। सच्चा साहित्य अपनी प्रकृति में ही लोकधर्मी होता है। वह न लोकजीवन की अवहेलना कर सकता है न लोकभाषा की। एकांत की कविता आम आदमी की पीड़ा को रचनात्मक अभिव्यक्ति देने वाली कविता है। एकांत की छत्तीसगढ़ी कविताएं हमें लोक के और भी निकट ले जाती हैं। प्रत्येक कविता कवि की अग्नि परीक्षा होती है। एकांत श्रीवास्तव का कवि भी इस अग्नि में जलकर भस्म नहीं होता बल्कि तपकर कुंदन बनकर चमकता है। एकांत की कविताएं भाषाओं के बंधनों से मुक्त भावनाओं के उच्चतम स्तर पर पाठकों की आत्मा का संस्पर्श करती हैं। मनुष्य की मुक्ति के लिए और ओस की बूंदों को बचाने के लिए कवि एकांत श्रीवास्तव की कविताएं बारंबार देखी-पढ़ी और सुनी जाती रहेंगी।

व्याख्याता, स्कूल शिक्षा विभाग, छत्तीसगढ़ शासन, रायपुर,
मो. : 9826181552

साहित्य गरिमा की पुरोधा बनती पत्रिका 'मुक्तांचल' के प्रगति पथ मील का पत्थर बनने का शुभ संकेत है। अप्रैल-जून 2024 का अंक विविधपर्णी रचनात्मकता से परिपूर्ण है। आवरण पृष्ठ पर पुष्प का धानी रंग आकर्षित करता है। संपादकीय का भाव साम्य है। 'निराला की कविताओं में विवेकानन्द का भावबोध' एक नया अनुभव है। विनोद साव का 'महात्मा मार्ग' रोचकता से पूर्ण है। 'मुक्तांचल' का वैश्विक परिदृश्य यू.के. के साथ यूरोपीय देशों में भारत भाव की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संरचना से भी संपोषित करता है, यह एक नवीन उपलब्धि है। यह उपलब्धि पाठक को भी संपोषित करेगा। अस्तु, पत्रिका प्रकाशन की अनुशंसा हेतु अनुमोदित!

- डॉ. धूपनाथ प्रसाद

प्राक्तन प्राध्यापक

महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

मो. : 9420063304, ई-मेल : dnpsayal@yahoo.co.in

मुक्तांचल बंगाल से निकलने वाली हिन्दी की प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका है। इसकी संपादक हैं डॉ. मीरा सिन्हा। इसका नया अंक आलोचक रमेश कुंतल मेघ पर केंद्रित है। पत्रिका ने अपने हावड़ा स्थिति दफ्तर पर एक साहित्यिक अड्डा निर्मित किया है जहाँ जनतांत्रिक माहौल में नियमित रूप से गोष्ठियाँ व चर्चा-परिचर्चा आदि का आयोजन होता रहता है।

कोलकाता प्रवास के दौरान आज 17 नवम्बर को मुक्तांचल के इस साहित्यिक अड्डा पर जाने और उसमें शामिल होने का मौका मिला। अनेक पुराने रचनाकार साथियों के साथ नये रचनाकारों से मिलने तथा अपनी रचनाएं सुनाने का मौका मिला।

कविता पाठ करने वाले कवि थे: शैलेंद्र शांत, विमल किशोर, मंजू श्रीवास्तव, सेराज खान बातिश, यशवंत सिंह, महेश जायसवाल, कौशल किशोर आदि। मुक्तांचल से जुड़े अनेक रचनाकारों ने भी कविताएँ सुनाई। साहित्य चिंतक मृत्युंजय श्रीवास्तव ने वर्तमान समय के संकट और खतरों पर अपनी बात रखी। संचालन विनोद यादव ने किया। यह कविता को समर्पित एक सुन्दर और सृजनात्मक शाम थी।

कार्यक्रम के आरंभ में गीतकार शांति सुमन जी को दो मिनट मौन रख कर सभी ने अपना श्रद्धा सुमन अर्पित किया।

कौशल किशोर

दोस्तों,

संवाद के इस दुर्दिन में अगर कोई साहित्यिक संवाद का खुला मंच है, तो बड़ी बात है। हावड़ा के मुक्तांचल साहित्यिक अड्डा हमारे लिए संवाद का आँगन है। डॉ. मीरा सिन्हा जी ने साहित्य के संवाद के लिए अपना धन, समय और स्थान दे रखा है। गुरुवर गीतेश शर्मा के जाने के बाद हमारे लिए ऐसी कोई कोई जगह नहीं थी, इसकी कमी मीरा जी ने पूरी की है। उनकी इस यात्रा में प्रायः पठन-पाठन से जुड़ा हर व्यक्ति शामिल है।

17 नवंबर 24 (रविवार) को लखनऊ से पधारे कवि दंपति कौशल किशोर और विमल किशोर के सम्मान में एक गोष्ठी रखी गई, जहाँ कलकत्ते के कवि कथाकार और अध्यापक-प्राध्यापकों ने अपने संवाद और रचनाओं के संबोधन से देश की... राजनीति में नफरत के कांटों से निकलने का आह्वान किया। खासतौर पर कौशल किशोर की कविताओं में यह भाव बहुत ही प्रखररूप से उभर कर सामने आया...

शुभ्रा उपाध्याय, विवेक लाल, स्वराज पाण्डेय, शैलेन्द्र शांत, प्रिया श्रीवास्तव, महेश जायसवाल, मंजु श्रीवास्तव, विनय मिश्र, यशवंत सिंह, सेराज खान बातिश, मृत्युंजय श्रीवास्तव आदि ने अपनी रचनाओं-संवाद और समीक्षा से मुक्तांचल के मंच से अपने विचार व्यक्त किए। संचालन विनोद यादव ने किया।

- सेराज खान बातिश (कलकत्ता)

साहित्यकारों के सम्मान में मुक्तांचल ने किया साहित्यिक अड्डा का आयोजन

पश्चिम बंगाल में मुक्तांचल द्वारा साहित्यिक अड्डा का आयोजन

विद्यार्थी मंच, मुक्तांचल पत्रिका एवं गाथा प्रकाशन के संयुक्त तत्वाधान में ‘रेवांत पत्रिका’ के संपादक कौशल किशोर व कवयित्री विमल किशोर के लखनऊ से कोलकाता आगमन पर मुक्तांचल पत्रिका की संपादक डॉ. मीरा सिन्हा द्वारा उनके सम्मान में एक ‘साहित्यिक अड्डा’ का आयोजन किया गया। कार्यक्रम की शुरुआत गीतकार डॉ. शांति सुमन जी को दो मिनट मौन रख कर श्रद्धांजलि से हुई।

‘रेवांत पत्रिका’ के संपादक कौशल किशोर ने कहा कि जनतांत्रिक माहौल में नियमित रूप से गोष्ठियों व चर्चा-परिचर्चा आदि का आयोजन होते रहना सुखद है। मुक्तांचल के इस साहित्यिक अड्डा में शामिल होकर पुराने रचनाकार साधियों के साथ ही नए रचनाकारों से मिलने तथा अपनी रचनाएं सुनाने का मौका मिलना आनंदित करता है।

प्रसिद्ध गजलकार सेराज खान बातिश ने कहा कि संवाद के इस दुर्दिन में अगर कोई साहित्यिक संवाद का खुला मंच है, तो बड़ी बात है। हावड़ा का ‘मुक्तांचल साहित्यिक अड्डा’ हमारे लिए संवाद का आंगन है। डॉ. मीरा सिन्हा ने साहित्य के संवाद के लिए अपना धन, समय और स्थान दे रखा है।

हिंदी की प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका ‘मुक्तांचल’

के साहित्यिक अड्डा में कौशल किशोर, विमल किशोर, मंजू श्रीवास्तव, शैलेंद्र शांत, प्रो. शुभ्रा उपाध्याय, सेराज खान बातिश, यशवंत सिंह, प्रिया श्रीवास्तव, डॉ. विजया सिंह, सुशील कुमार पांडेय, प्रकाश त्रिपाठी, प्रिंस मिश्रा ने अपने स्वरचित कविता का पाठ किया। प्रसिद्ध रंगकर्मी महेश जयसवाल ने ‘उठाओ कलम सर कलम हो रहे हैं’ व विवेक लाल ने शानदार गीत का अभिनयात्मक पाठ किया। जनता आदर्श विद्यालय की कक्षा 7वीं के छात्र स्वराज पांडेय ने कविता सुनाई। साहित्य चिंतक मृत्युंजय श्रीवास्तव ने वर्तमान समय के संकट और खतरों पर अपनी बात रखी। प्रो. विनय मिश्र ने मुक्तांचल पत्रिका के विशेषांक ‘रमेश कुंतल मेघ’ जुलाई-सितंबर पर चर्चा की। मुक्तांचल के ‘लोक साहित्य विशेषांक’ अक्तूबर-दिसंबर पर अतिथि संपादक डॉ. पंकज साहा ने बात की। कविता एवं संवाद को समर्पित इस सुंदर और सृजनात्मक शाम में कार्यक्रम का सफल संचालन विनोद यादव ने किया।

इस अवसर पर डॉ. प्रकाश अग्रवाल, विनीता लाल, पद्माकर व्यास, राम नरेश पांडेय, परमजीत पंडित, युवराज राय, बलराम साव, शशि साव एवं अन्य उपस्थित थे।

लोक साहित्य

“लोक-साहित्य एक ऐसा विषय है जिसका सम्यक अध्ययन किये बिना हम किसी देश की सभ्यता एवं संस्कृति, धर्म व रीति-रिवाज, कला और साहित्य, सामाजिक अभ्युदय एवं आकांक्षाओं का सूक्ष्म अवलोकन नहीं कर सकते हैं। शास्त्र सम्मत कला व साहित्य से हमें किसी देश-विशेष की तत्कालीन समुन्नत संस्कृति का आभास भले ही मिल जाये, परंतु अमुक संस्कृति कैसे पनपी, इसका संकेत पाना कठिन कार्य है। जबकि लोक साहित्य के द्वारा यह कार्य सुतराँ सुलभ हो जाता है।”

– डॉ. शंकरलाल यादव

प्रो. इन्द्रनाथ चौधुरी (1936-2024)

प्रोफेसर इन्द्रनाथ चौधुरी राष्ट्रीय ही नहीं अंतरराष्ट्रीय ख्याति के विद्वान व्यक्ति, लेखक, संपादक, अनुवादक एवं कुशल वक्ता थे। वे साहित्य अकादमी के सचिव एवं भारतीय उच्चायोग, लंदन में संस्कृति मंत्री तथा नेहरू सेंटर, लंदन के निदेशक भी थे। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय, उच्च शिक्षा एवं शोध संस्थान, डीबीएचपी, हैदराबाद और बुखारेस्ट विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में पढ़ाया और केंद्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद, जादवपुर विश्वविद्यालय, कोलकाता और जेएनयू, दिल्ली सहित कई अन्य विश्वविद्यालयों में वे विजिटिंग प्रोफेसर रहे। उनकी अनेक पुस्तकें एवं शोध पत्र प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने तुलनात्मक साहित्य, काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र पर हिंदी, बांग्ला एवं अंग्रेजी में किताबें लिखी हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर पर उनकी कुछ पुस्तकें एवं शोध पत्र प्रकाशित हुए हैं। वे भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता के निदेशक (2006-2008) थे एवं सुप्रसिद्ध साहित्य पत्रिका 'वागर्थ' के एक प्रमुख संरक्षक थे। 'तुलनात्मक साहित्य: भारतीय परिप्रेक्ष्य' उनकी अत्यंत लोकप्रिय पुस्तक है।

श्रीमती शारदा सिन्हा (1952-2024)

भोजपुरी की महान लोकगायिका श्रीमती शारदा सिन्हा समस्तीपुर महिला कॉलेज में संगीत की अध्यक्ष थीं। उन्होंने भोजपुरी के अलावा वज्जिका, मगही, मैथिली में विवाह एवं छठ जैसे विशेष अवसरों पर सैकड़ों गीत गाये हैं। 'मैंने प्यार किया', 'हम आपके हैं कौन', 'गैंग्स ऑफ वासेपुर' आदि फिल्मों में उनके गाये गीत काफी लोकप्रिय हुए। उनके गाये छठ गीतों ने उन्हें लोकप्रियता के आसमान पर पहुँचा दिया। केवल राष्ट्रीय स्तर पर नहीं, अंतरराष्ट्रीय स्तर भी उनकी प्रसिद्धि को देखते हुए उन्हें वर्ष 1991 में पद्मश्री एवं वर्ष 2018 में पद्मभूषण पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। उनकी आवाज ने बिहार की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को जीवित रखा है। लगभग 50 वर्षों से उनके गाये गीत देश-विदेश में गूँजते रहे हैं।

डॉ. शांति सुमन (1944-2024)

डॉ. शांति सुमन हिंदी की स्त्री गीतकार, विशेषकर नवगीतकार के रूप में अत्यंत प्रसिद्ध रही हैं। उन्होंने नवगीत को छायावादी कुहेलिका और मध्यवर्गीय मानसिकता से बाहर निकालकर उसमें जनपक्षधरता का नया स्वाद डाला। वे बहुमुखी प्रतिभा संपन्न थीं। उन्होंने गीत, नवगीत के अलावा मुक्तछंद की कविताएँ, उपन्यास एवं समीक्षाएँ भी लिखी हैं। मैथिली उनकी मातृभाषा थी। अपनी मातृभाषा में भी उन्होंने गीतों की रचना की है। मैथिली के अलावा उनके हिंदी गीतों/नवगीतों में लोकजीवन की लय, छंद, मुहावरे एवं लोक शब्दावलि अत्यंत कलात्मक रूप में मिलती हैं।

उस्ताद ज़ाकिर हुसैन (1951-2024)

उस्ताद ज़ाकिर हुसैन एक भारतीय तबला वादक, संगीतकार, तालवादक, संगीत निर्माता और फिल्म अभिनेता थे। उन्हें भारतीय शास्त्रीय संगीत को आगे बढ़ाने के लिए जाना जाता था। 12 साल की उम्र से ही ज़ाकिर हुसैन ने संगीत की दुनिया में अपने तबले की आवाज़ को बिखेरना शुरू कर दिया था। 1973 में उनका पहला एलबम लिविंग इन द मैटेरियल वर्ल्ड आया था। उसके बाद तो जैसे ज़ाकिर हुसैन ने ठान लिया कि अपने तबले की आवाज़ को दुनिया भर में बिखेरेंगे। लगभग 5 दशकों तक उनके तबले की थाप देश-विदेश में गुंजती रही है।

कुशेश्वर (1949-2024)

कवि, कथाकार, नाटककार, ग़ज़लकार और फिल्मों से जुड़े कुशेश्वर का पिछले महीने लंबी बीमारी के बाद देहांत हो गया। उन्होंने अपने सक्रिय रचनात्मक जीवन में प्रायः हर पत्र-पत्रिकाओं में अपनी रचनाओं से हिंदी पाठकों को प्रभावित किया। वे एक साथ कई विधाओं में सक्रिय रहे। उन्होंने कई हिंदी धारावाहिकों और फिल्मों के लिए संवाद और गीत भी लिखे।

इनके अलावा और जिन महान विभूतियों को हमने खोया है, उनके निधन से 'मुक्तांचल' परिवार मर्माहत है और हृदय से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

समीक्षार्थ पुस्तकें प्राप्त हुई			
क्र०	पुस्तक का नाम	लेखक/लेखिका	प्रकाशक
1.	कर्ण महाकाव्य का सौंदर्य सौष्ठव	डॉ. आभा पूर्वे	अंगिका संसद सराय, भागलपुर बिहार - 812002
2.	भगत सिंह और पाश अंधियारे का उजाला	कौशल किशोर	न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन C-515, बुद्ध नगर, इंद्रपुरी, नई दिल्ली - 110012
3.	अन्वीक्षण (लघुकथा संबंधी समीक्षाएँ, आलेख, पत्र)	संतोष सुपेकर	अक्षरवार्ता पब्लिकेशंस 4बी, क्षीरसागर, उज्जैन (म.प्र.)
4.	तारीखें भी कहती हैं कहानियाँ	शैलेंद्र शांत	न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन C-515, बुद्ध नगर, इंद्रपुरी, नई दिल्ली - 110012
5.	जब एक ही घर में रहता है	शैलेंद्र शांत	वेरा प्रकाशन मेन डिग्गी रोड, मदरामपुरा सांगानेर, जयपुर - 302029 (राजस्थान)
6.	अच्छा नहीं लगता	शैलेंद्र शांत	बोधि प्रकाशन सी-46, सुदर्शनपुरा इंडस्ट्रियल एरिया एक्सटेंशन, नाला रोड, 22 गोदाम, जयपुर - 302006
7.	यही तो है जिंदगी (उद्भ्रांत की कविताओं से एक चयन)	हरे प्रकाश उपाध्याय	रश्मि प्रकाशन महाराजापुरम, केसरीखेड़ा रेलवे क्रॉसिंग के पास, कृष्णानगर लखनऊ - 226011
8.	अँजोर (छत्तीसगढ़ी कविताएँ) (हिंदी अनुवाद सहित)	एकान्त श्रीवास्तव	प्रकाशन संस्थान 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली - 110002

लोक साहित्य

“लोक-साहित्य लोक-मानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। यह बहुधा अलिखित ही रहता है और अपनी मौखिक परंपरा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आगे बढ़ता रहता है। इस साहित्य के रचयिता का नाम प्रायः अज्ञात रहता है। लोक का प्राणी जो कुछ कहता-सुनता है, उसे समूह की वाणी बनाकर और समूह में घुल-मिलकर ही कहता है।” - डॉ. रवीन्द्र भ्रमर

इस पार तक...



शारदा सिन्हा

(01 अक्टूबर 1952-24 अक्टूबर 2024)

केलवा के पात पर उगेलन सुरुजमल झाँके ऊँके
हे करेलू छठ बरतिया से झाँके ऊँके
हम तोसे पूछी बरतिया ए बरतिया से केकरा लागी
हे करेलू छठ बरतिया से केकरा लागी
हमरा जे बेटवा पवन ऐसन बेटवा से उनके लागी
हे करेलू छठ बरतिया से उनके लागी
अमरुदिया के पात पर उगेलन सुरुजमल झाँके ऊँके
हे करेलू छठ बरतिया से झाँके ऊँके
हम तोसे पूछी बरतिया ए बरतिया से केकरा लागी
हमरा जे स्वामी पवन ऐसन स्वामी उनके लागी
हे करेली छठ बरतिया से उनके लागी
नरियर के पात पर उगेलन सुरुजमल झाँके ऊँके
हे करेलू छठ बरतिया से झाँके ऊँके
हम तोसे पूछी बरतिया ए बरतिया से केकरा लागी
हे करेलू छठ बरतिया से केकरा लागी
हमरा जे बेटी पवन ऐसन बेटिया से उनके लागी
हे करेलू छठ बरतिया से उनके लागी ।

- छठ गीत

RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020

स्मृति-शेष



डॉ. शांति सुमन
(15 सितंबर 1944-16 नवंबर 2024)

हावड़ा विद्यार्थी मंच (8/2L No. 8053 of 20/3-2014) 6/2/1, आशुतोष
मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा - 711106 द्वारा प्रकाशित एवं गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण द्वारा 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा